भारत की फसलें

लेखक

जयराम सिंह

लेखक—'आधुनिक कृषिशास्त्र' 'कृषिविज्ञान' 'भारत में फलोत्पादन', इत्यादि

१९५८

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता

भूमिका

कृषि पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं किन्तु उनमें से बहुत कम ही ऐसी हैं जो शस्य-विज्ञान (फसलों) पर भारतीय दृष्टिकोण से स्नातक-स्तर या स्नातकोत्तर-स्तर पर कुछ तत्व दे सकें। जो एक-दो हैं भी वे प्रथम तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में नहीं हैं और दूसरे, कृषि के क्षेत्र में होने वाले आधुनिकतम अनुसन्धानों और अन्वेषणों से इतनी अधिक दूर हैं कि विद्यार्थी पुस्तकों की सहायता के आधार पर विषय का सांगोपांग अध्ययन नहीं कर पाते। यद्यपि कृषि सम्बन्धी आधुनिकतम अन्वेषणों और प्रयोगों का विशद विवरण कृषि बुलेटिनों, जर्नल और मैग्जीनों में भरा पड़ा है किन्तु ज्ञान के ये स्रोत विद्यार्थी वर्ग को सरलतापूर्वक उपलब्ध नहीं हो पाते और साधारण किसान तो इनसे पूर्णतया वंचित रह जाते हैं। विद्यार्थियों और शिक्षित कृषकों की ये दुरूहताएँ मुझे समय-समय पर खटकती रही हैं और कुछ विद्यार्थियों तथा कृषि विद्वानों की सम्मतियों से मुझे इस बात की प्रेरणा मिलती रही है कि एक ऐसी पुस्तक का प्रणयन अत्यन्त आवश्यक है जो कृषि स्नातकों तथा शिक्षित कृषकों को शस्य-विज्ञान पर अधिक से अधिक तत्व प्रदान कर सके। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रस्तुत पुस्तक का सृजन किया गया है जिससे कि कृषि प्रेमी शस्य-विज्ञान पर सरलतापूर्वक अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक में उत्तरी और दक्षिणी भारत की लगभग सभी प्रमुख फसलों का विशद् विवरण इस प्रकार से किया गया है कि उनके महत्व, जन्म-भूमि, इतिहास, वितरण, भूमि, जलवायु-विभाजन, उन्नत जातियाँ, वानस्पतिक विवरण, खाद, सिंचाई, निराई-गुड़ाई, कटाई, उपज, उपयोग, रासायनिक विश्लेषण, रोग और कीड़े आदि अंगों पर सन्तुलित प्रकाश पड़ सके। पुस्तक में वर्णित विषयों के साथ-साथ आवश्यक चित्रों का भी समावेश है जिससे पुस्तक की उपयोगिता कुछ अधिक बढ़ जाती है।

अन्त में लेखक अपने मित्र श्री महेन्द्र कुमार श्रीवास्तव के पाण्डुलिपि तैयार करने में किये गये सहयोग का आभार प्रदर्शन करता है। लेखक भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली का भी आभारी है जिसके प्रकाशित बुलेटिनों से पुस्तक के लिए चित्र तैयार करने में सहायता ली गई है। आशा है, पुस्तक कृषि विद्यार्थियों और कृषि प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

धान

(Paddy—Oryza sativa)

विश्व की प्रसिद्ध फसलों में धान का महत्वपूर्ण स्थान है, इसकी खेती विश्व के पर्याप्त भू-भाग पर की जाती है। सम्पूर्ण संसार में अनुमानतः २१ करोड़ एकड़ भूमि में धान उत्पन्न किया जाता है। खाद्यान्न के दृष्टिकोण से यह विश्व के लगभग आधे लोगों का आहार है। विश्व में धान की उपज १० करोड़ ७० लाख टन होती है। भारतवर्ष में भी इस फसल को अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि अकेले चावल ही यहाँ की लगभग ¾ जनसंख्या की उदरपूर्ति का साधन है। चावल की कृषि कब से प्रारम्भ हुई? बहुधा इस प्रश्न पर लोग मौन रह जाते हैं और इतना ही कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि यह फसल अज्ञात काल से उगाई जा रही है। साक्ष्यों से विदित है कि धान का मूलस्थान दक्षिण-पूर्व एशिया है और भारत में यह अनुमानत: ५००० ई० पूर्व भी उगाया जाता था क्योंकि वैदिक युग में हर्षोल्लास के अवसरों जैसे जन्म, विवाह आदि तथा मृतक संस्कार के समय होने वाले धार्मिक कृत्यों में इसका प्रयोग होता था। हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की कई ऋचाओं में चावल का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। धार्मिक कृत्यों में चावल प्रयोग करने की परम्परा अभी समाप्त नहीं हुई अपितु आज भी इसे प्रत्येक हिन्दू गृह में अक्षत रूप में बड़े आदर के साथ प्रयोग किया जाता है।

वितरण—धान मुख्यरूप से एशिया महाद्वीप की एक फसल है क्योंकि लगभग ९५ प्रतिशत चावल दक्षिण-पूर्वी एशिया के चीन, जापान, कोरिया, हिन्द चीन, श्याम, जावा, बर्मा और भारत देशों में उत्पन्न होता है और इन देशों की जनसंख्या मुख्यत: इसी खाद्यान्न पर निर्भर रहती है। एशिया के अतिरिक्त इसे कुछ अन्य देशों में उत्पन्न किया जाता है जिनमें मिश्र, इटली, उत्तरी स्पेन आदि प्रसिद्ध हैं; किन्तु इन देशों में प्राप्त की जाने वाली धान की उपज बहुत थोड़ी होती है। अत: इस फसल के उत्पादन के क्षेत्र के आधार पर इन देशों का कोई अधिक महत्व नहीं। भारतवर्ष में धान की खेती लगभग सभी राज्यों में थोड़ी-बहुत क्षेत्रफल में की जाती है किन्तु आसाम, बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, मद्रास, हैदराबाद, त्रिवांकुर कोचीन और बम्बई में इसे अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है। दक्षिण भारत में समुद्र-तटीय मैदान जहाँ कि भूमि और जलवायु धान के लिए उपयुक्त पड़ती है अन्य स्थलों से अधिक अच्छी पड़ती है। उत्तर भारत में गंगा की घाटी और उसका डेल्टाई प्रदेश इसकी कृषि के लिए सर्वोत्तम सिद्ध हो चुका है। राज्यों के अनुसार धान का क्षेत्रफल और उपज का विवरण देते हुए प्यू और दत्त (Pugh & Datt) ने १९३७-३८ और १९४० ४१ को निम्नांकित सारिणी प्रस्तुत की है।

राज्य	१९३३-३८		१९४०—४१	
	क्षेत्रफल	उपज	क्षेत्रफल	उपज
पश्चिमी बंगाल	२२,२०१ह०ए०	९,०३४ह०टन	२०,७७०ह०ए०	६,०४३ हजार टन
मद्रास	१०,१४१ "	४,८५०	१०,७४४ "	५,१५०
बिहार	९,५१३ "	३,१४४	९,२१० "	२,१३४
उत्तर प्रदेश	७,००४ "	२,०८७	७,२९२ "	१,८०६
मध्य प्रदेश	५,७०४ "	१,५५२	५,८७३ "	१,०९९
आसाम	५,०५६ "	१,७४५	५,४२६ "	१,८०५
उड़ीसा	५,०६० "	१,६२३	५,०९९ "	१,३३९
सिन्ध	१२,३१ "	५१९	१४२० "	५२७
हैदराबाद	९,६२ "	२६८	१२००* "	३६०*
मैसूर	७,०६ "	२२०	७५०* "	२३०*

*अनुमानत:

सारिणी से स्पष्ट है कि धान उत्पन्न करने वाले राज्यों में पश्चिमी बंगाल

आसाम और उड़ीसा का स्थान अग्रगण्य है। तत्पश्चात् मद्रास, बिहार और उत्तरप्रदेश का नाम आता है। आजकल भारत में धान की खेती की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल लगभग ७३० लाख एकड़ है जो देश को कृषि की जाने वाली सम्पूर्ण भूमि का लगभग ३०% है। यह प्रतिशत विश्व के सभी देशों के धान के क्षेत्रफल से अधिक है। ससार में धान की खेती लगभग २१ करोड़ एकड़ में का जाती है जो भारत के धान के क्षेत्रफल के तिगुने से अधिक नहीं है। उपज के विचार से यहाँ प्रतिवर्ष २२० लाख टन धान उत्पन्न होता है जबकि विश्व में धान की वार्षिक उपज १० करोड़ ७० लाख टन है।

धान का क्षेत्रफल उत्पादन और चावल की प्रति एकड़ उपज को आधार मान कर जब हम भारत का विश्व के अन्य धान उत्पन्न करने वाले देशों से सन्तुलन करते है तो हमें स्पष्ट स्थिति ज्ञात होती है जैसा कि नीचे की सारिणी से व्यक्त है।

देश	धान का क्षेत्र (१० लाख एकड़ में) १९३४-४९ का माध्यम	धान का उत्पादन (१० लाख टनों में) १९३४-४९ का माध्यम	चावल की उपज प्रति एकड़ पौंडो में
भारत	७१.५	२१.६	७७२
चीन	४७.७	३३.३	१,५४९
पाकिस्तान	२२.०	७.८	×
इण्डोनेशिया	१२.७	४.७	१,०३४
इण्डोचान	११.३	२.८	७१६
थाईलैण्ड	८.५	३.१	८८८
जापान	७.६	७.७	२,३५२
फिलिपाइन	४.६	१.४	७०३
कोरिया	३.६	२.४	१,९५३
अमेरिका	६.५	२.८	१,३९०
मिश्र	५.०	१.६	१,८९०
इटली	०.८	०.६	२,८३२

उपर्युक्त सारिणी से विदित है कि धान का क्षेत्र भारत में विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है किन्तु इस क्षेत्र के अनुसार धान का उत्पादन और चावल की उपज प्रति एकड़ यहाँ बहुत कम मिल पाती है। निम्नांकित सारिणी में भारत के धान उत्पादित करने वाले राज्यों का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

राज्य	धान का क्षेत्र (१० लाख एकड़ में) १९४८-५१ का माध्यम	धान का उत्पादन (१० लाख टनों में १९४८-५१ का माध्यम	चावल की प्रति एकड़ उपज पौंडों में
बिहार	१३·३	३·३	८२३
मद्रास	१०·३	४·१	१,१३३
पश्चिमी बंगाल	९·६	३·६	१,०२४
उड़ीसा	९·५	२·१	८००
उत्तर प्रदेश	८·९	२·३	८००
मध्य प्रदेश	८·८	२·१	८००
आसाम	३·८	१·६	१,००८
बम्बई	२·९	१·०	१,१७७
हैदराबाद	१·३	·३	७५८
त्रिवांकुर कोचीन	१·१	·३	×
अन्य क्षेत्र	४·१	·५	×

भूमि—धान का पौधा किस स्थान पर सन्तोषजनक उपज दे सकता है यह केवल वहाँ की मिट्टी से ही नहीं निश्चय किया जा सकता अपितु इसके लिए उस स्थान की जल-प्राप्ति की सुविधा पर विचार करना अधिक महत्वपूर्ण है। धान की खेती के लिए भारी भूमि की आवश्यकता होती है चाहे वह चिकनी-दोमट हो या चिकनी किन्तु ऐसी दोमट मिट्टी जहाँ जलप्राप्ति की प्रर्याप्त सुविधा हो, अच्छी पड़ती है। लोगों का कथन है कि यदि चिकनी और चिकनी-दोमट मिट्टयों में जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो तो ये धान की उपज लेने के लिए सर्वोत्तम होती हैं। यह तो सत्य है कि धान की खेती वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ की भूमि पानी से बराबर भरी रक्खी जा सके किन्तु इसके साथ ही उन मिट्टियों में जल-निकास का प्रबन्ध रहना बहुत आवश्यक है क्योंकि इससे फाजिल पानी समय पर निकाला जा सकता है। धान की कृषि विस्तृत क्षेत्र में करने पर भूमि ऐसी ही चुननी चाहिए जिसका अध: तल ऐसी पर्तों का बना हो जिसमें यह गुण हो कि भूमि में अधिक पानी जमा रहने पर भी वह फसल पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने दे क्योंकि पानी के खेत में बराबर जमा रहने से पौधों की जड़ें उपयुक्त विकास नहीं कर पातीं। यही कारण है कि धान के विस्तृत क्षेत्र नदियों के डेल्टाई प्रदेशो या उनकी लाई हुई मिट्टयों से बने तटीय मैदानों में ही फैले हैं। बलुवार भूमि धान के लिए अनुपयुक्त नहीं कही जा सकती;

क्योंकि जैविक खादें (Organic manure) गोबर की खाद या चिकनी मिट्टी की आवश्यक मात्रा से इस भूमि से सन्तोषजनक उपज प्राप्त की जा सकती है। साधारण क्षारीय और साधारण अम्लीय भूमि धान की फसल उगाने और सन्तोषजनक उपज देने में सफल हो चुकी है क्योंकि कई स्थानों पर ऊसर भूमि को सुधारने में इस फसल का प्रयोग किया गया है और उसमें सफलता भी प्राप्त की गई है; किन्तु ऐसा देखा गया है कि धान की अच्छी उपज के लिए हल्की क्षारीय भूमि ही जिसमें नमी बनी रहे, अपेक्षाकृत उत्तम पड़ती है। भूड़ और राकर मिट्टियाँ जो उत्तर प्रदेश में आगरा और बुन्देलखण्ड में पाई जाती हैं इसके लिए बिल्कुल अनुपयुक्त हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धान की कृषि, लगभग प्रत्येक प्रकार की भूमि जिसमें क्षारीय भूमि भी जो अधिक मात्रा में क्षार-पूर्ण हो, सम्मिलित है, की जाती है। काली चिकनी मिट्टी, हल्की बलुआर, कँकरीली या पथरीली, नम अलूवियल, गहरी भूमि या अत्यधिक छिछली भूमि, चूने या क्षारवाली भूमि, कीचड़दार भूमि जिसमें मिट्टी के कण तैरते हुये मे रहते हैं आदि में धान सफलतापूर्वक उगाया जाता है। किन्तु इन समस्त मिट्टियों में चौरस धरातल वाली चिकनी-दोमट भूमि ही सर्वोत्तम सिद्ध होती है जिसमें तालाब या अन्य सिंचाई के साधनों की प्रचुर सुविधा हो। धान को ढालो पहाड़ियों पर सीढ़ी या क्यारियों में भी उत्पन्न किया जाता है। यद्यपि धान के लिए ऐसी भूमि को प्राथमिकता दी जाती है जहाँ वर्षा अधिक मात्रा मे हो अथवा सिंचाई की अधिक सुविधा हो किन्तु इसके साथ ही इसकी ऐसी किस्में भी होती हैं जिन्हें रागी आदि की भाँति शुष्क फसल के रूप में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

जलवायु—धान की अनेक जातियाँ हैं जो भारतवर्ष के दक्षिण में नदियों के डेलटाई प्रदेशों और तटीय-क्षेत्रों से लेकर उत्तर में काश्मीर घाटी के ३००० फीट से ५००० फीट तक ऊँचे स्थानो पर सफलतापूर्वक उगाई जाती है। मैसूर के पठार पर धान की कृषि विस्तृत क्षेत्र में और अच्छी उपज के साथ सफलतापूर्वक की जाती है, जिसकी ऊँचाई लगभग २,००० फीट है। वहाँ इसे वर्ष की लगभग सभी ऋतुओं में उगाया जाता है। कुर्ग के पहाड़ी प्रदेश में जो लगभग ४,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित है, धान की खेती होती है। ऊँचे स्थानों पर तापक्रम के कम हो जाने से फसलों के तैयार होने का समय बढ़ जाता है और वहाँ अल्पकालिक किस्में भी तैयार होने में अधिक समय लेती हैं। भिन्न-भिन्न स्थानो की विभिन्न प्रकार की मिट्टियों,

ऋतुओं तथा जलवायु में पैदा होने के कारण इसकी लगभग ४,००० किस्में केवल भारतवर्ष में उगायी जाती हैं जो नाना प्रकार के वातावरण और तापक्रम सहन करने की क्षमता रखती हैं। किन्तु साधारणतः इसके लिए गर्म स्थान की आर्द्र जलवायु विशेष उपयुक्त होती है। एन० पार्थसार्थी के अनुसार धान एक अर्ध-जलीय पौधा है, इसकी बढ़वार के लिए प्रचुर जल की आवश्यकता होती है। उच्च तापमान और अधिक नमी की स्थिति इसकी बढ़वार के लिए अनुकूल होती है। धान की फसल निम्न तापमान पर सन्तोषजनक नहीं प्राप्त की जा सकती; किन्तु इसकी कुछ ऐसी भी किस्में है जिन्हें शरद काल में उत्पन्न किया जा सकता है। ये किस्में 'बोरो' या 'दलुआ' धान के नाम से सम्बोधित की जाती है। इन्हें नवम्बर-दिसम्बर में बो कर मार्च-अप्रैल में काट लिया जाता है। गर्मी के दिनों में कटने के कारण यह फसल ग्रीष्म कालीन फसल कही जाती है। गर्मी के दिनों में पैदा होने के कारण इसे केवल उन्हीं स्थानों पर उगाया जा सकता है जहाँ सिंचाई की प्रर्याप्त सुविधा हो किन्तु ऐसी सुविधा वाले स्थान बहुत कम हैं। अतः यह फसल सीमित क्षेत्रों में ही उगाई जाती है और इसमें ऐसी ही फसलें सम्मिलित की जाती हैं जो बहुत शीघ्र ही पक कर तैयार हो जाती हैं। ऋतुओं के आधार पर ग्रीष्म कालीन फसल के अतिरिक्त कटने के समय के अनुसार शीतकालीन और शरदकालीन दो अन्य फसलें और होती हैं जिनमें शीत कालीन फसल जिसे 'अमान' फसल भी कहा जाता है, अधिक महत्वपूर्ण है। यह फसल जून-जुलाई में बोकर नवम्बर-दिसम्बर में काटी जाती है। यह एक दीर्घकालिक फसल है क्योंकि इससे बोने के समय से लेकर कटने तक अधिक समय लगता है। तीसरी फसल शरद्कालीन कही जाती है जो मई-जून में बोई जाती है और सितम्बर-अक्टूबर में काटी जाती है, यह फसल 'बयाली', 'औस' या 'कार' आदि स्थानीय नामों से भी पुकारी जाती है। इसमें प्रायः पठारी धान सम्मिलित होते हैं जिन्हें पक कर तैयार होने में तीन माह से ४ माह का समय लगता है। तीनों फसलों का एक ही भूमि से उगाना सम्भव नहीं है किन्तु उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल जैसे अधिक वर्षा वाले राज्यों में इसकी दो फसलें ली जा सकती हैं। आन्ध्र, मद्रास, तथा त्रिवांकुर कोच्चीन में जल की सुविधा तथा मौसम की स्थिति अनुकूल पाकर अल्पकालिक धान की फसल लेने के पश्चात् दीर्घकालिक फसल पैदा की जाती है अथवा दीर्घकालिक फसल पहले लेकर अल्पकालिक बाद में उगाई जाती है। किन्तु यह प्रथा उत्तर प्रदेश, बिहार या पंजाब में प्रचलित नहीं है। यहाँ धान की एक ही फसल उत्पन्न की जाती है; क्योंकि

इन राज्यों में बरसात के अतिरिक्त अन्य ऋतुएँ फसल के अनुकूल नहीं होतीं और दूसरे, यहाँ सिचाई के लिए जल की पर्याप्त मात्रा भी नहीं प्राप्त हो पाती।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, धान एक अर्धजलीय पौधा है और उन्हीं स्थानों पर पैदा किया जा सकता है जहाँ सिन्चाई की अधिक सुगमता हो। भारत मे इसे जहाँ भी उगाया जाता है वहाँ वर्षा की मात्रा का अधिक ध्यान दिया जाता है। धान की खेती ८०″ मे अधिक वर्षा होने वाले स्थानों से लेकर २५-३०″ वर्षा होने वाले स्थानों पर की जाती है। ६०″ से ८०″ वर्षा होने पर धान की फसल को सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती अपितु यह पूर्णरूपेण वर्षा के ही जल पर निर्भर रहती है। ३०″ मे ६०″ वर्षा होने वाले स्थानों पर धान की फसले केवल वर्षा के आधार पर नहीं उगायी जा सकतीं। उसके लिए सिंचाई के कुछ साधनों की उपस्थिति आवश्यक होती है; क्योंकि आवश्यकतानुसार फसल को पानी दिया जा सकता है। इन स्थानों पर धान की फसल छिटकवाँ रूप में नहीं ली जाती अपितु उसे पौद लगाकर तैयार किया जाता है। २५″ मे ३०″ वर्षा होने वाले स्थानों पर धान की ऐसी ही किस्में उत्पन्न की जाती हैं जिनको तैयार होने में अधिक समय नहीं लगता। ऐसी फसलों में पठारी फसलें सम्मिलित होती हैं जो शीघ्र तैयार हो जाने से सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं रखतीं। किन्तु उनके लिए सिंचाई के कुछ साधनों का उपस्थित होना उपयुक्त होता है ताकि अल्पवृष्टि या अनावृष्टि के समय फसल को बचाया जा सके। पानी की आवश्यक मात्रा के अनुसार धान की फसल को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है क्योंकि कुछ किस्में ऐसी हैं जिन्हें निचले स्थानों में जहाँ पानी अधिक उपस्थित रहता है उगाया जाता है और कुछ शुष्क स्थानों पर जहाँ नमी अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह पाती, उगाई जाती हैं। इस प्रकार धान का प्रथम वर्ग आर्द्र और दूसरा शुष्क या पठारी कहा जाता है। आर्द्र धान में दीर्घकालिक किस्में सम्मिलित की जाती हैं जो लगभग ५-६ माह में तैयार होती हैं। इन्हें फसल के खड़े रहने के काल में अधिकाधिक पानी मिलता रहता है। किन्तु शुष्क धान की फसल को पानी की साधारण मात्रा पर ही तैयार किया जा सकता है। इसमें धान की अल्पकालिक किस्में आती हैं जिनके तैयार होने में लगभग ३-४ माह का समय लगता है। आर्द्र और शुष्क फसलों के बीच अर्ध आर्द्र धान की एक तीसरी फसल भी होती है जो उगने के समय कम नमी चाहती है। किन्तु बढ़ाव के समय पानी की प्रचुर मात्रा मिल जाने पर फसल की उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इन फसलों के अतिरिक्त गहरे पानी में उगने वाली धान की एक और किस्म भी होती है जो ६ फीट से लेकर १५-२० फीट गहरे जल में उत्पन्न हो सकती है। ये किस्में तैरने वाली किस्मों के नाम से भी पुकारी जाती हैं, क्योंकि ये पानी की धरातल के बढ़ने के साथ ही बढ़ती जाती हैं और सिरा पानी से ऊपर उठाये रखती हैं। इन्हें बोआई के दिनों में छिटकवाँ विधि से बो दिया जाता है और तत्पश्चात् इनकी कोई देख-भाल नहीं की जाती। अधिक वर्षा होने वाले राज्यों जैसे आसाम और पश्चिमी बङ्गाल में धान की ये किस्में बहुतायत से उगाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और मद्रास में भी इन्हें थोड़े-बहुत क्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है; किन्तु ऐसे क्षेत्र बहुत सीमित हैं। उत्तर प्रदेश में राजभर और सुरहा ताल ऐसी किस्मों की कृषि के लिए प्रसिद्ध हैं।

धान की कृषि अफगानिस्तान की शुष्क घाटियों से लेकर निचले बङ्गाल की चौरस और गर्म भूमि, पश्चिमी और पूर्वी घाट का समुद्र-तटीय डेल्टाई प्रदेश और काश्मीर के पहाड़ी ढाल तक की जाती है। पश्चिमी घाट में जहाँ वार्षिक वर्षा लगभग २००″ तक होती है, धान की मुख्य फसल ली जाती है और वहाँ इसकी अच्छी उपज भी प्राप्त की जाती है। इसे २५″ वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर केवल वर्षा के सहारे उत्पन्न किया जा सकता है जबकि वर्षा का विभाजन उचित रूप में हो। किन्तु १०″ वर्षा वाले स्थानों पर पानी के प्राप्त करने के कृत्रिम साधनों का उपस्थित होना आवश्यक है।

वानस्पतिक विवरण—धान का पौधा, जिसका वानस्पतिक नाम ओराइजा सटाइवा (Oryza sativa) है, ग्रैमिनेसी (Graminaceae) कुल का एक सदस्य है। यह वार्षिक पौधा है जो ऊँचाई में ३ से ६ फीट तक बढ़ता है किन्तु इसकी कुछ ऐसी भी किस्में हैं जो ६ फीट से अधिक ऊँचाई तक जाती हैं। गहरे पानी में उगने वाली धान की किस्में १०-१५ फीट तक बढ़ती हैं किन्तु इनका ठंढल आर्थिक दृष्टि-कोण से कोई मूल्य नहीं रखता। धान के पौधे में एक विशेषता यह होती है कि वह एक ही पौधे से अनेक तने या पुत्तियाँ (Culms) उत्पन्न कर सकता है। पौधों में पुत्तियाँ उत्पन्न करने की शक्ति स्थानान्तरण के पश्चात् अधिक जोरों से देखी जाती है। तने की प्रत्येक पत्तियों के कोण से कलियाँ निकलती हैं जो बढ़कर टिलर (Tiller) बन जाती हैं किन्तु टिलर उत्पन्न करने की शक्ति प्रायः उन्ही कलियों में पाई जाती है जो आधार के निकट होती हैं और जहाँ पोर (Internode) बहुत छोटे

होते हैं। टिलर जो मुख्य तने से निकलते हैं, उसकी अपेक्षा पतले होते हैं और उनमें पत्तियाँ भी कम आती हैं। टिलर को मुख्य तने की प्रारम्भिक शाखा कहा जा सकता है। इस प्रारम्भिक शाखा से यदि द्वितीयक शाखाएँ निकलती हैं तो उनमें अपेक्षाकृत कम पत्तियाँ आती हैं। धान की पत्तियाँ प्रायः खोखली होती हैं परन्तु पोरों के बीच-बीच में जहाँ गाँठे होती हैं वहाँ खोखलापन नहीं होता। जब तना छोटा होता है और उसके पोर भी छोटे-छोटे होते हैं तो उस स्थिति में भी पत्तियाँ खोखली नहीं पाई जातीं।

धान की जड़ें झकड़ा (fibrous) किस्म की होती है जो भूमि में तने के इधर-उधर कुछ दूरी तक फैली होती हैं। ये जड़े शुष्क भूमि में अधिक गहराई तक जाती हैं किन्तु नम भूमि में उथली ही रह जाती हैं। बहुत-सी जड़े तने की प्रथम दो-तीन गाँठों से भी निकलती हैं। निचले स्थानों पर उगने वाले धान की किस्मों के तने की अधिक ऊँचाई तक जड़ें निकलती हैं क्योंकि तना ऊँचाई तक बढ़ कर जब भूमि पर गिर जाता है तो उसकी गाँठो से जड़े निकलती हैं।

धान की पत्तियाँ अपने लिग्यूल (Ligule) की बनावट के आधार पर गेहूँ आदि की पत्तियों से जो उनसे बहुत कुछ समानता रखती है, सरलतापूर्वक पहचानी जा सकती हैं। लिग्यूल का आकार स्केल जैसा होता है जो देखने में शीथ (Sheath) के साथ बना सा लगता है किन्तु वास्तव में यह शीथ और ब्लेड (blade) के जोड़ पर निकला होता है। धान की पत्तियों म लिग्यूल का आकार अन्य अनाज की पत्तियों की अपेक्षा अधिक विकसित और लम्बाई में भी अधिक बड़ा होता है। इसकी लम्बाई साधारणतया १ सें० मी० से अधिक होती है और आकार नुकीला होता है। यह एक सूचर (Suture) द्वारा आधार से सिरे तक दो भागों में विभक्त होता है जिससे इसे पहचानने में सरलता हो जाती है।

धान का इन्फ्लोरेसेन्स (Inflorescence) पैनिकिल (Panicle) होता है जो स्पाइकलेट (Spikelets) से बनता है। स्पाइकलेट एक फूल वाले होते हैं जिसमें ६ क्रियाशील स्टेमेन (Stamens) होते हैं। स्टेमेन के आधार पर धान का फूल अनाज के अन्य फूलों से पृथक किया जा सकता है। फूल में लेमा (lemma) और पैलिया (Palea) उपस्थित होते हैं जिन्हें आकार में समान होने के कारण पहचानना कठिन होता है किन्तु नसों (nerves) की सहायता से इन्हें पहचानने में विशेष कठिनाई नहीं होती है; क्योंकि लेमा में ५ नसें होती हैं; और पेलिया में ३। लेमा और

पेलिया दोनों को संयुक्त रूप में हुल (hull) कहते हैं जिससे चावल ढका रहता है। हुल द्वारा ढके रहने की अवस्था में इसे धान (paddy) के नाम से पुकारा जाता है। लेमा और पेलिया दोनों में टूँड़ (awn) लगे होते हैं किन्तु टूँड़ की उपस्थिति कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि धान की कुछ किस्में ऐसी भी होती हैं जिनमें टूँड नहीं आता। टूँड की उपस्थिति या अनुपस्थिति किस्म के पैतृक गुणों के आधार पर निश्चित होती है. इस पर वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु टूँड़ की लम्बाई अवश्य इससे प्रभावित हो सकती है।

सेचन क्रिया का जहाँ तक प्रश्न है, धान के फूल में प्रायः स्वय सेचन ही होता है, पर सेंचन बहुत सीमित प्रतिशत में होता है क्योंकि इसके अवसर बहुत कम होते हैं। कुछ फूलों में सेचन क्रिया उसी समय हो जाती है जबकि वे खुले नहो होते हैं। इससे कृत्रिम सेचन भी असम्भव हो जाता है। धान की सेंचन क्रियाशीलता उसकी किस्म तथा वातावरण पर निर्भर होती है।

चावल का दाना रूप, आकार, रङ्ग, बनावट आदि के अनुसार अनेक प्रकार का होता है। रङ्ग के अनुसार इसकी किस्म और गुण निश्चित किये जा सकते हैं। हल्के लाल या लालरहित रङ्ग के चावल लाल रंग वाले चावल की अपेक्षा अधिक पसन्द किये जाते हैं। आकार भी चावल के गुण का द्योतक समझा जाता है; क्योंकि उपभोक्ता अधिकतर मुलायम किस्म के चावल ही अधिक पसन्द करते हैं जबकि मिल मालिक या चक्की वाले मोटा धान अच्छा समझते हैं क्योंकि ये मिलों या चक्कियों में बहुत कम टूटते हैं।

विभाजन – धान का पौधा दैहिकी परिवर्तन (Physiological adoptation) के कारण एक-दूसरे से अधिक भिन्न होता है जिससे इसकी अनेक उपजातियाँ पाई जाती हैं। कोपलैण्ड (Copeland) ने इन जातियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए बताया था कि भारत में धान की लगभग ८,००० किस्में पाई जाती हैं किन्तु वास्तव में धान की किस्में इतनी नहीं हैं क्योंकि कुछ किस्में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उगाये जाने के कारण विभिन्न नामों से सम्बोधित की जाती हैं और उन्हें धान की पृथक किस्म समझा जाता है किन्तु सही अर्थ में उनमें कोई अन्तर नहीं होता। नये आँकड़ों के अनुसार किस्मो की यह संख्या ४,००० तक बतलाई जाती है। प्यू और दत्त के अनुसार धान की किस्मों के विभाजन के क्षेत्र में राक्सबर्ग (Roxburgh) प्रथम व्यक्ति था जिसने इस ओर कदम बढ़ाया और यह मत प्रकट किया कि कृषि योग्य धान की

उत्पत्ति भारतीय जंगली धानों से हुई जो उसे मद्रास, उड़ीसा, बंगाल, बर्मा में अराकान के पर्वतीय प्रदेश और कोचीन-चाइना में उगते हुए मिले। उसने धान की किस्मों का विभाजन कृषि करने के ढंग की विशेषताओं पर किया और इस प्रकार अल्पकालिक और दीर्घकालिक दो किस्में निश्चित हुईं। किन्तु राक्सबर्ग का यह विभाजन सर्वमान्य न रहा यद्यपि इनका प्रचलन आज तक है। सन् १८८२ ई० में डूथी और फुलर (Duthie & Fuller) ने उत्तर प्रदेश क धानों का विभाजन किया और उसके तीन वर्ग बनाये। प्रथम वर्ग में उन्होंने अधिक बढ़वार वाले पौधों को सम्मिलित किया जिनके दाने पीले रग के ढक्कन वाले और बालियाँ कुछ झुकी हुई थी। दूसर वर्ग में वे धान सम्मिलित किये गये जा बढ़ाव में कुछ कम, सीधा बालियांयुक्त और गहरे पीले या लाल रग के छिल्के वाले थे। तीसरा और अन्तिम वर्ग उन धानों का है जो बढ़ाव मे बहुत कम ऊँचाइ तक जाते हैं, तने छोटे और सुदृढ़ होते हैं, बालियाँ अर्धरूप में शीथ (Seath) से ढकी रहती है तथा भूसी का रंग कम गहरा या काला होता है। १६१३ ई० में ग्राहम ने मध्यप्रदेश के धानों को दो वर्गों में विभाजित किया। प्रथम, जिसमें वे धान सम्मिलित किये गये जिनकी पत्तियों के शीथ रगीन थे और दूसरे वर्ग में हरे शीथ वाले धान रखे गये। इन दो वर्गों में प्रत्येक में ग्राहम ने दो-दो उपवर्ग निश्चित किये जो दाने के रंग के अनुसार थे। जैसे रंगीन शीथ वाली किस्मों में यदि लाल और धवल दो रंग के धान आते हैं तो इनके ये ही दो उपवर्ग बनेंगे। ग्राहम का विभाजन उपवर्गों तक ही सीमित न रहा वरन् उसने प्रत्येक उपवर्ग को वानस्पतिक गुण, दाने के गुण और स्पाइकलेट के गुण के आधार पर विभाजित किया और इस प्रकार उसी प्रदेश में धान की लगभग १०० किस्में ज्ञात की गईं। धान की किस्मों का यह विभाजन जिस समय भारत में हो रहा था उसी समय विदेशों में भी इसका प्रचलन था। १६१२ में जापान में किक्कवा (Kikkawa) ने पौधों के कृषि सम्बन्धी गुणों और उनके बाह्य रूप के आधार पर धान की कुछ किस्में ढूँढीं। सन् १६३० ई० में सेठी और सक्सेना ने उत्तर प्रदेश के धानों का विभाजन किक्कवा के ही आधार पर करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार छिल्के वाला और छिल्केरहित १३५ किस्में मिलीं।

टूँड़ों की उपस्थिति और अनुपस्थिति पर भी धान का विभाजन किया गया। इस आधार पर प्रथम विभाजन सन् १६२८ ई० में थाडनी और दुर्गादत्त द्वारा सिंध के धानों में किया गया जिससे इसकी टूँड़ वाली (दाढ़ी वाली—(bearded) और बेटूँड़

(beardless) जातियाँ निश्चित हुईं। इन दो वर्गों को तदुपरान्त दाने के रंग—लाल या सफेद दाने के गुण—लम्बे, बारीक या भद्दे, लीफ शीथ के रंग लाल या हरा, अन्दर के ग्लूम (Inner glume) का रंग-लाल काला. सफेद या पीला, अन्दर के ग्लूम के सिरे का रंग, रंग-रहित होना तथा बाह्य ग्लूम का रंगीन या रंगरहित होना आदि आधार पर विभाजित किया गया और इस प्रकार सिन्ध के कुल धान ३५ विभिन्न किस्मों में बँट गये। इस प्रकार का विभाजन सन् १९३२ में मित्रा और गांगौली ने आसाम में सुर्मा घाटी के धानों को विभाजित करने में प्रयोग किया; किन्तु उन्होंने इस विभाजन का आधार बिना भूसी वाले दानों को बनाया और पौधे की बालियों की बनावट, आकार, रूप आदि को भी ध्यान में रखा। इस प्रकार टूँड वाली और बेटूँड़ वाली दो प्रधान जातियाँ बनीं किन्तु इन्हें पुनः जब उपवर्गों में विभाजित किया गया तो इस घाटी के ही धान ९५ विभिन्न जातियो और ७०३ किस्मों के मिले। पूर्वी बंगाल प्रदेश के धानों का विभाजन करते हुए हेक्टर (Hector) और उनके साथियों ने धान की ५४० विभिन्न जातियाँ पाईं। बिहार और उड़ीसा के धानों के विभाजन में काशीराम और चेट्टी सलग्न थे। उन्होंने १९३४ ई० में अपना विभाजन प्रकाशित किया जिसके अनुसार इन प्रदेशों की किस्में संख्या में १२३ मिलीं। इनका विभाजन धान के दाने की बनावट, आन्तरिक ग्लूम के रंग, वाह्य ग्लूम के रंग, वाह्य ग्लूम की लम्बाई, पोरों की लम्बाई, पोरों के रग और बालियों के रंग, दाने के आकार, रूप आदि पर निर्भर था। काशीराम ने बिहार और उड़ीसा के धानों के विभाजन के पश्चात् इकबोटे (Ekbote) के साथ मिलकर पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के वसन्त ऋतु के धानों का विभाजन प्रारम्भ किया। १९३६ में यह विभाजन प्रकाशित भी हो गया जिसके अनुसार ४१ जातियाँ प्राप्त की गईं।

अब तक जितने विभाजन का उल्लेख किया गया, वे समस्त पौधों या दानों की वाह्य आकृति के ही आधार पर निश्चित किये गये थे, किन्तु कुछ विद्वानों ने धान का विभाजन उसके जेनेटिकल (Genetical) और साइटोलाजिकल (Cytological) आधारो पर भी किया। इन विद्वानो में काटो (Kato) और उनके सहायकों का नाम आता है जिन्होने विश्व के धानो को दो किस्मों में विभक्त किया। (१) **जापानिका** (Japanica)—यह धान जापान और कोरिया का मौलिक बताया जाता है। (२) **इण्डिका** (Indica)—धान की यह किस्म चीन, जावा, दक्षिण पूर्वी एशिया और भारतवर्ष की पड़ोसी है जो यहाँ का उष्णकटिबन्धीय जलवायु में उगायी जाती है।

जलवायु के आधार पर इन दोनों किस्मों को शीत कटिबन्धीय और उष्ण कटिबन्धीय भी कहा जा सकता है। ये दोनों किस्में क्रोमोसोम (Cromosome) के आकार और न्यूक्लियर स्ट्रक्चर (Nuclear Structure) के अनुसार एक-दूसरे से काफी असमान होती हैं।

धान की किस्मों के विभाजन के क्षेत्र में जितना भी कार्य अभी तक हुआ है वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक भी विभाजन पूर्ण नहीं है और विद्वानों में इस पर काफी मतभेद है। अतः इस क्षेत्र में खोज करने की आवश्यकता है जिसमे भारत में उगने वाले धान की सम्पूर्ण किस्में उपयुक्त रूप से सम्मिलित की जा सकें। किस्मों के विभाजन के पूर्व धान के पौधे के क्रोमोसोम का गहन अध्ययन आवश्यक है। प्यू और दत्त के अनुसार किसी उपयुक्त स्थान पर 'केन्द्रीय धान अनुसन्धान केन्द्र' की स्थापना होनी चाहिए और तभी यह कार्य अधिक सम्भव हो सकता है जो अब कटक में हो चुका है।

देशी जातियाँ—धान की देशी हजारों जातियाँ पाई जाती हैं। स्थान, रंग, रूप, लम्बाई, मोटाई, छिल्के की बारीकी आदि कई बातों पर इसकी किस्में निर्भर करती हैं। इनके अतिरिक्त बोने और पकने के समय पर भी इनका वर्गीकरण किया जाता है। बारीकी के आधार पर धान की दो मुख्य किस्में होती हैं।

(१) बारीक धान—इसमें हंसराज, रामभोग, बासमती, नाहा, बादशाहपसंद आदि।

(२) मोटे धान—अजी, देहुला, साठी, बक्की, सोधी, समझारा, करसवा आदि।

फसलों के पकने के समय पर धान की चार किस्में होती हैं।

१—जेठी या बोरो।

२—भदई या क्वारी।

३—कतिकहा या कतिकी।

और ४—जड़हन या अगहनी।

जेठी—धान की यह किस्म जाड़े में बोई जाती है। इसके बोने का समय दिसम्बर के पहले हफ़्ते से शुरू होकर जनवरी महीने तक रहता है। यह नीची भूमि में नदियों या तालाबों के किनारे बोई जाती है और जैसे-जैसे पानी सूखता जाता है, खेत बढ़ता जाता है और उसकी रोपाई करते जाते हैं। रोपाई के लिए बेहन किसी ऐसी ही जगह डालते हैं, जहाँ सिंचाई की आसानी से बेहन ३०-४० दिनों में रोप

लगाने योग्य हो जाती है। यह रोपाई धीरे-धीरे होती है क्योंकि खेत का पानी भी धीरे-धीरे सूखता है। खेत में अगर ४″-६″ पानी मौजूद रहे तो रोपाई की जा सकती है। जेठी धान जेठ के महीने में कटते हैं। यह समय १५ अप्रैल से मई के अन्त तक होता है।

भदई—यह किस्म शुरू बरसात में बो कर भादों या क्वार माह में काट ली जाती है। इसीलिए इसे भदई या क्वारी कहते हैं। इसके लिए अधिक पानी की जरूरत होती है और अगर रोज वर्षा होती रहे तो यह ६० दिनों में ही फसल दे देती है। इसे रोपुवाँ नहीं बोते, खेत में पानी लगाकर बीज को छिटक देते हैं। इसे काट कर उसी खेत में रबी की तैयारी करनी शुरू कर देते हैं।

कतिकी—इस किस्म के बीज को शुरू बरसात में या पानी की सुविधा वाली जगह पर बरसात के पहले जून के शुरू में ही बीयड़ में डाल देते हैं। १५ जुलाई या शुरू अगस्त तक यह रोप लगाने योग्य हो जाती है। इसे ऐसी जगह रोपते है जहाँ पानी की कमी न हो। फसल की जड़ में अगर पाना ४″-५″ खड़ा रहे तो अच्छा होता है। यह कातिक के महीने से पकना शुरू कर देती है। यह भदई के साथ ही बोई जाती है किन्तु देर में पकती है।

जड़हन—यह जाति बहुत नम व तर स्थान पर उगाई जाती है। इसकी खेती वही अच्छी उपज देती है जहाँ पानी बरसात के बाद भी देर तक जमा रहे। इसे कतिकी की तरह ही शुरू बरसात में बीयड़ में डालते हैं और जुलाई के अन्त या अगस्त के शुरू में रोप लगा देते हैं। इसके रोप लगाने के लिए चिरैया नक्षत्र ही ठीक माना जाता है। यह देर में पकने वाली जाति है। इसलिए अगहन महीने में अर्थात् १५ नवम्बर से दिसम्बर के पहले हफ्ते तक यह काटी जाती है।

गहरे पानी का धान—इन धानों की किस्मों के अलावा कुछ ऐसी जातियाँ पाई जाती है जो गहरे पानी में उगाई जाती हैं। ज्यों-ज्यों पानी बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ये बढ़ती जाती हैं। इस तरह पौधों की ऊँचाई ५′-२०′ तक हो जाती है। इसमे जैसिरिया, कलौंजी, दुधलची आदि आते हैं। इनको काटने के लिए नावों का प्रयोग किया जाता है। नावों पर मजदूर चढ़ कर पौधों की केवल बालियाँ काट लेते हैं और उन्हें सुखा कर दायँ चला देते है।

धान की कुछ किस्में बाली पर निर्भर करती हैं।

(१) बाहर निकली हुई बाली।

(२) अन्दर रहने वाला बाली।

बाहर निकली हुई बालियों की दो किस्में होती हैं। एक तो वह जिसकी बाली छोटी और सीधी होती है। इसकी भूसी लाली या पीलापन लिये हुए होती है। इसका चावल मोटा होता है। दूसरे किस्म की बाली लम्बी होती है और लम्बाई के कारण झुक जाती है। इसकी भूसी हल्के पीले रंग की होती है। यह बारीक चावल की किस्म है। पहली किस्म में हंसराज, बासमती, बासीफूल आदि हैं और दूसरी में सुम्हरा, रामजियावन आदि हैं।

अन्दर रहने वाली बाली पत्तियों से ढकी रहती है। थोड़ा-सा सींकुर या टूँड़ बाहर को झाँकता हुआ रहता है। इसकी बाली छोटी और मोटी होती है। भूसी मटमैले रंग की होती है। यह मोटा होता है। खाने में अच्छा स्वाद नहीं देता। इसलिए यह सस्ता मिलता है। इसमें साठी मशहूर है।

तिन्नी और पसई नामक दो किस्में होती हैं जो अधिक नम व तर स्थानों में अपने आप उग आती हैं। दलदल मिट्टी में ये अधिक पाई जाती हैं। प्रतापगढ़ या पूर्वी जिलों में यह धान ऐसे ही उग आता है। गरीब लोग इन्हें बटोर कर खाने के काम में लाते हैं। इनकी फसल काटी नहीं जाती। बीजों को पौधों से झाड़ लिया जाता है।

उन्नत जातियां

धान उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में वहाँ के राज्यों के कृषि-विभागों ने धान की अधिक उपज देने वाली कुछ उन्नत किस्में निकाली हैं जो स्थानीय जलवायु और भूमि में सफलतापूर्वक उगायी जा सकती हैं। यद्यपि हमारे कृषक इन उन्नति जातियों से अभी अधिक अपरिचित हैं और इन्हें प्रयोग करने में भी संकोच करते हैं। किन्तु कृषि विभागों की ओर से उन्हें ऐसे बीजों के प्रयोग करने का प्रोत्साहन दिया जा रहा है और इस बात का प्रबन्ध किया गया है कि वे अपने खेत के लिए कृषि विभाग से परामर्श लेकर उन्नत किस्मों का चुनाव कर सकते हैं क्योंकि इन किस्मों के अच्छे बीज के प्रयोग से उत्पादन में १० से १५% तक वृद्धि हो सकती है। उन्नत किस्में केवल चौरस और उर्वर स्थानों के लिए ही नहीं अपितु ऊँची भूमि जहाँ पानी कम देर तक ठहरता है, नीची भूमि जहाँ पानी देर तक ठहरता हो, क्षारीय भूमि या नदी के किनारे की भूमि जहाँ बराबर बाढ़ आदि रहती हो, के लिए भी उपयोगी किस्में निकाली गई हैं और कृषक उन्हें निःसंकोच प्रयोग कर सकते हैं। इन परिस्थितियों

में उगाई जाने वाली धान की उन्नति किस्मों के अतिरिक्त दीर्घकालिक, मध्यम और अल्पकालिक किस्में भी हैं। भारत के विभिन्न राज्यों में वहाँ की परिस्थतियों के अनुसार धान की निम्नलिखित किस्मों के उगाने की सिफारिश की गई है।

आसाम

अल्पकालिक (Early)	मध्यम (Medium)	दीर्घकालिक (Late)
के० एम० जे० डी० १३६-६	के० एम० जे० ए एस० ३	के० एम० जे० एस० सी० ११७७-६
के० एम० जे० एम० ३६-३०	के० एम० जे० ए एस० ४६	के० एम० जे० एस० सी० १० ६४-६७
के० एम० जे० ए एस० ५३६-१४३ (संकर १)		(संकर २) के एम० जे० एस० २२
ठीटा बी० ए० एस० ३६		टीटी० बी० एस० एल०७०
		टीटी० बी० ए०एल० २४०
		टीटी० बी० एस० जी० ३०५८-५१ (संकर)
		एच० बी० जे० बोरो (i) बोरो
		एच० बी० जे० बोरो (ii) टोपा

बाढ़ रोधी	खार रोधी (ग्रीष्मकालीन)
के० एम० जे० एकार-१०८-१	टीटी बी० एएस० ३५
के० एम जे० ए० आर० जी० ३५३-१४८	टीटी बी० एएस० ४८
के० एम जे० ए० आर० जी० ६१४-२५ बी	टीटी बी० एएस० ८६

बंगाल

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
धैराल	नगरा ४१-४४	इन्द्रसाल
भुतमुरी	बड़ कलमकटी ६५	कुमारगोर
दुलार (संकर)	लाटीसाल	झींगासेल
अशकत		भाषमानिक
		पटनई २३

आसरा १०८/१
रघुसाल

बिहार

बाढ़रोधी	अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घ कालिक
बी आर० १४	बी आर० १६	बी आर० १	बी आर० ५
बी आर० १५	बी आर० १७	बी आर० २	बी आर० ६
		बी आर० ३	बी आर० ७
		बी आर० ४	बी आर० ८
		१३/एस०-१६	अमान १११/-एस-१०

उड़ीसा

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
एम० १३६	टी० ५६	टी० ६०
बी० ७६	टी० १४१	टी० १२४२
जे० १	टी० ६०८	बीए एम० ६
बेनी भोग	टी० ६३५	
	टी० ११४५	
	बी ए एम० ३	

बाढ़ रोधी	क्षार रोधी
एफ आर० ४३ बी	डी आई० ४ (ग्रीष्म कालीन)
एफ आर० १३ ए	डी आई० ३ "
	एस आर० २६ बी

मध्यप्रदेश

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
आर० २	आर० ४	आर० ६, आर० ७
आर० ३	आर० ५	आर० ८, आर० १५
क्रास नं० १	आर० १०, आर ११	क्रास नं० १९
	आर० १२	
	क्रास नं० ११६	

मद्रास

भूमि और जलवायु के अनुसार मद्रास प्रदेश को धान की फसल लेने के लिए दो भागों में विभाजन कर लिया जाता है—१. तामिल जिले और २. पश्चिमी समुद्र तट।

बाढ़रोधी	क्षाररोधी	प्रथम फसल 'कार'	तामिल जिले दूसरी फसल 'तलाड़ी' या 'मुख्य पिषनम'	तीसरी फसल 'नवारी' या 'मानावारी'
एम टी यू० १६	एम टी यू० ९	ए एस डी० ८, ए एस डी० १	ए एस डी० ६, को० १२	को० २०, को० १३
पीटी बी० १५	एम टी यू० १५	टीके एम० ६	को० २५, ए एस डी० ५	टीके एम० ६
	पीटी बी० १०	एडी टी० २०	टीके एम १	एडी टी० १२
	को० १३	एडी टी० ३	एडी टी २, एडी टी० ११	एम टीयू० १५
		ए डी टी० ९		
			एडी टी २५ और को० १९	पीटी बी० २

आन्ध्र	शारद	शीत (सार्वा)	बसन्त (ढलुआ)
	एम टी यू० ३	एम टी यू० १, एम टी यू० ५	एस एल ओ १२
	एम टी यू० ४	एम टी यू० ६, एम टी यू० ७	”
	एम टी यू० १७	एम टी यू० १०, एम टी यू० १९	एम टी यू० ९
	एम टी यू० २०	एके पी० ३, एके पी० ४	” १५
	एके पी० १	एके पी० ११, बीए एम० ३ और बीए एम ६ ए ए एल ओ० ११ और एस एल ओ १३	” १६
		बी सी पी० २ और बी सी पी० ४	
		ए स० आर० २६	
		बी जी ई बी० २४	

हैदराबाद

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
एच आर० ८	एच आर० ५	एच आर० ३५
एच आर० १९	एच आर० १२	एच आर० ३८
एच आर० ६७	एच आर० ३३	एच आर० ३९
	एच टी यू० ९	एच टी यू० १९
		आर० डी आर० ४

त्रिवांकुर-कोचीन

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
एम ओ० १	सी० १	यू आर० १९
एम ओ० २	एस आई एएम ३	एडी टी ६७
पी टी बी० १० एसडी० १		

बम्बई

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
पाटनी ६	कोलाबा ५४०	कोलाबा ४२
कोलाबा १८४	कृष्णसाल १	अम्बेमोहर१५७
कादो ६८-१	पनवेल ६१	मुगद १४१
	जिनिआ ३१	वारंगल ४८७
		जिनिआ १४९

पंजाब

उत्तरप्रदेश

अल्पकालिक	मध्यम	दीर्घकालिक
सी एच० १०	टी० ३	टी० ६
एन २२	टी० २१	टी० १७
टी० ४३		टी० २३
टी० १३६		टी० ३६

धान की उन्नत जातियों के अनुसन्धान के लिए उत्तर प्रदेश में कई अनुसन्धान केन्द्र हैं जिनमें नगीना अनुसन्धान केन्द्र अधिक प्रमुख है। यहाँ पर धान अन्वेषण का कार्य अधिकांशतः पश्चिमी तथा मध्य उत्तर प्रदेश एवं रूहेलखण्ड के क्षेत्रों के लिए किया जाता है। नगीना के अतिरिक्त गोरखपुर, पचपेड़वा (जिला गोण्डा) तथा विसुही (जिला मिर्जापुर) भी धान-अनुसन्धान केन्द्र है। गोरखपुर में धान की शीघ्र पकने वाली जातियाँ, जो कुआरी के नाम से विख्यात है पर अनुसन्धान किया जाता है। पचपेड़वा में धान की दीर्घकालिक जातियों पर जिन्हें अगहनी या जड़हन कहते हैं, अनुसन्धान होता है। धान की यह जाति पूर्वी-उत्तर प्रदेश में अधिक परिमाण में उत्पन्न की जाती है। विसुही में धान की उन किस्मों पर अनुसन्धान किया जाता है जो उत्तर प्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी भाग में अधिकता से उगायी जाती हैं। धान की कृषि करने वाला उत्तरप्रदेश का सम्पूर्ण भाग इन्हीं चार क्षेत्रों में विभाजित है जिनमें एक-एक केन्द्र स्थापित हैं। इन केन्द्रों पर अनुसन्धान का मुख्य उद्देश्य राज्य में धान की उपज को अधिकाधिक बढ़ाना है जो केवल इसी आधार पर हो सकता है कि धान की ऐसी किस्में निकाली जायँ जिनकी उत्पादन-शक्ति अधिक हो और वे आर्थिक दृष्टि से भी महत्व की हों। अनुसन्धान का दूसरा उद्देश्य कृषि की वर्तमान पद्धतियों में लाभप्रद परिवर्तन करना है जिसमें सिंचाई, गुड़ाई, निराई, खाद का प्रयोग, रोगी कीटों का नियंत्रण आदि बातें सम्मिलित होती हैं।

उत्तर प्रदेश में धान का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनुसन्धान केन्द्रों पर अनुसन्धान का कार्य बड़ी तीव्र गति से चल रहा है। पिछले पाँच वर्षों में नगीना, गोरखपुर, पँचपेड़वा और विसुही केन्द्रों ने इस ओर अधिक प्रगति की है। ये केन्द्र पंचवर्षीय योजना में स्थापित हो गये थे और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी इन्हें

सम्मिलित कर लिया गया है। नगीना में धान की जापानी तथा भारतीय जातियों का संस्करण कार्य चल रहा है जो अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत है। इन जातियों के ३८ संस्करण अब तक निकाले गये हैं जिन्हें अध्ययन के लिए धान के अन्य अनुसन्धान केन्द्रों पर भेज दिया गया है। जापानी और भारतीय जातियों के अतिरिक्त इस प्रदेश में हेगेरियन और रूसी धान की जातियों के भी साथ संस्करण कार्य चल रहा है। विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त जातियों के अनुसन्धान का प्रयत्न किया जा रहा है जो अनावृष्टि, अल्प वृष्टि अथवा अति वृष्टि के समय की अच्छी उपज दे सकें। उत्तर प्रदेश में अधिकांश क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सिंचाई का कोई प्रबन्ध नहीं है और वहाँ धान केवल वर्षा के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं। अतः ऐसे स्थानों के लिए सूखा सहन करने वाली जातियाँ निकाली जा रही हैं जो कम पानी में भी अच्छी उपज दे सकें। इन जातियों में नगीना २२, नगीना २७, नगीना ३२ साठा, सरया, काली बगड़ी और सफेद बगड़ी तथा गोरखपुर केन्द्र से चुनी गई दो नई किस्में चुनाव ८ व चुनाव ४० अधिक प्रसिद्ध हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेश में, जहाँ की मुख्य फसल धान है और जहाँ असामयिक बाढ़, अतिरिक्त बाढ़ और अनावृष्टि का प्रकोप प्रति वर्ष होता ही रहता है। इन प्राकृतिक प्रकोपों को रोकने की व्यवस्था की जा रहा है। इस क्षेत्र में जड़हन धान या अगहनी धान अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है। तिसुही और पचपेड़वा केन्द्रों पर इस जाति पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है और इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि स्थानीय जातियों की अपेक्षा धान की अच्छी किस्म निकाली जाय।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में राज्य सरकार ने मैदानी क्षेत्रों में धान की उपज वृद्धि के अतिरिक्त पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपज बढ़ाने का कार्यक्रम रखा है और वहाँ कुमायूँ डिवीजन में एक अनुसन्धान केन्द्र खोलने का निश्चय किया है। पर्वतीय क्षेत्रों में धान की कृषि ३,०००-६,००० फी० ऊँचे स्थानों पर सीढ़ीदार (Terracing) खेत बना कर की जाती है। इस क्षेत्र में उन्नत ढंग से खेती करने का कार्य अभी तक नहीं किया गया था किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में इस ओर सक्रिय पग उठाया जायगा।

निचले स्थानों के लिए जहाँ वर्ष के अधिक समय तक पानी जमा रहता है बोरो धान अच्छी उपज देता है। इस जाति के धान उगाने वाले स्थानों का कुल क्षेत्रफल राज्य के धान के कुल क्षेत्रफल (९ लाख एकड़) का नगण्य सा भाग है किन्तु

फिर भी इसे २०,००० से ३०,००० एकड़ में उगाया जाता है। ऐसे स्थान पूर्वी उत्तरप्रदेश, व बुन्देलखण्ड में तालाबों और झीलों के किनारे-किनारे फैले हैं। निचले स्थान ऐसे हैं जहाँ वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में ही पानी अधिक जमा हो जाता है जिससे वहाँ धान के अतिरिक्त अन्न कोई फसल नहीं उगाई जा सकती। केवल कुछ थोड़े से स्थान जैसे बलिया जिले में सुरहा ताल व देवरिया में राजभर ताल ऐसे हैं जहाँ कृषक धान की कुछ जातियाँ उगा लेते हैं। इन जातियों में जैसुरिया और दुलची अधिक प्रसिद्ध हैं जिनमें विशेषता यह है कि ये पानी के स्तर के बढ़ने के साथ ही बढ़ती जाती हैं और उपज भी अच्छी देती हैं।

धान की खेती

धान की खेती दो प्रकार से की जाती है : छिटकवाँ विधि द्वारा (By broad-casting method) और पौद रोपकर या बियड़ लगाकर (By transplanting)। छिटकवाँ विधि द्वारा उगायी गई फसल पौद रोपकर उगायी गई फसल की अपेक्षा कम उपज देती है तथापि भार में छिटवाँ विधि ही अधिक प्रचलित है और देश में धान की फसल के सम्पूर्ण का लगभग ३/४ भाग इसी विधि से उगाया जाता है। इसका कारण यह है कि पौध रोपकर उगायी जाने वाली फसल के लिए खेत में अधिक पानी की आवश्यकता होती है ताकि मिट्टी को गारा (puddled) बनाया जा सके और साथ ही इसके लिए अधिक मजदूरों की भी आवश्यकता होती है जो प्रत्येक स्थान पर सस्ते दर पर सुलभ नहीं होते और न पानी की आवश्यक मात्रा ही सभी स्थानों पर उचित समय पर मिल पाती है।

छिटकवाँ विधि—बीज छिटककर बोई जाने वाली धान की फसल की बोआई के लिए खेत की तैयारी गर्मी के दिनों से ही प्रारम्भ कर दी जाती है ताकि बरसात के प्रारम्भ होते ही फसल बो दी जाय। खेत की तैयारी में गर्मी की एक-दो जुताइयाँ मिट्टी पलटने वाले हल से की जाती हैं और तत्पश्चात् मिट्टी को काफी भुरभुरी बनाने के लिए देशी हल की कई जुताइयाँ की जाती हैं। लगातार जुताइयाँ करने से खेत की भूमि अधिक खुली बन जाती है और भूमि के खर-पतवार तथा हानिकर कीट-पतंगे विनष्ट हो जाते हैं। जब खेत की तैयारी पूरी हो जाती है तो फसल की बोआई कर दी जाती है। कुछ स्थानों पर छिटकवाँ धान जैसे साठी आदि को बोने के लिए खेत में कड़ी वर्षा होने पर पानी संचित किया जाता है और उसी पानी में खेत की जुताई कर मिट्टी को कचड़ा (गारा) बनाया जाता है। जब मिट्टी

भली भाँति गारा बन जाती है तो उसे पाटा दे कर समतल बना लिया जाता है और तत्पश्चात् खेत की बोआई की जाती है। किन्तु यह विधि केवल उन्हीं स्थानों पर अधिक प्रचलित है जहाँ पानी अधिक बरसता है अथवा सिंचाई के साधनों द्वारा अधिक परिमाण में उपलब्ध हो जाता है। अन्य स्थानों पर इसे शुष्क या नम भूमि में ही बोया जाता है। बीज शुष्क भूमि में बोने की अपेक्षा नम भूमि में बोना अधिक लाभप्रद होता है; क्योंकि बोआई के पश्चात् यदि वर्षा कुछ दिनों के लिए टल गई और धूप अधिक तीक्ष्ण होने लगी तो शुष्क मिट्टी में बोये गये बीज भुन जायँगे और उनकी अँकुरण शक्ति समाप्त हो जायगी। किन्तु नम मिट्टी में ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के कम अवसर होते हैं क्योंकि नमी के कारण बोआई के कुछ दिन पश्चात् ही बीज अँकुरित हो जाते हैं।

अच्छी फसल लेने के लिए बीजों का उन्नत किस्म के होने के साथ साथ स्वस्थ और निरोग होना अत्यन्त आवश्क है। स्वस्थ और निरोग बीज मोटे, सुडौल और भारी होते हैं। उनके चुनाव के लिए चलनी से काम लेना चाहिए और उसकी सहायता से उपयुक्त बीज पृथक कर लेना चाहिए। पानी में भिगो कर भी स्वस्थ बीज हल्के और रोगी बीजों से अलग किये जा सकते है; क्योंकि ऐसे बीज पानी में डालने से डूबते नहीं बल्कि ऊपरी धरातल पर आ जाते हैं। बीजों को निरोग बनाने के लिए 'एग्रोसन' नामक एक रसायन अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है जो बीजों में लगे कीटाणुओं को विनष्ट कर देता है। इसकी एक छटाँक मात्रा एक मन बीज के लिए पर्याप्त होती है। जब धान का बीज गारा किये हुए खेत में बोना होता है तो इसके लिए बीज की जरई तैयार की जाती है। जरई के लिए बीज को फटक कर साफ कर लेते हैं और फिर उसे कुछ घन्टे के वास्ते पानी में भिगो देते हैं। जब बीज भली-भाँति भीग जाते हैं तो उन्हें फर्श पर फैलाकर किसी मोटे कपड़े या पुवाल आदि से ढँक दिया जाता है। ढँकने से बीज में अँकुरण शीघ्र होता है। जब बीज अँकुरण हो जाते हैं तो उन्हें साये में सुखा कर खेत में छिड़क देते हैं। ऐसे बीज भीगे होने के कारण खेत में छिड़कते समय ही भूमि पर बैठ जाते हैं।

धान की बोआई तीन प्रकार से की जाती है : (१) बीज को अंकुरित करने के पश्चात् बोना। दूसरे, बीज को उसी प्रकार बोना और तीसरे बीज बीयड़ में उगा कर स्थानान्तरित करना। किन्तु यह तीनों विधियाँ प्रायः उन्हीं स्थानों पर प्रयोग की जा सकती हैं जहाँ धान की शुष्क कृषि के स्थान पर गारा विधि (Puddled culti-

vation) प्रयोग की जाती हो। शुष्क विधि में बोने की दूसरी विधि भी अधिक प्रचलित है। जब धान की बोआई कचड़ा भूमि में की जाती है तो बीजों को बोआई के पूर्व अंकुरित कर लेना अधिक श्रेयस्कर होता है। तीसरी विधि केवल रोपुवा विधि में प्रयोग की जा सकती है।

खेत की तैयारी—जिस खेत में धान की बोआई करनी हो उसकी तैयारी का कार्यक्रम पूर्ववत् निश्चित कर लेना चाहिए। बोआई की चाहे कोई विधि प्रयोग की जाय तैयारी लगभग एक ही होती है। खेतों की तैयारी बोआई अथवा रोपाई के लगभग एक माह अथवा तीन सप्ताह पूर्व ही प्रारम्भ कर दी जाती है। जुताइयाँ देशी अथवा उन्नत हलों से करनी चाहिए। किन्तु देशी हलों के प्रयोग में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि खेत की भूमि किसी भी स्थान पर जुते बिना न रह जाय। उन्नत हलों में मोल्ड बोर्ड (Mould Board) और कल्टीवेटर जिनमें तीन से लेकर छः टाइन लगे हों, अच्छे पड़ते हैं। जुताई करते समय आर-पार की जुताई का अधिक ध्यान रखना चाहिए। आर-पार की जुताई से खेत की भूमि पूर्ण रूप से जुत जाती है। आर-पार की जुताई भूमि में नमी की उपस्थिति के समय करनी चाहिए। किन्तु यदि नमी का अभाव हो तो खेत में मामूली प्रकार की सिंचाई ही कर लेना चाहिए। यदि जुताई वर्षा प्रारम्भ के पश्चात् की जाती है तो सिंचाई करने का कोई प्रश्न ही नहीं होता विशेषकर जुताई का समय अच्छा भी पड़ता है। बुन्देलखड क्षेत्र में जुताई के लिए बक्खर प्रयोग किये जाते हैं। बक्खर भूमि को भुरभुरी बनाने और भूमि में उपस्थित खर-पतवारों के निराकरण में अधिक सहायक सिद्ध होता हैं। जिन स्थानों पर इसका प्रचलन नहीं है वहाँ मिट्टी के ढेलों को तोड़ने के लिए पटेला या रोलर प्रयोग किये जाते हैं। जुताइयाँ कुछ दिनों के अन्तर्गत की जाती हैं। ऐसा करने से खेत के सम्पूर्ण घास-पात का उन्मूलन हो जाता है। जुताइयों की संख्या हल की किस्म के अनुसार चार से छः होनी चाहिए। जब खेत की भूमि पूर्णतः तैयार हो जाती है तो उसकी बोआई कर दी जाती है। बोआई का समय वर्षा प्रारम्भ होने पर ही निश्चित किया जाता है। साधारणतया यह समय जून में होता है। यदि वर्षा समय पर नहीं हुई तो जुलाई के प्रथम सप्ताह तक अवश्य बो देना चाहिए। बोआई की विधि छिटकवाँ होती है। कुछ स्थानों पर जब कि बोआई बड़े पैमाने पर करनी होती है तो बोआई की मशीन काम में लाई जाती है। बोआई की मशीन से बीज एक से २" की गहराई पर गिराये जाते हैं।

रोपुआ धान—अनुभव से ज्ञात किया गया है कि रोपुआ धान की फसल छिटक कर उगाई धान की फसल की अपेक्षा अधिक उपज देती है। अतः कृषकों के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ भी रोपुआ धान उत्पन्न करने की परिस्थितियाँ उपयुक्त हों वहाँ धान छिटक कर कदापि न उगाये जायँ। यह भी ज्ञात किया गया है कि कृषक अधिक उपज के नाम पर बीयड़ में बीज अधिक मात्रा में छिटक देता है और यही सोचता है कि उसे उपज भी अच्छी मिलेगी किन्तु उसका ऐसा सोचना निराधार है। घने बोने के कारण पौधे कमजोर हो जाते हैं और कमजोर पौधे से अधिक उपज की आशा नहीं रक्खी जा सकती। परिणामतः कृषक को अच्छी उपज नहीं मिल पाती उलटे बीज आदि में व्यय ही अधिक पड़ जाता है। अतः उसे चाहिए कि वह बीज की आवश्यक मात्रा ही ले जिससे पौधे स्वस्थ्य तथा दृढ़ उग सकें।

रोपुआ फसल पौद रोप कर उगायी जाने वाली फसल के नाम से भी पुकारी जाती है। इसे इस नाम से केवल इस लिए सम्बोधित किया जाता है कि इसमें बीज सर्वप्रथम पौद अथवा बीयड़ में बोये जाते हैं और जब वे एक निश्चित ऊँचाई के हो जाते हैं तो उन्हे उखाड़ कर धान के स्थायी खेत में रोप देते हैं।

बीयड़ की तैयारी—बीयड़ की भूमि उसी प्रकार की होनी चाहिए जैसा हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है। उसकी तैयारी बोआई के पूर्व ही कर लेनी चाहिए जिससे पौधों का अंकुरण भली भाँति हो सके। उसके लिए खेत की तैयारी निम्न-लिखित ढंग से करनी चाहिए। यदि बीयड़ की भूमि में पहले कोई फसल ली गई हो तो उसकी कटाई के पश्चात् सात-आठ जुताइयाँ की जाती हैं। जुताइयाँ मिट्टी पलटने वाले हल अथवा कल्टीवेटर से ही अच्छी पड़ती हैं। किन्तु आवश्यकता समझकर देशी हल का भी प्रयोग किया जा सकता है। बीयड़ के लिए मिट्टी का भुर-भुरी होना आवश्यक होता है। सुविधा के लिए क्यारियाँ और नालियाँ निर्मित कर लेनी चाहिए। क्यारियों की चौड़ाई चार फीट से अधिक नहीं होनी चाहिए। सिंचाई के लिए उनके चारों ओर एक फीट चौड़ी नाली बना लेनी चाहिए। भूमि को उर्वर बनाने के लिए गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद, पत्तियों की खाद अथवा रासाय-निक खादें भी प्रयोग की जाती है। गोबर की खाद पुरानी और अधिक सड़ी होनी चाहिए। कम्पोस्ट भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। इसकी मात्रा एक एकड़ में छः से आठ टन होनी चाहिए। आन्ध्र और मद्रास राज्यों में खाद के स्थान

पर हरी पत्तियाँ काम में लाई जाती हैं किन्तु इनका प्रयोग उन्हीं बीयड़ों में होता है, जिनमें बीज मिट्टी के गारा करने के पश्चात् बोये जाते हैं।
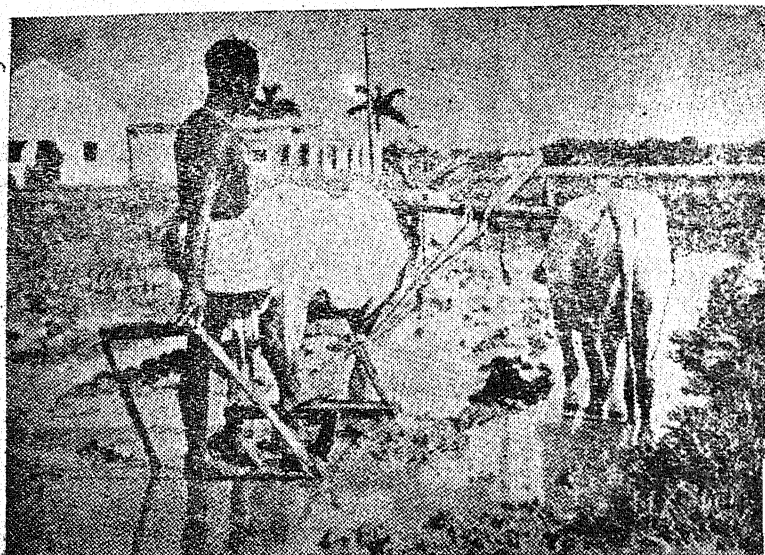
खेत की जुताई (गारा।विधि)—चित्र १

बीयड़ की भूमि दो प्रकार से तैयार की जाती है। प्रथम भूमि को गारा बना कर और दूसरे शुष्क भूमि में। जब बीयड़ प्रथम विधि से तैयार किया जाता है तो खेत में पानी की उपस्थिति अत्यावश्यक होती है। पानी खेत में लगभग २″-३″ तक जमा रहे तो अधिक अच्छा होता है। खेत की जुताई पानी की उपस्थिति में ही की जाती है। जुताइयाँ आर-पार करनी चाहिए ताकि खेत की भूमि कहीं भी बिना जुते न रह जाय। दो जुताइयों के बीच कुछ दिनों का अन्तर रक्खा जाता है। ऐसा करने से भूमि की तैयारी अच्छी हो पाती है और मिट्टी अधिक कचड़ा बन जाती है। कुछ स्थानों पर यह प्रथा है कि बीयड़ में खाद उसी समय डाली जाती है जब कि बीयड़ की भूमि भली भाँति तैयार की जाती है। बीज की बोआई पानी की उपस्थिति ही में की जाती है किन्तु वैसे ही बीज प्रयोग किये जाते हैं जिनमें अंकुर निकल आये होते हैं। शुष्क बीयड़ में प्रथम विधि की भाँति जुताई पानी की उपस्थिति में नहीं

की जाती वरन् इसमें भूमि शुष्क स्थिति में ही जोती जाती है। जुताई के समय भूमि में कुछ-कुछ नमी उपस्थित होनी चाहिए। इससे खेत में बड़े-बड़े ढेले नहीं बनने पाते, बल्कि भूमि भुरभुरी हो जाती है। यदि ढेले उपस्थित हों तो उन्हें तोड़ कर बारीक बना देना अच्छा होता है। घास-पात यदि हो तो निकाल कर खेत से बाहर कर देना चाहिए। जब खेत की मिट्टी भुरभुरी बन जाय तो नालियाँ और क्यारियाँ बना ली जाती हैं। तत्पश्चात् गोबर की अच्छी सड़ी खाद मिट्टी में मिला देते हैं। खाद देने के पश्चात् क्यारियों की सिंचाई कर देते हैं। सिंचाई करके बीज छिटका दिये जाते हैं। बीजों का छिड़काव घना होता है और उन्हें मिट्टी से ढकने के लिए क्यारी में हैरो चलाया जाता है। खाद की एक दूसरी पर्त छोड़ देना लाभप्रद होता है। कुछ स्थानों पर बीजों की बोआई बेगये रूप से की जाती है और बोने के पश्चात् मिट्टी से ढक दिया जाता है तब कहीं सिंचाई प्रारम्भ की जाती है। सिंचाई आवश्यकतानुसार करते रहना चाहिए। सिंचाई करने के लिये नालियाँ पहले ही तैयार कर ली जाती हैं। कुछ स्थानोपर क्यारियों की धरातल बराबर नम बनाने के लिए प्रत्येक दिन सिंचाई की जाती है। अय्यर (Aiyer) ने फिल्ड क्राप आफ इंडिया में मैसूर में धान की खेती का विवरण देते हुए कहा है कि क्यारियों में अंकुरण के पूर्व प्रत्येक दिन पानी देना चाहिए किन्तु जब बीज अंकुरित हो जाय और भली भाँति अंकुरित हो तो दो दिनो में एक बार सिंचााई करनी चाहिए। सिंजाई हाथ द्वारा या हजारे आदि की सहायता से करनी चाहिए। फ्लाडिङ्ग विधि अच्छी नहीं पड़ती।

बीयड़ गारे अथवा शुष्क विधि में किसी विधि से उगाया जाय तो उसका क्षेत्र इस हिसाब से होना चाहिए कि बीयड़ ठीक रूप से रोपने वाले खेत के लिए प्रर्याप्त हों। $\frac{1}{10}$ एकड़ का बीयड़ साधारणतः एक एकड़ के चौथाई अंश की रोपाई के लिए पौधे उत्पन्न करता है किन्तु यह अनुरान सर्वत्र लागू नहीं होता। कुछ स्थानों पर यह अनुपात एक अनुपात दस न हो कर एक अनुपात छः या एक अनुपात आठ भी होता है। प्रायः यह अनुपात बीज के गुण, बोआई के ढंग, रोपाई की दूरी, एक स्थान पर रोपे गये स्थान की मात्रा आदि पर निर्भर करता है। औसत रूप में यह अनुपात एक सम्बन्धित छः होता है। गारे बीयड़ में अंकुरित बीज बोये जाते हैं जिसके लिए बीज बोआई के पूर्व ही इस प्रकार रक्खे जाते हैं कि उनमें अंकुरण हो जाय। शुष्क बीयड़ में शुष्क बीज भी बोये जाते हैं।

अंकुरित बीज तैयार करना—अंकुरित बीज तैयार करने के लिए धान का

बीज पानी में भिगोया जाता है। इसके लिए एक बर्तन लेते हैं और उसमें बीज छोड़ कर पानी इतना उड़ेलते हैं कि पानी का धरातल बीज के ऊपर आ जाय। इसे बर्तन में न भिगो कर बोरो अथवा बाँस की टोकरियों आदि में भिगोया जाता है। बारह से चौबिस घंटे के पश्चात् बीज से पानी निकाल दिया जाता है और बीज को जमीन पर ढेर के रूप में जमा कर दिया जाता है। बीज के ढेर चटाइयों या बोरे से ढक दिये जाते हैं। कुछ स्थानों पर रेंड़ी की पत्तियाँ भी बीजों के ढकने में प्रयोग की जाती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि बीज इससे अच्छे गुण वाले हो जाते हैं। बीजों को ढकने से उन पर सूर्य का प्रकाश अथवा शुष्क हवायें प्रभाव नहीं डाल पातीं और नमी अधिक समय तक बनी रहती है। बीजों को इस स्थिति में दिन भर छोड़ देते हैं, तीसरे दिन इन्हें हटा कर ढेर पर नमी का अध्ययन करते हैं और तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार पानी छिड़क देते हैं। ढेर को भली-भाँति भिगोने के लिये ऊपर से नीचे उलट-पलट दिया जाता है। जब यह क्रिया समाप्त हो जाय बीज को पूर्ववत ढक देते हैं। पत्तियों आदि पर कभी-कभी कुछ वजन भी रख देते हैं। कुछ स्थानों पर गोबर की भुरभुरी खाद और राख की मात्रा भी ढेर के उलटते समय बीजों में मिला दी जाती है। प्रथम ढेर की पलटाई तीसरे दिन फिर करना चाहिए। सम्भवतः इस पलटाई के दूसरे दिन बीजों में अंकुरण भली-भाँति हो जाता है और वे बोआई के लिये तैयार हो जाते हैं। जब शीघ्र अंकुरण की आवश्यकता हो तो बीज घास-पात की डलियों में रक्खे जाते हैं और पानी से बराबर नम बनाते रहते हैं। ऐसा करने से बीज चौथे दिन उग आता है। बीज में अंकुरण की यह प्रथा कुछ स्थानों में प्रचलित है।

बीज की बोआई—रोपुआ धान की खेती में बीज की बोआई छिटक कर बोने वाली विधि के समान हैं। सावधानियाँ रक्खी जाती हैं किन्तु बोआई का ढंग कुछ भिन्न है। बीयड़ की बोआई यदि यांत्रिक ढंग से की जाती है तो उचित समय पर अंकुरित बीज बीयड़ में छिटक दिये जाते हैं। बीज छिटकते समय बीयड़ में लगभग १" पानी खड़ा होना चाहिए। बीज छिटकने के दूसरे दिन बीयड़ का पानी खेत से निकाल दिया जाता है। किन्तु इस समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि छिटके बीज पानी में डूब गये हो और गारा मिट्टी में चिपक गये हों। पानी एक दिन के लिये बाहर निकाला जाता है। फिर दूसरे दिन खेत में १" पानी ला दिया जाता है। यह क्रम लगभग एक सप्ताह या १० दिनों तक जारी रहता है। जब तक कि किशोर

पौधे बड़े न हो जायँ और अधिक सिंचाई सहन करने की शक्ति न पालें। लोगों का ऐसा विचार है कि अंकुरित पौधो में एक सप्ताह के पश्चात् गोबर की खाद अथवा खली की खाद छोड़ देना चाहिए। खाद छोड़ने का कार्य उसी दिन करना चाहिए जब कि खेत का पानी बाहर निकाला गया हो। एक सप्ताह या १० दिन के पश्चात् सिंचाई की मात्रा अधिक कर दी जाती है और पानी खेत में अधिक समय तक पड़ा रहने दिया जाता है। दो सिंचाईयों के मध्य का समय बढ़ा दिया जाता है। तीन सप्ताह पश्चात् जब कि पौधे अधिक बड़े हो गये होते हैं उनकी निराई कर देनी चाहिए। निराई की क्रिया सुविधानुसार हाथ से अथवा यांत्रिक विधि द्वारा किया जा सकता है। प्रारम्भ में हैरो का प्रयोग अच्छा पड़ता है और बाद में हाथ की निराई। पहली निराई में खाद का निश्चित अनुपात भी मिलाया जा सकता है। इसके बाद में गोबर की खाद, खलियों अथवा कृत्रिम खाद, का सफल प्रयोग किया जा सकता है और सिंचाई का करना या बीयड़ का पानी अधिक देर तक रोक देना चाहिए। पहली निराई के पश्चात् प्रायः बीयड़ को खाद की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यदि उनकी आवश्यकता का अनुमान हो तो दूसरी निराई में भी खाद का प्रयोग किया जा सकता है। अन्तिम निराई लगभग तीन महीने पश्चात् की जाती है। इस समय तक पौधों में नये अंकुर तथा टिलर (tiller) निकल आये रहते हैं जिन्हें घास-पातों के निराई के साथ ऊपर से तोड़ दिया जाता है। आवश्यकता समझ कर बीयड़ में पानी जमा कर देना चाहिए। पानी की गहराई ४" रक्खी जा सकती है।

खेत की तैयारी—रोपुआ धानवाले खेत भी लगभग उसी प्रकार तैयार किये जाते हैं जैसा हमने छिटकवाँ विधि में देखा था। पहली फसल की कटाई के पश्चात् भूमि को जोत देना चाहिए और तत्पश्चात् ग्रीष्म ऋतु की जुताई प्रारम्भ करना चाहिए। इस जुताई में मिट्टी के बराबर जुतने से खेत की भूमि यथेष्ट भुरभुरी बन जाती है। भुरभुरी भूमि में हवा की आवश्यक मात्रा प्रवेश करती है और उसका तापक्रम उचित हो जाता है। ट्रेक्स्चर और स्ट्रक्चर के उत्तम होने के साथ ही भूमि में उपस्थित लाभप्रद सूक्ष्म जीवाणुओं की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। जिन स्थानों पर सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था होती है वहाँ हरी खाद का प्रयोग किया जा सकता है। हरी खाद में सनई अथवा ढैंचा अधिक प्रचलित है। इन्हें फसलों के पौधे रोपने से पहले खेत में दबा देना चाहिए। हरी खाद के अतिरिक्त बोआई के समय १५ से २० गाड़ी कम्पोस्ट या घूरे की खाद प्रति एकड़ के हिसाब से छोड़ना

चाहिए। खाद की आवश्यक मात्रा देने से भूमि की उर्वरता बढ़ जाती है और उसमें शोषण शक्ति अधिक आ जाती है। भूमि की नमी-शोषण शक्ति खेत की मेंड़ों को मजबूत बनाकर बढ़ायी जा सकती है। ऊँची और मजबूत मेंड़ों के रहने से खेत में पानी अधिक परिमाण में जमा किया जा सकता है और देर तक स्थिर भी रक्खा जा सकता है। इस मिट्टी को गारा बनाने में अधिक सहायता मिलती है। खेत की जुताई उसी समय की जाता है जबकि खेत में पानी जमा रहता है। जुताई करने से मिट्टी गारा हो जाती है और कचड़ा होकर रोपाई के योग्य बन जाती है। जुताई की क्रिया उन्नत और देशी हलों से करनी चाहिए। प्रारम्भ में उन्नतशील हल अच्छा काम देते हैं। बाद में देशी हल प्रयोग किये जा सकते हैं। एक प्रकार का ऐसा हल निकाला गया है जो भूमि के गारा करने के काम में आ सकता है। इससे ऐसा करने में सुविधा होती है और समय भी कम लगता है। जब खेत की सर्वाङ्गीण तैयारी हो जाती है तो पटेला या चौखटा द्वारा भूमि समतल बना देनी चाहिए।

पौध की देख-भाल—पौधे जब तक पौधघर में रहते हैं उनकी उपयुक्त देख-भाल अवश्य करनी होती है। देख-भाल की अवधि उस समय से प्रारम्भ होगा जब कि मिट्टी में बीज छिटक दिया जाता है। प्रारम्भ होकर उस समय तक रहती है जब तक कि बीयड़ से पौधे निकाल न लिये जायँ। रोपाई की अवधि अल्पकालिक किस्में और दीर्घकालीन किस्मों के अनुसार कम और अधिक होती है। तीन-चार महीनों में पक कर तैयार होने वाली किस्मों में २० से २५ दिन की आयु वाले पौधे स्थानान्तरित किये जा सकते हैं जब कि चार-पाँच महीनों में तैयार होने वाली किस्मों के लिए ३० से ५० दिनों से कम आयु वाली पौध अच्छी नहीं पड़ती। किशोर पौदों की आयु कई अन्य बातों पर भी निर्भर करती है। मिट्टी की उर्वराशक्ति, बीयड़ में दी गई खाद की मात्रा, बीज की युक्तता, कीड़े-मकोड़ों का आक्रमण आदि बातें अधिक महत्व रखती हैं। बीयड़ के शुष्क अथवा गारा करने वाली विधियों में किसी भी प्रकार से तैयार किया गया हो बोने में पौधों का बढ़ाव समान गति से होता है किन्तु शुष्क बीयड़ में दूसरे की अपेक्षा पौधे अधिक समय तक स्थिर रक्खे जा सकते हैं। पौधों के स्थिर रहने पर उनके बढ़ाव और उनकी अवस्था भी निर्भर करता है। पौधों को शीघ्र अथवा देर में स्थानान्तरित करने का समय बीस दिनों से कम नहीं होना चाहिए और न ५० दिनों से अधिक ही। अतः उनके स्थानान्तरित करने के बीस और पचास दिनों के मध्य ही में निर्धारित करना चाहिए। लोगों का ऐसा मत है कि पौधों को

उतने ही सप्ताह पौध-घर में रहने दिया जाय जितने महीने में वे पूर्ण वृद्धि पर आ जायँ। कुछ स्थानों पर दुबारा या तिबारा स्थानान्तरण करने की विधि प्रचलित है। प्रथम स्थानान्तरण में पौधे घने गुच्छों में और निकट रोपे जाते हैं और दूसरे स्थानान्तरण में रोपे गये पौधे अधिक दूर पर किये जाते हैं और उनके गुच्छों की मात्रा भी घटा दी जाती है। तीसरे स्थानान्तरण में दूरी और भी बढ़ा दी जाती है तथा गुच्छे में पौधों की संख्या भी घटा दी जाती है। प्रायः उस समय एक गुच्छे में एक ही पौधा रहने दिया जाता है।

पौधों का स्थानान्तरण—पौधघर में पौधे जब निश्चित आयु के होकर इस ऊँचाई तक बढ़ जाते हैं तो उन्हें भली भाँति तैयार किये गारे खेत में रोप दिया जाता

धान की पौद उठायी जा रही है—चित्र २

है। सिंचाई से दो दिन पूर्व बीयड़ की सिंचाई की जाती है ताकि मिट्टी मुलायम हो जाय और पौधे मिट्टी में से सरलतापूर्वक निकाले जा सकें और उनकी जड़ें क्षति-

ग्रस्त न होने पायँ। पौधे बीयड़ से उसी दिन निकाले जा सकते हैं जिस दिन उनकी रोपाई करनी हो अथवा उस दिन पहले की शाम को निकाल सकते हैं। पौधों को छोटे-छोटे गुच्छों में इस प्रकार निकाला जा सकता है कि वे एक हाथ में आ सकें। एक हाथ से पौधे उखाड़ कर दूसरे हाथ से गुच्छों में बाँध दिये जाते हैं। ऐसा भी किया जाता है कि पौधे दोनों हाथों से उखाड़े जाते हैं और उन्हें मिला कर एक ही साथ बाँध दिया जाता है। पौधों की जो गट्ठियाँ बनायी जाती हैं उन्हें अधिक मोटा नहीं बनाना चाहिए। पौधों की जड़ें धो लेनी चाहिए ताकि उनमें लगी मिट्टी अलग हो जाय। उखाड़े गये पौधे बंडलों में गाड़ी द्वारा अथवा सिर पर रखकर खेत तक पहुँचा दिये जाते हैं। कुछ स्थानों पर यह बंडल कंधों पर भी ढोये जाते हैं। कुछ स्थानों पर ये पौधे मुरझा जाने के पश्चात् रोपे जाते हैं। ऐसा करने से पौधों में लगे कीड़े व अण्डे-बच्चे मर जाते हैं। कुछ स्थानों पर रोपाई के पूर्व पौधे के सिरे काट दिये जाते हैं। किन्तु यह रीति सर्वत्र प्रचलित नहीं है, पौधे के सिरे काट देने से लाभ यह होता है कि स्थानान्तरण के पश्चात् शीघ्र मुरझाने नहीं पाते और उनसे अधिक प्रांकुर भी उत्पन्न होते हैं। बीयड़ में पौधे उखाड़कर जब बोझों में बाँध लिया जाता है तो उन्हें खेत तक किसी साधन द्वारा पहुँचाया जाता है। ये बोझ सभी एक आकार के होते हैं क्योंकि ऐसा न होने से खेत में पौधे की आवश्यकता का अनुमान ठीक-ठीक नहीं लगाया जा सकता। ये बोझ खेत में एक कोने पर रख दिये जाते हैं। खेत में ये बोझ खोल दिये जाते हैं और गुच्छे जिनमें धान के पौधे बँधे रहते हैं, खेत में फैला दिये जाते हैं। इससे रोपाई करने में सरलता हो जाती है। रोपाई स्त्रियों और मनुष्यों दोनों द्वारा की जाती है।

उखाड़ी गई पौध के रखने की अवधि—स्थानान्तरण के लिए बीयड़ से पौधे कब उखाड़े जायँ और रोपाई के लिए उन्हें कितनी देर तक रक्खा जाय, इसका ज्ञान कृषकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बीयड़ से पौधों को शाम को उखाड़ने और दूसरे दिन रोपने की प्रथा अधिक सामान्य है। साधारण कृषक यही विधि प्रयोग करते हैं। कभी-कभी अति वृष्टि अथवा अन्य कारणों से उखाड़े गये पौधे शीघ्र नहीं रोपे जा सकते। ऐसा भी होता है कि पौधे बीयड़ से उखाड़ लिये गये और दूसरे दिन मजदूर न मिलने या रोपे जाने वाले खेत अधिक दूर होने से पौधे के समय पर न पहुँच सकने के कारण रोपे नहीं जा सके। अदुतुराई केन्द्र पर एक छोटे से प्रयोग में यह देखा गया कि पौधे खेत से उखाड़ने के बाद कितने दिनों तक रक्खे जा सकते हैं।

इसके लिए पौधे उखाड़ लिये गये और उसी दिन, दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिन, पाँचवें तथा छठवें दिन रोपे गये। ज्ञात किया गया कि तीसरे अथवा चौथे दिन की रोपाई संतोषपूर्ण नहीं रही किन्तु प्रांकुरों के निकलने की संख्या और लगे पौधो की उत्पादन शक्ति में पाँचवें दिन तक कोई अधिक अन्तर नहीं रहा; किन्तु छठवें दिन रोपे गये पौधों में केवल ५०% ही जड़ पकड़ सके और जो जड़ पकड़ सके उनके टिलर (Tiller) की उत्पादन शक्ति बहुत खराब रही। इस प्रयोग से यह परिणाम निकलता है कि उखाड़े गये पौधों को तीन से पाँच दिन रखने से कोई हानि नहीं। प्रायः स्थानान्तरण का कार्य चार या पाँच दिन के पश्चात् नहीं रोका जा सकता। इसमें फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। चाहे पौधे अधिक होनहार क्यों न हो रोपाई बदली के दिन करना अच्छा होता है, जब कि सूर्य नहीं निकल पाता है। यह मौसम विशेष अच्छा समझा जाता है क्योंकि इस समय लगाए गये पौधे जड़ शीघ्र पकड़ लेते हैं। शुष्क और गरम मौसम में रोपाई करना अच्छा नहीं होता क्योंकि पौधे जड़ बहुत धीरे-धीरे पकड़ते हैं और कुछ ऐसे भी होते है जो जड़ नहीं पकड़ पाते। गरम और तीक्ष्ण धूप वाले दिन पौधों को उखाड़ने से भी उन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, वे शीघ्र मुरझा जाते हैं।

कुछ स्थानों पर उखाडे गये पौधे स्थानान्तरण के पूर्व पका लिये जाते हैं। ऐसा केवल इसलिए किया जाता है कि पौधों में किण्वीकरण (फरमेन्टेशन) द्वारा अधिक ताप उत्पन्न हो और अंडे-बच्चे या छोटे-मोटे हानिकारक कीड़े मर जायँ। इसकी विधि यह है कि धान के उखाड़े गये बोझ गोलाकार ढेर में इस प्रकार जमा कर दिये जाते हैं कि उनकी जड़ें खुली रहे और हरा अंश ढेर में छिपा रहे। पौधे इस स्थिति में तीन या चार दिनो तक छोड़ दिये जाते हैं। पाँचवें दिन पौधे पीले नजर आते हैं, उनका हरा रंग समाप्त हो जाता है और ये बहुत कोमल हो जाते हैं। रोपने के लिए इन्हें एक रात्रिपूर्व ही ढेर से हटा लिया जाता है और रोपे जाने वाले खेत के पानी में एक कोने पर रख दिया जाता है। प्रातःकाल वे रोपाई के लिए तैयार हो जाते हैं।

स्थानान्तरण के पूर्व छँटाई प्रायः उस समय की जाती है जबकि पौधे आवश्यकता से अधिक बढ़ गये होते हैं। छँटाई में जैसा कि ऊपर कहा गया है, पौधे के सिरे का थोड़ा-सा भाग काट लिया जाता है। जब पौधे अधिक बढ़ गये होते हैं तो छँटाई

अधिक की जाती है। ऐसा करने से पौधे में उत्पादन (Transpiration) कम हो जाता है।

प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि स्थानान्तरण के समय पौधे की छँटाई करनी अच्छी नहीं होती। कभी-कभी पौधे जब अधिक छाँट दिये जाते हैं तो कृषक को अधिक हानि उठानी पड़ती है। इसका निर्धारण पौधे के बढ़ाव और खेत में पानी की उपस्थिति पर किया जा सकता है। छँटाई उसी समय लाभप्रद सिद्ध होती है जबकि उन पर किसी कीड़े का आक्रमण हो।

एक स्थान पर रोपे गये पौधों की संख्या—एक स्थान पर कितने पौधे रोपे जायँ यह कुछ विवादग्रस्त है। ऐसा देखा गया है कि पतली रोपाई से पौधे मजबूत और होनहार होते हैं किन्तु ऐसा उन्हीं बीयड़ों में देखा जाता है जिनकी बोआई पतली होती है और पौधे मजबूत होते हैं। ऐसी स्थिति में एक स्थान पर कम पौधे रोपे जाते हैं। रापट ने एक स्थान पर १० से १५ पौधे का गुच्छा रोपने की राय दी है। यह संख्या कभी-कभी ३०-४० भी हो जाती है। रमैया का कथन है कि एक स्थान पर एक पौधा नहीं रोपना चाहिए। उन्होंने आगे कहा है कि एक स्थान पर तीन या चार पौधों से अधिक नहीं रोपे जाते। प्रति स्थान पर पौधों की संख्या निर्धारित करने के लिए आदुतराई (मद्रास) केन्द्र पर एक प्रयोग किया गया। इस प्रयोग में अल्पकालिक फसल ली गई और उसमें ६″ की दूरी पर दो से छः पौधे प्रति स्थान पर लगाये गये। प्रयोग से यह विदित हुआ कि एक स्थान पर जितने ही अधिक पौधे थे, उस गुच्छे की उपज उतनी ही अधिक मिली। एक स्थान पर पाँच से छः पौध रोपने पर प्रति स्थान पौधो के रोपने से २०% की वृद्धि हुई। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि एक स्थान पर एक पौधे की जगह दो या तीन पौधे लगाना अधिक लाभकर होगा किन्तु ऐसा केवल लगभग चार महीनों में होने वाली अल्पकालिक फसलों के लिए ही अच्छा है, दीर्घकालिक फसलों के लिए नहीं। मद्रास में रोपे गये पौधों पर क्रैब (Crab) नामक कीड़े का अधिक आक्रमण होता है। इससे यदि एक स्थान पर एक पौधा लगाया गया होता है तो अधिक हानि होती है। अतः वहाँ एक से अधिक पौधे लगाने की प्रथा है। अय्यर ने एक स्थान पर ३ से १० पौधों (या इससे भी अधिक) के लगाने की राय दी है। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'धान की खेती' में एन० पार्थोसार्थी के अनुसार अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक किस्मों में एक

स्थान पर दो पौधों को एक साथ रोपा जाता है। एक स्थान पर पौधों की लगाने की संख्या का पौधे के **पारस्परिक** अन्तर से गहरा सम्बन्ध होता है क्योंकि ऐसा देखा गया है कि पौधे की इस दूरी का टिलर (Tiller) के निकलने और बालियों की लम्बाई पर अधिक प्रभाव पड़ता है। प्रति स्थान पर रोपे गये पौधों की संख्या का बीज दर से अधिक सम्बन्ध होता है। एक निश्चित क्षेत्र में पौधे की वही संख्या दो ढंगों से लगायी जाती है : (१) स्थानों के मध्य का क्षेत्र और प्रति स्थान पौधों की संख्या बढ़ाने और (२) दो स्थानों के बीच की दूरी और प्रति स्थान पौधे की संख्या घटाने से। प्रयोगों के आधार पर यह कहा जाता है कि अल्पकालिक किस्मो में प्रति स्थान पौधे की संख्या घटा दी जाय और उन्हें अधिक निकट रोपा जाय और दीर्घकालिक किस्मों में पौधे के मध्य की दूरी औसत होनी चाहिए और प्रति स्थान पौधों की संख्या भी कम ही रखनी चाहिए।

पौधों के मध्य की दूरी—दो स्थानों के मध्य जितनी ही अधिक दूरी होगी टिलर उत्पन्न करने और उपज देने के लिए व्यक्तिगत रूप से उतना ही अच्छा है किन्तु जहाँ उपज का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ पौधे के मध्य की दूरी एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं रक्खी जा सकती। यह दूरी अधिक रखने से फसल एक समय नहीं पकती, कारण यह है कि गुच्छों में टिलर धीरे-धीरे निकलते हैं और उनका पकाव भी धीरे-धीरे होता है। इस आधार पर न तो अधिक दूरी ही रक्खी जा सकती है, न कम ही। निश्चित दूरी पर धान की किस्म, भूमि की उर्वरा शक्ति आदि बातों का प्रभाव पड़ता है। इस दूरी को निश्चित करने के लिए कई स्थानों पर प्रयोग किये गये।

कोयम्बटूर फार्म पर स्थानीय दो जातियों 'सदायसंबा' और 'चीनासंबा' जातियों पर लगातार आठ वर्ष तक प्रयोग किया गया। पौधो की दूरी एक में ४", ६" और ९" दो में ९" और तीन में ९" से १२" रक्खी गई है किन्तु आठ वर्षों के औसत लगाने से यह ज्ञात हुआ कि १२" की दूरी ही अच्छी पड़ी। एक दूसरे प्रयोग में जो मारुटर केन्द्र पर हुआ, ज्ञात किया गया कि ११० दिनों में तैयार होने वाली किस्मों में ४"×४" की दूरी अच्छी पड़ती है और उपज भी अधिक प्राप्त होती है। बरहाम-पुर के एक प्रयोग में पौधे में आपस की दूरी १०"×१०", ३"×३" व ६"×६" रक्खी गयी जिसमें परिणाम यह निकला कि ३" से ६" की दूरी उपज की दृष्टि-कोण से अच्छी पड़ती है। पैडी ब्रीडिंग स्टेशन कोयम्बटूर में दीर्घकालिक पाँच या

छः महीने में होने वाली फसलो को ३″×३″, ६″×६″व १२″×१२″ की दूरी पर बोया गया। प्रयोग से पता चला कि ३″ से ६″ की दूरी वाले पौधों की उपज संतोषप्रद है और उन दोनों की उपज में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। १२″ की दूरी वाले पौधे की उपज बहुत खराब रही। अन्त में निष्कर्ष यह निकला कि पाँच महीने में पकने वाली किस्म के लिए ४½″ से ६″ की दूरी अधिक उत्तम है और छः महीने वाली किस्म के लिए ४½″ की दूरी पर अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि पौधों की उपज पर खाद और भूमि की उर्वरा शक्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है, तथापि दूरी का उचित होना अधिक आवश्यक है। 'अय्यर' की राय में ४″ से ६″ की दूरी अल्पकालिक किस्मों में और ६″ से ९″ दीर्घकालिक किस्मों में होनी चाहिए। उन्होंने कहा है कि पौधे ६″×६″, ६″×९″, ९″×९″ की दूरी पर रोपे जाने चाहिए। वास्तव में यही दूरी अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। 'रमैया' ने भी इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि उपज होने के लिए ६″ से अधिक की दूरी अच्छी नहीं पड़ती। जिन स्थानो पर मिट्टी अधिक उपजाऊ हो, वहाँ कतारों से कतारों की दूरी १२″ और पौधों से पौधों की दूरी ६″ रक्खी जानी चाहिए। अधिक घनी या अधिक पतली रोपाई उपज के दृष्टिकोण से अच्छी नहीं पड़ती। रोपाई इस हिसाब से करनी चाहिए कि पौधे कतारों में हों और उनमें निराई-गुड़ाई सरलतापूर्वक हो सके। कतार बनाने के लिए रस्सियों की सहायता लेनी चाहिए। उन्हें खेत में एक सिरे से दूसरे सिरों तक फैलाकर उन्हीं के सहारे-सहारे रोपाई करनी चाहिए। रोपाई में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पौधों के मध्य अन्तर समान हो। अल्पकालिक किस्मों में कतारों और पौधों के बीच ४″-४″ की दूरी रक्खी जानी चाहिए किन्तु दीर्घकालिक किस्मों में यह दूरी बढ़कर ९″ और ६″ हो जाती है।

बीज की मात्रा—धान की फसल में बीज की उपयुक्त मात्रा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह बोने की विधि के अनुसार कम और अधिक रक्खी जाती है। छिटकवाँ विधि में रोपुआ विधि से अधिक बीज लगाता है। बोआई की मशीन में यह मात्रा और भी कम लगती है। बीज की बोआई अंकुरित अवस्था में करने से लगभग प्रत्येक बीज एक पौधा तैयार करता है और बीज की हानि नहीं होने पाती; किन्तु शुष्क बीजों की बोआई में ऐसी बात नहीं होती। उनमें कुछ बीज अंकुरित नहीं हो पाते और कुछ कीड़ो या चिड़ियों द्वारा चुग लिये जाते हैं। ऐसा होने से दूसरी विधि

में बीज की मात्रा निश्चियपूर्वक अधिक लगेगी। हल के पीछे के बोआई में मात्रा और भी कम पड़ती है। 'अय्यर' के अनुसार छिटकवाँ रूप में बीज की मात्रा अंकुरित और शुष्क बीजों के आधार पर ५० से ७० सेर पड़ती है। हल के पीछे की बोआई में यह मात्रा लगभग २५ सेर रक्खी जाती है और मशीन द्वारा बोआई करने से ५५ से ६० सेर लगती है। किन्तु यह मात्रा उत्तर भारत की जलवायु में अधिक जान पड़ती है।

म्यू और दत्त ने यह मात्रा मशीन से बोने पर २० सेर बतायी है। उन्होंने छिटकवाँ विधि के लिए ३० सेर बीज के प्रयोग पर जोर दिया है। पार्थो सारथी ने कहा है कि छिटकवाँ बोई जाने वाली धान की फसल में प्रति एकड़ १०० से १२० पौंड बीज डाला जाता है। हल के पीछे हाथ से रोपने पर बीज की मात्रा प्रति एकड़ ४० से ६० पौंड पड़ती है, जबकि कूँड़ों के बीच १०" से १२" का अन्तर रक्खा जाता है और इन्हीं कूँड़ों में ६"-६" के अन्तर पर एक स्थान पर ८ से १० बीज डाले जाते हैं।

रोपुआ धान में छिटकवाँ विधि की अपेक्षा कम बीज लगता है किन्तु इसमें भी बीज की मात्रा बीयड़ के पतले घने रोपे जाने वाले पौधों की प्रति स्थान की संख्या उनके आपस की दूरी आदि के अनुसार ही निश्चित की जाती है किन्तु साधारणतया यह मात्रा एक एकड़ में लगभग १२ सेर पड़ती है। रोपुआ धान में बीज की मात्रा कभी कभी ४० से ५० पौंड तक भी चली जाती है। म्यू और दत्त ने कहा है कि बीयड़ के लिए प्रति एकड़ ३ मन बीज बोना चाहिए जो १२ एकड़ खेत की रोपाई का लिए प्रर्याप्त होता है। इस आँकड़े से एक-एकड़ में १० सेर बीज लगता है। पार्थो सारथी ने बताया है कि एक एकड़ में १० से १२ पौंड तक बीज से उगायी गई पौध पर्याप्त है, जिसे १५०० स १७०० तक के बीयड़ में तैयार किया जा सकता है। वास्तव में बीज की यही मात्रा अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।

रोपाई का समय—धान की फसल अच्छी लेने के लिए यह आवश्यक है कि रोपाई का कार्य समय पर हो। अगाही रोपाई करने से अच्छी उपज प्राप्त होती है। अतः इसके लिए जुलाई ही का समय अधिक उपयुक्त पड़ता है। ज्योंही मानसून प्रारम्भ हो और खेत की भूमि कोमल हो जाय खेत की तैयारी शुरू कर दी जाती है। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि समय पर वर्षा न होने से खेत तैयार नहीं हो पाता और रोपाई पिछड़ जाती है। उन स्थानों पर जहाँ सिंचाई की अधिक सुविधा हो

वहाँ सिंचाई का खेत समय पर तैयार कर लेते हैं और उसमें पानी भर कर लगभग ६" की ऊँचाई वाले पौधों की रोप लगा देनी चाहिए। यदि रोपाई का कार्य अगस्त के प्रथम सप्ताह भी नहीं समाप्त हो जाता तो इससे उपज पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि पिछड़ी रोपाई से पौधो का बढ़ाव उपयुक्त नहीं हो पाता और बाद में उन्हें हानिकर कीड़ों तथा रोगो का सामना करना पड़ता है। दक्षिण भारत में रोपाई का कार्य अगस्त के प्रथम सप्ताह के पश्चात् भी किया जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत के लिए यह समय अत्यन्त अनुपयुक्त है।
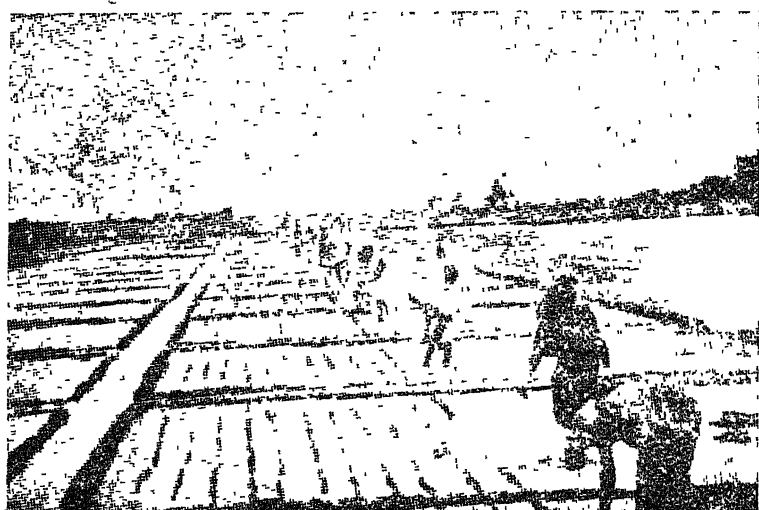
धान की रोपाई पंक्तियों में हो रही है—चित्र ३

रोपाई की क्रिया प्रायः स्त्रियों द्वारा की जाती है। वे अच्छी तैयार गारा मिट्टी में पौधे लगाती जाती हैं और पीछे की ओर हटती जाती हैं। पौधे १" की गहराई पर लगाये जाते हैं। धान की रोपाई के लिए खेत में पानी ४" तक खड़ा रक्खा जाता है।

फसल की देख-भाल—धान की बोआई जब छिटकवाँ विधि से की जाती है तो किसी विशेष देख-भाल की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यदि खेत में खर-पतवार अधिक उग आते हैं, तो समय पर उनकी निराई कर दी जाती है। पहली निराई उस समय की जाती है जब कि पौधे एक फुट की ऊँचाई के होते हैं। इस

ऊँचाई पर खेत में हल का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इस जुताई से घासें और धान के पौधे भी विनष्ट हो जाते हैं, तथापि यह क्रिया लाभकर है क्योंकि इससे पौधों में टिलर अधिक मात्रा में निकलते हैं। रोपुआ धान में भी पहली विधि की भाँति देखभाल की अधिक आवश्यकता नहीं रहती, समय-समय पर फसल की निराई अवश्य कर देनी चाहिए। पौधों के बढ़ाव के समय खेत में उगाने की उपस्थिति अधिक परिमाण में होनी चाहिए। प्रयोगों से इस बात का अनुभव किया गया है कि प्रति सप्ताह खेत से पानी निकाल देना उपज की वृद्धि में अधिक सहायक सिद्ध होता है।

सिंचाई—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है, धान का पौधा अर्धजलीय है, जिसे पानी की अधिक आवश्यकता होती है। इसीलिए फसल की बोआई मिट्टी को गारा बनाकर की जाती है और पौधे के बढ़ाव के अधिक समय तक खेत में पानी रक्खा जाता है। कचड़ा बनाने से भूमि की भौतिक स्थितिं सुधर जाती है और उसका टेक्स्चर अधिक बारीक और उपयुक्त बन जाता है। रोपाई के पश्चात् खेत में पानी भर दिया जाता है। इसके पश्चात् खेत की मिट्टी को सदैव नम बनाये रखना चाहिए; क्योंकि नमी की अनुपस्थिति में भूमि सूखने लगती है और चटकना प्रारम्भ कर देती है जिससे पौधों की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः खेत में पानी का बराबर भरा रहना अत्यन्त आवश्यक है। मानसून में यदि वर्षा समय पर न मिले तो कृत्रिम ढंग से सिंचाई करना चाहिए। रोपाई के लगभग एक सप्ताह या १० दिन पश्चात् खेत का पानी बाहर निकाल देना चाहिए। इस अवधि तक स्थानान्तरित पौधे जड़ पकड़ लेते हैं और हरे होने लगते हैं। पानी निकाल देने से जड़ों को धूप लग जाती है और वे दृढ़ बन जाता हैं। दो तीन दिन पश्चात् खेत में फिर ताजा पानी भर दिया जाता है। पानी निकालने और भरने की क्रिया उस समय तक जारी रखते हैं जब तक कि पौधे भली-भाँति जड़ न पकड़ लें और टिलर न निकालना शुरू कर दें। इस समय के पश्चात् खेत में बराबर ३″ पानी भरा रहना चाहिए। पौधे में फूल आने के समय पानी का बरसना अच्छा नहीं होता। इससे पौधे के फूल क्षति-ग्रस्त हो जाते हैं। जब पौधे दाने बना देते हैं और उनमें दूध (Milking stage) आ जाता है तो खेत में पानी का रहना आवश्यक होता है। पौधे के पकने की अवस्था में खेत का पानी बाहर निकाल दिया जाता है इससे खेत के सम्पूर्ण पौधे सर्वांगीण रूप से पक जाते हैं।

निराई-गुड़ाई—धान की फसल का समय-समय पर निराई-गुड़ाई करते रहना अधिक महत्वपूर्ण है। इससे फसल की उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि कृषक इस पर ध्यान नहीं देते और बिना निराई-गुड़ाई किये ही फसल तैयार कर लेते हैं किन्तु उनका यह कार्य वैज्ञानिक नहीं है। बीज छिटका कर बोई गई फसल में खर-पतवार रोपुआ फसल की अपेक्षा अधिक उगते हैं जिससे इस फसल की निराई अधिक आवश्यक समझी जाती है। पहली निराई, जैसा कि अभी
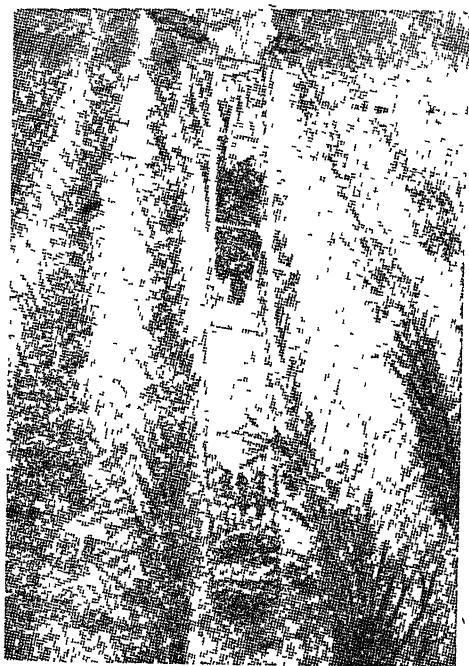
धान के खेत में चक्री निरायक चलाया जा रहा है—चित्र ४

कहा गया है, हल द्वारा की जाती है। हल के स्थान पर काँटेदार बखर अधिक सफलता पूर्वक प्रयोग किये जा सकते हैं। निराई की क्रिया हाथ से भी की जाती है किन्तु इसमें समय और व्यय अधिक पड़ता है। हाथ से निराई करने पर खुरपी अथवा हैंड हो (हाथ का निरायक) अच्छा काम देते हैं। हो का प्रयोग कतार में बोई गई फसल में

अच्छा पड़ता है। यह निराई पौधे के ५″ से ६″ की ऊँचाई के आ जाने पर की जाती है। इस निराई के पश्चात् छिटकवाँ फसल में कोई निराई नहीं की जाती। किन्तु आवश्यकतानुसार खरपतवारों को उखाड़ते रहना अच्छा सिद्ध होता है। रोपुआ फसल में निराई २-३ बार करनी चाहिए। पहली निराई स्थानान्तरण के लगभग एक माह पश्चात् की जाती है। इस निराई के पूर्व अमोनियम सल्फेट का छिड़काव कर

धान के खेत की निराई—चित्र ५

देना चाहिए जिससे निराई करने पर मिट्टी भुरभुरी हो जाय और पौधे इससे अधिक लाभ उठा सकें। निराई करते समय जड़ों के निकट की मिट्टी भुरभुरी कर देनी चाहिए। यदि खेत नीचा है और उसमें पानी बराबर संचित रहता है तो खर-पतवारों को उखाड़ कर मिट्टी में ढक देना चाहिए जिससे वे सड़कर जीवांश में वृद्धि कर

सकें। पहली निराई के पश्चात् अन्य निराइयाँ २०-२० दिनों के पश्चात् करनी चाहिए। फसल के कतारों में होने से निराई की यांत्रिक विधि का प्रयोग किया जा सकता है।

इस विधि में पहियेदार जापानी हो अच्छे सिद्ध होते हैं और उनका आज-कल अधिक प्रचलन है। निराई-गुड़ाई के समय पर करने से पौधों में कल्ले अधिक निकलते हैं।

खाद—भूमि की भौतिक स्थिति को सुधारने और भूमि के कणों को बारीक बनाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता है। मिट्टी के टेक्सचर पर जैविक पदार्थों का लाभकर प्रभाव पड़ता है इसलिए धान के फसल के लिए जल के पश्चात् खाद अधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय मिट्टी साधारणतः नाइट्रोजन और जैविक पदार्थों में निर्धन है। अतः उनका आवश्यक मात्रा में प्रयोग कर धान की उपज बढ़ाई जा सकती है। खाद के प्रयोग से उन्नत किस्मों की उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उसके प्रयोग पर उनसे अच्छी उपज ली जा सकती है। धान का खेत फसल की खड़ी रहने की स्थिति में अधिक समय तक पानी से भरा रक्खा जाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि भूमि में स्वतन्त्र आक्सीजन बिल्कुल नहीं रह पाते। इससे अन्य साधारण फसलों से धान की फसल में अन्तर हो जाता है। भूमि में जब नाइट्रोजन की खाद दी जाती है तो अनेक परिवर्तनों और प्रतिक्रियायों के पश्चात् नाइट्रोजन वायु की आक्सीजन से संयोग कर लेती है और इससे नाइट्रिक एसिड नामक यौगिक तैयार होता है जिसे पौधे बहुत शीघ्र शोषित कर लेते हैं। किन्तु धान की फसल में चूँकि मिट्टी पानी से भरी रहती है अतः नाइट्रोजन की खाद देने पर खाद के नाइट्रोजन को स्वतन्त्र आक्सीजन नहीं उपलब्ध हो पाता। अतः यहाँ नाइट्रिक एसिड के स्थान पर अमोनिया बनता है। इस यौगिक को पौधे ले लेते हैं। धान की भूमि में किण्वीकिरण की क्रिया हवा की अनुपस्थिति में होती है, जिसे अनऐराबिक (Anaerobic) कहते हैं। इस क्रिया में खाद के नाइट्रेट सड़ते हैं और इस सड़ाव से नाइट्रोजन स्वतन्त्र हो कर बाहर आता है और चूँकि हम जानते हैं कि यह नाइट्रोजन पौधों के कोई काम नहीं आ पाता। अतः नाइट्रेट धान के पौधों के लिए व्यर्थ सिद्ध होता है। धान के खेत में केवल नाइ-ट्रोजन की ही आवश्यकता नहीं होती बल्कि उसके लिए फासफोरस और पोटास की भी आवश्यकता होती है। भूमि में पौधों के लिए सभी भोजन तत्व उपस्थित होते हैं। किन्तु वे पौधे के आवश्यकतानुसार नहीं उपस्थित होते। भूमि के भोजन तत्व पौधों के

काम में तभी आ सकते हैं जबकि वे पानी में घुल कर प्राप्य रूप में हो जायँ ताकि पौधे उन्हें प्राप्त कर सकें। रमैया के अनुसार ३,००० पौंड दाना उत्पन्न करने वाली और लगभग इतनी ही मात्रा में भूसा देने वाली धान की फसल भूमि से मोटे तौर पर ४८ पौंड नाइट्रोजन, २३ पौंड फासफोरस और ४१ पौंड पोटास निकाल लेती है। मिट्टी में इन तत्वों का इस परिमाण में जो अभाव होता है भूमि की उर्वरता स्थिर रखने के लिए आवश्यक है कि ये तत्व पूनः भूमि में दिये जायँ। किन्तु प्रकृति में ऐसा नियम है कि तत्व अधिक मात्रा में भूमि को मिलते रहते हैं और तत्वों का अभाव पूरा होता रहता है। कुछ भूमियों में ऐसा ज्ञात किया गया है कि २,००० पौंड चावल प्रति वर्ष बिना खाद के प्रयोग के लिया जाता है। मिट्टी में कौन सी खाद किस परिमाण में दी जाय, इसके लिए आवश्यक है कि भूमि में नाइट्रोजन, पोटास और फासफोरस की उपस्थिति का ज्ञान हो।

मिट्टी में तत्वों की मात्रा का ज्ञान कर लेने पर उनके अनुसार ही खाद दी जानी चाहिए। खाद में गोबर की खाद, कम्पोस्ट, खलियाँ, हरी खाद, पत्तियों की खाद तथा उर्वरक (फर्टिलाइजर) प्रयोग किये जाते हैं। गोबर की खाद या कम्पोस्ट रोपाई के पूर्व भूमि की तैयारी करते समय दी जानी चाहिए। इससे मिट्टी की भौतिक स्थिति बहुत सुधर जाती है। इसकी मात्रा भूमि की उर्वरता के अनुसार कम-अधिक भी हो सकती है। किन्तु आमतौर से इनकी मात्रा प्रति एकड़ २० गाड़ी दी जाती है। यह खाद पूर्ण सड़ी स्थिति में होनी चाहिए। अन्यथा भूमि में हानिकर प्रभाव पड़ सकता है। खेत में दी गई खाद मिट्टी में भली भाँति मिला देनी चाहिए। हावर्ड ने धान की फसल में खाद का उल्लेख करते हुए कहा है कि धान में खाद देने के प्रश्न पर अनेक प्रयोग किये गये जिनका उद्देश्य जैविक पदार्थों तथा हरी खाद से उत्पादन में वृद्धि करने का था। उनका परिणाम भूमि पर यह पड़ा कि मिट्टी जब गारा बनायी जाती है तो उसमें घास-पात दबकर खाद बन जाती है। उसमें हरी खाद या सड़े गोबर का प्रयोग सदैव से चली आने वाली रीति के सिवाय कुछ नहीं है। उन्होंने आगे कहा है कि धान के खेत में हरी खाद के प्रयोग से धान के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए किसी उत्तम धान की खोज की आवश्यकता है।

जब हरी खाद की फसल बोने के लिए पानी सरलतापूर्वक मिल जाता है तो उन स्थानों पर हरी खाद देना अत्यन्त सस्ता और सरल ढंग है। इसके लिए सनई और ढैंचा की फसलें सामान्यतया प्रयोग की जाती हैं। कोयम्बटूर और मारुटर

केन्द्र पर यह ज्ञात हुआ कि अच्छी स्थिति में सनई की उपज प्रति एकड़ २०,००० से ३०,००० पौंड होती है। ढैंचा से भी उचित परिस्थितियों में १५ से २०,००० पौंड हरा पदार्थ मिल सकता है। किन्तु ढैंचा में एक कठिनाई यह होती है कि इसके तने बहुत शीघ्र बड़े हो जाते हैं और सड़ने में अधिक समय लेते हैं। सनई का प्रयोग अधिक सफल है और इसी लिए जहाँ भी हरी खाद का प्रयोग होता है, वहाँ सनई ही उगाई जाती है। अप्रैल मई के महीने में वर्षा होने अथवा सिंचाई करके हरी खाद के लिए फसल की बोआई कर दी जाती है। साधारणतया बोआई छिटकवाँ विधि से की जाती है। बीज की मात्रा ३० से ४० पौंड होती है। फसल लगभग दो माह में पलटाई के लिए तैयार हो जाती है। जब फसल इस अवस्था में पहुँच जाय तो उसे पटेला से भूमि पर गिरा दिया जाता है, और उन्नतिशील हल की सहायता से मिट्टी में दबा दिया जाता है। दबाने के लगभग एक सप्ताह पश्चात् फसल की रोपाई की जा सकती है। भूमि को इससे ४,००० से ५,००० पौंड तक हरी खाद मिल जाती है।

उर्वरकों का प्रयोग—जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है धान के खेत में नाइ-

धान के खेत में अमोनियम सल्फेट का भुरकाव—चित्र ६

ट्रोजन, फासफोरस और पोटास की आवश्यकता होती है। इन तत्वों को जैविक खादों द्वारा मिट्टी में दिया जा सकता है। किन्तु जिस परिमाण में भूमि में इनकी आवश्यकता होती है उस परिमाण में देने के लिए बनावटी खादें विशेष उपयुक्त होती हैं। इन्हें उर्वरक या फर्टिलाइजर कहा जाता है। ये उर्वरक नाइट्रोजनीय, पोटैसिक, और फास्फेटीय होते हैं। स्पेन में इनका अधिक प्रयोग होता है। किन्तु आजकल ये लगभग धान उगाने वाले सभी स्थानों पर ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। नाइट्रोजनीय
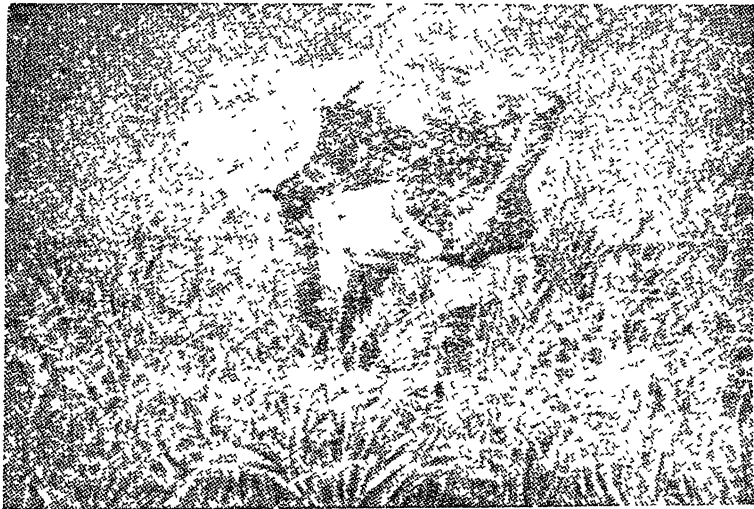
धान के खेत में गोलियाँ छोड़ी जा रही है—चित्र ७

उर्वरक में अमोनियम सल्फेट धान के लिए अधिक उपयुक्त होता है। अमोनियम सल्फेट अब भारत में काफी परिमाण में तैयार होता है। नाइट्रोजन के अभाव में यह फसल पर अच्छा प्रभाव डालता है। इसे धान के खेत में १५० से २०० पौंड तक की मात्रा में प्रयोग करते हैं। इससे धान की उपज में ४०० से ५०० पौंड तक की वृद्धि पाई जाती है। इसका प्रयोग खड़ी फसल में किया जाता है। कुछ स्थानों पर इसे रोपाई के पूर्व दिया जाता है। अमोनियम सल्फेट कूँड़ों में २" या ३" की गहराई में डाला जाता है। इसे गोलियों में बना कर कूँड़ो में डाल दिया जाता है और मिट्टी से ढँक दिया जाता है। इसका प्रयोग करते समय खेत में नमी का

उपस्थित रहना आवश्यक है। इसका प्रयोग रोपाई के १ महीने पश्चात् करना चाहिए। अमोनियम सल्फेट उस समय चूर्ण रूप में प्रयोग किया जाता है और प्रयोग करते समय भूमि के धरातल पर भुरक दिया है। अमोनियम सल्फेट को खेत में देने से पहले यह ज्ञात करना चाहिए कि खेत में पानी खड़ा तो नहीं है। पानी में खाद के प्रयोग करने से पानी के साथ खाद के बाहर निकल जाने का भय रहता है। अमोनियम सल्फेट पानी में बहुत शीघ्र घुल जाता है। इसलिए नमी की अधिकता में घोल के रिस कर खेत से बाहर निकल जाने के अधिक अवसर होते हैं। अतः प्रयोग करने के पूर्व खेत का पानी बाहर निकाल देना चाहिए। इस खाद का प्रभाव पौधे के ऊपर बहुत शीघ्र पड़ता है। लगभग एक सप्ताह में पौधों की स्थिति बदल जाती है, पत्तियाँ अधिक काली हो जाती हैं और पौधों में कल्ले निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं।

फासफोरस की अनुपस्थिति में फास्फेटीय उर्वरक प्रयोग किये जाते हैं। इनके प्रयोग से फसल की उपज में वृद्धि पाई जाती है। पार्थो सारथी के अनुसार मध्यप्रदेश और हैदराबाद में धान के क्षेत्रों के लिए १५० पौंड प्रति एकड़ सुपर फास्फेट या हड्डी का चूरा प्रयोग करने की सिफारिश की गई है, जब कि अन्य क्षेत्रों के लिए ५० पौंड ही प्रर्याप्त समझी गई है। नाइट्रोजन और फास्फोरस खादों का मिश्रण भी धान के खेतों के लिए अच्छा सिद्ध होता है। अय्यर ने कहा है कि नाइट्रोजन और फास्फोरिक एसिड की उपयोगिता में लंका में यह ज्ञात किया गया है कि खाद के रूप में दी गई खाद का फास्फोरिक एसिड लगभग २५% की मात्रा में घुल जाता है और शेष भाग ठोस रूप में भूमि में पड़ा रहता है। नाइट्रोजन का लगभग सम्पूर्ण भाग शोषित कर लिया जाता है किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि खाद अमोनियम नमक जैसी होती है। अघुलित रूप में होने से उसका केवल कुछ अंश शोषित हो पाता है, जैसे हरी खाद में नाइट्रोजन और फासफोरस फसल के दाने में भिन्न-भिन्न रूप में उपस्थित होते हैं। ये दानों में क्रमशः ७०% और ८२% तथा भूसे में चूना ८६% और पोटास ७८% होता है। स्पेन में बनावटी खादें अधिक सिंचाई के साथ प्रयोग की जाती है, जिससे उपज अधिक मिलती है। यहाँ उर्वरकों के मिश्रण में अमोनियम सलफेट ४०% सुपर फास्फेट ५०% और पोटास सल्फेट ६% होता है और यह मिश्रण प्रति एकड़ ७०० से ८०० पौंड को मात्रा में प्रयोग किया जाता है। सुपर फास्फेट का प्रयोग हरी खाद के साथ भी हो सकता है। फसल पर इसका प्रभाव अच्छा पड़ता है।

पौधों का झुकना—धान की फसल में साधारणतया ऐसा देखा जाता है कि वे पकने के पश्चात् झुक जाती हैं या धरातल पर गिर जाती हैं। पौधों का इस प्रकार गिरना फसल के लिए बहुत हानिकर होता है।

ऐसा प्रायः उसी समय होता है जब कि खेत में नाइट्रोजन की अधिकता हो जाती है और पौधे में पत्तियाँ इतनी अधिक निकल आती हैं जिसे तने सम्हाल नहीं पाते। तनों के अधिक बढ़ जाने से भी उनके झुकने का भय रहता है। कभी-कभी अधिक उपज देने वाली किस्मों के उगाने से भी पौधों का झुकना देखा जाता है। अनुमान लगाया गया है कि इससे फसल को लगभग ५०% हानि होती है। यह हानि उस समय और भी बढ़ जाती है जबकि पौधे फूलने के समय ही गिर जाते हैं किन्तु फूलने के पश्चात् देर से गिरने पर फसल को कम हानि होती है। इस हानि की रक्षा के लिए लोगों का ध्यान इस ओर झुका है कि धान की ऐसी किस्में निकाली जायँ जो वायु के झोंके सहन कर सकें। धान प्रजनन कर्त्ताओं का ध्यान इस समस्या को सुलझाने की ओर आकृष्ट हुआ है। सम्भव है, शीघ्र ही कोई ऐसी विधि निकल आये जो झोकें सहन कर सके। पौधों को गिरने से बचाने के लिए एक अन्य विधि यह है कि कुछ पौधों को साथ में लेकर बाँध दिया जाय। यह बँधाई बालों के निकलने के स्थान पर की जाती है। इससे पौधे झुकने या गिरने नहीं पाते। जब पौधे अधिक बढ़ जाते हैं, तो बालें निकलने के लगभग ४० ४५ दिन पूर्व पत्तियों को ऊपर की ओर से ८-९" तक काट देना चाहिए। यदि फसलें पंक्तियों में हैं तो फल आने के समय उनकी जड़ों पर मिट्टी चढ़ा देना चाहिए, इससे जड़ें मजबूत हो जाती हैं और पौधे गिरने नहीं पाते। रोपाई करते समय एक स्थान पर ४ ५ पौधे लगाने से भी पौधों का गिरना बन्द किया जा सकता है।

कटाई—धान की कटाई उसी समय की जाती है जब कि बालें पूर्णरूप से पक जायँ किन्तु ऐसा देखा जाता है कि बालों के पूर्ण रूप से पकने की दशा में कटाई करने से बालों से दाने झड़ने लगते हैं, जो सीधा उपज पर प्रभाव डालती है। अत: कटाई का उपयुक्त समय वही होता है जबकि पौधों की बालें तो पक जायें किन्तु उनका शेष भाग अभी कुछ हरा ही रहे। दानों के पकने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि दाने कच्चे रहें तो उत्पादक के लिए अधिक हानि हो जाती है। फसल की कटाई करने के लिए खेत का पानी निकाल दिया जाता है और कुछ दिनों के लिए वैसे ही छोड़ दिया जाता है जिससे मिट्टी सूख कर कड़ी हो जाय और मजदूर सरलता

पूर्वक कटाई का काम कर सकें। खेत में पानी के रुके होने अथवा कीचड़ होने से कटाई में बड़ी असुविधा होती है। कटे हुए पौधों को रखने का कोई स्थान नहीं मिलता और दूसरे खेत की भूमि पैरों से इस प्रकार रौंद जाती है कि सूखने के पश्चात् अधिक कड़ी हो जाती है और हल चलाना कठिन हो जाता है।

भारत में धान की कटाई का कार्य हँसिया द्वारा किया जाता है, किन्तु आजकल इस कार्य के लिए मशीनें भी प्रयोग की जाती हैं। धान की कटाई करने के पश्चात् पौधे ३-४ दिनों तक सूखने के लिये खेत में ही छोड़ दिये जाते हैं। जब

धान की फसल की कटाई—चित्र ८

पौधों की पत्तियाँ और तने भली भाँति सूख जाते हैं, तो उन्हें बोझ बनाकर खलिहानों में पहुँचा दिया जाता है, खलिहान में लाये गये धान कुछ दिनों तक वैसे ही छोड़ दिये जाते है और तब उनकी मड़ाई शुरू की जाती है। मड़ाई का कार्य अधिकाशतः बैलों से लिया जाता है। बैलों से मड़ाई करने के लिये १० दिनों पश्चात् धान के बोझ खोलकर खलिहान के फर्श पर फैला दिये जाते हैं।

तत्पश्चात् बैलों के खुरों से मड़ाई की जाती है। कभी-कभी बैलों से मड़ाई न कर धान की फलियों को हाथ से पकड़ कर भी किया जाता है जिससे धान डंठल से पृथक हो जाते हैं। मड़ाई करने के लिये यह विधि उसी समय प्रयोग की जा सकती है जब कि धान की फसल बहुत कम क्षेत्र में की गई हो। इसमें समय और श्रम दोनों अधिक लगते हैं। बैलों से मड़ाई कराने की विधि वैज्ञानिक नहीं है, जापानी टाइप मड़ाई यंत्र इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। उसके उपयोग से कृषक कम ही श्रम और व्यय में अधिक मडाई कर सकते हैं। अय्यर ने धान की मड़ाई का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैसूर में धान की कटी हुई फसल काटने के पश्चात् ६ से ८ सप्ताह तक रक्खी जाती है और तत्पश्चात् मड़ाई प्रारम्भ की जाती है। मड़ाई का कार्य बालियों को झुके हुए पटरे या बेंच या पत्थर पर पीटकर भी किया जाता है। इससे दाने सरलतापूर्वक अलग हो जाते हैं किन्तु कभी-कभी इस मड़ाई में सभी दाने नहीं निकल पाते। ऐसा होने से फसल की दुबारा मड़ाई की जाती है। यह दूसरी मडाई बैलो के खुरों से की जाती है।

धान की मड़ाई का जापानी यंत्र—चित्र ६
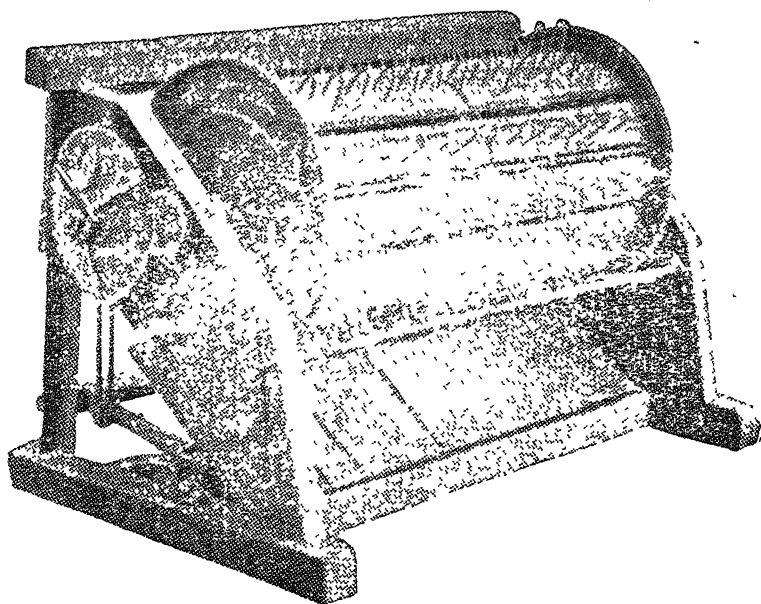
मड़ाई के पश्चात् धान के दाने पुआल से पृथक कर लिये जाते हैं। इस कार्य के लिए उसाई की क्रिया की जाती है। उसाई की क्रिया के लिए टोकरी या सूप लिया जाता है और उसमें दाने भर कर सिर की ऊँचाई से नीचे गिराया जाता है। यह क्रिया वायु के चलने पर ही की जाती है ताकि हवा दाने में उपस्थित धूल या भूसे आदि को उड़ा कर दाने को अलग कर दे। कुछ स्थानों पर यह क्रिया हाथ से हवा चला कर भी की जाती है, किन्तु ऐसा उसी समय किया जाता है जब कि हवा की गति मन्द होती है या हवा में गति बिल्कुल नहीं होती। उसाई करने के लिए वीनोवर (ओसाई करने की मशीन) काम में लाई जाती है जिससे हवा के न चलने पर भी ओसाई बहुत सस्ते और सरल ढंग से की जा सकती है।

उपज—धान की उपज जातियों, मौसम, भूमि, खाद, सिंचाई और अन्य कई बातों पर निर्भर करती है। इन बातों पर वाह्य प्रभाव भी पड़ते हैं जो उपज के कम और अधिक होने के उत्तरदायी होते हैं। इसकी उपज स्थान-स्थान पर भी भिन्न पाई जाती है। विश्व में धान की सबसे अधिक उपज ६,००० पौंड पाई गई है। जापान में जहाँ धान की सीमित खेती कम परिमाण में होती है और खाद प्रचुर मात्रा में दी जाती है, वहाँ उपज लगभग ५,००० पौंड पाई जाती है। भारतवर्ष में धान की उपज इतनी नहीं पाई जाती जितना कि आजकल सरकार जापानी विधि द्वारा धान उत्पन्न करने पर जोर दे रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस पर और भी अधिक जोर दिया गया है। आशा है भारतवर्ष में भी कुछ ही समय में धान की अच्छी उपज प्राप्त की जाने लगे। मैसूर में इसकी २,००० पौंड से ४,००० पौंड प्रति एकड़ उपज मिलती है किन्तु ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ १७०० से १८०० पौंड मिल जाती है।

संचय—धान का संचय भूसी के साथ ही किया जाता है। उसे भली भाँति साफ कर धूप में खूब सुखा लिया जाता है ताकि कटने के समय से धान की तौल लगभग १० से १५% कम हो जाय। धान को अधिक सुखा देने से कीड़े आदि आक्रमण नहीं कर पाते और उन्हें अधिक समय तक संचित रक्खा भी जा सकता है। धान के संचय करने की विधि प्रत्येक स्थान पर एक-सी नहीं है। यह स्थान-स्थान पर भिन्न पाई जाती है। देहातों में मिट्टी के बर्तन इस कार्य के लिए अच्छे समझे जाते हैं। धान का संचय इन्हीं बर्तनों में किया जाता है। खुले कमरों में जहाँ नमी आदि के आक्रमण की सम्भावना नहीं होती, वहाँ धान फर्श पर ढेर लगा कर रक्खे जाते हैं। उन्नतिशील ढंग पर धान के संचय करने के लिए गोदाम (Bins) प्रयोग

किये जाते हैं। उन्हें कमरो के भीतर खुले रूप में रक्खा जाता है और धान इन्हीं में भर दिया जाता है। जब निकालना होता है तो नीचे के छेद द्वारा जो गोदाम के बनाने के समय निर्मित होता है निकाल देते हैं। कुछ स्थानों पर सीमेंट अथवा लोहे के वर्तन संचय करने के काम में लाये जाते हैं। भंडारों को नमी से बचाना बहुत आवश्यक होता है। इसके लिए बीच बाच में भण्डारों से धान निकाल कर सुखा लेना चाहिए। इस काल में अनेक हानिकर कीड़े-मकोड़ों का भी आक्रमण होता है जिनसे बचने के लिए उपयुक्त औषधियाँ प्रयोग करनी चाहिए।

धान से चावल—धान के दाने का छिल्का कड़ा होता है और रोओं से ढका रहता है। छिल्के के अतिरिक्त धान से भूसी भी निकलती है जिसकी छुँटाई करते रहते हैं। छुटाई के यन्त्र—ओखली, मूसल, चक्की और ढेंकी हैं। चक्की पत्थर और लकड़ी से बनती है, जो केवल छिल्का उतारती है। छुटाई ओखली-मूसल से होती है। ढेकी और ओखली इससे कुछ अधिक यांत्रिक होती है। इससे भी दोनों काम लिये जा सकते हैं।

इन यन्त्रों में विशेष सुधार नहीं हुआ है केवल ढेकी का सुधार रूप कपास विद्यालय गोहाटी के दो शिक्षकों ने तैयार किया है। अभी हाल में ओखली और मूसल या ढेकी के साथ चक्की के प्रयोग की विधि प्रचलित की गई है। इससे प्रति मजदूर चावल का उत्पादन बढ़ जाता है और टूटे चावलों की प्रतिशत घट जाती है। अन्य उद्योगों की भाँति चावल की कुटाई करने के लिए भी शक्ति-चालित यन्त्रों का उपयोग होने लगा है। इस समय करीब २८ करोड़ मन चावल शक्ति-चालित मिलों में तैयार किया जाता है और शेष हाथ से कुटाई करके।

धान का छिल्का उतारने का यंत्र
चित्र १०

हलर—छोटा हलर बिजली या आयल से चलने वाली ५ से २०
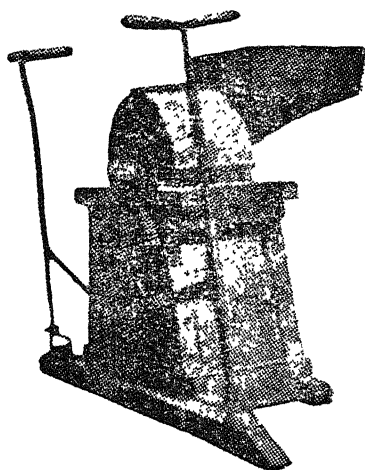
अश्वसामर्थ्य की मोटर के द्वारा चलता है। हलर में भूमि के समान्तर साथ-साथ दो बेलन लगे रहते हैं। इनमें बाहर की ओर गढ़े या कूँड़े बनी रहती है। ये बेलन बहुत तीव्र वेग से घूमते हैं। इनकी गति १,००० चक्कर प्रति मिनट तक होती है। एक बेलन पर धान डाला जाता है और दूसरा बेलन छिल्का उतार कर धान को बाहर फेंक देता है। जिस ढाँचे के अन्दर बेलन होती है, उसके अन्दर वाली दीवार पर स्पात का एक कल लगा होता है। बेलन इसके विरुद्ध घूमता है। बेलन के साथ धान जब कल के पास से गुजरता है तो छिलका अलग हो जाता है और छिलकारहित धान बाहर आ जाता है। फल धान के आकार के अनुसार कम-बेशी किया जा सकता है। छटाई के लिए अनाज को फिर इसी हलर में डाला जा सकता है या इसके लिए दूसरा हलर काम में लाया जा सकता है।

गाँवों में अधिकतर एक हलर वाली मशीनें ही काम में लाई जा सकती हैं। एक मशीन से काम लेने पर यही इच्छा रहती है कि एक ही क्रिया में धान की कुटाई और छँटाई हो जावे। ऐसा करने पर दानों के टूटने की मात्रा यथेष्ट बढ़ जाती है। बहुत से चावल के दाने इतने कुटे जाते हैं कि उनकी भूसी पूरी तरह उड़ जाती है और छिलका का एक भाग पूर्णरूप से परिवर्तित हो जाता है। बारीक छिलका उसी के साथ मिल जाता है और ऐसी भूसी पशुओं के खिलाने योग्य नहीं रहती।

कुछ मिलों में कई हलर लगे होते हैं। एक हलर में धान को कूटकर छिलका उतारा जाता है और इससे प्राप्त छिलकाउतरे चावलों को दूसरे हलर में डालते हैं जहाँ दाने छँट कर साफ हो जाते हैं। दूसरा हलर इस प्रकार फिट करते हैं कि दाने कम से कम टूटें। कुछ मिलों में ३-८ हलर तक होते हैं। ऐसी मिलों में अन्तिम दो या तीन हलरों से प्राप्त भूसी पूर्णतया शुद्ध होती है और पशुओं को खिलायी जा सकती है। दानों के टूटने की संख्या भी कम हो जाती है।

शेलर टाइप की चावल मिलों में पत्थर के दो पाये के बीच में धान के दानों को पीसकर छिलका उतारते हैं। सफाई, छिलका उतराई, ओसाई, पालिश करने और छँटाई आदि क्रियाएँ एक के बाद एक की जाती है और चावल, छिलका, भूसी आदि पृथक-पृथक मिलती हैं।

कच्चा या थोड़ा उबला—कूटने के लिए धान कच्चा या थोड़ा उबाल कर

काम में लाया जा सकता है। थोड़े उबाले गये धान को कूटने पर दानों की टूट-फूट बहुत कम हो जाती है और ऐसा धान प्राप्त होने पर शेलर प्रकार की मिलें सुविधापूर्वक चलायी जा सकती हैं। टूट-फूट की समस्या तो इससे हल हो जाती है परन्तु अधिक छँटाई और भूसी की हानि को कम करने के लिए एक से अधिक हलर प्रयोग करना ठीक रहता है।

उबालने के लिए धान को कुछ समय तक पानी में भिगोते हैं और फिर उबले पानी या भाप से गर्म करके कूटने से पहले धूप में सुखा लेते हैं। उबलने की एक और विधि उत्तर प्रदेश और पंजाब में बहुत प्रचलित है। इसे रेत विधि कहते हैं। इसके अनुसार धान को पानी में मिला कर रेत में भूनते हैं और फिर धूप में सुखा लेते हैं। इस विधि को पूर्णतया यांत्रिक कर दिया गया है।

पोषक तत्वों की रक्षा—चावल एक मुख्य भोजन और विटामिन बी० विशेष कर थायामीन का एक उत्तम स्रोत है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि चावल में उपस्थित थायामीन और अन्य पोषक तत्वों को पूर्णरूप से उपयोग किया जाय। अच्छी तरह कुटाई और छँटाई करने पर अंकुर और दाने की खोल पूरी तरह नष्ट हो जाती है। परन्तु हाथ से कूटने पर या मशीन से कम कुटाई करने पर ५० से ७०% तक दाने की खोल चावलों के साथ रह जाती है। भूसी में ही थायामीन, प्रोटीन और खनिज-पदार्थों की अधिकांश मात्रा निहित रहती है।

पूर्णतया कुटाई करने पर ७५% प्रोटीन और खनिज-पदार्थों की कुछ मात्रा नष्ट हो जाती है, थायामीन की दृष्टि से तो भूसा पर छिलका उतारा चावल ही आदर्श होता है; परन्तु ऐसा छिलका उतारा चावल भंडार में बहुत शीघ्र खराब होता है। यह देखने में अच्छा नहीं लगता, पकने में ठीक नहीं रहता और पाचन में कष्ट देता है।

थोड़ी छँटाई की आवश्यकता—अतः यह आवश्यक समझा गया है कि चावल की कुटाई के अतिरिक्त कुछ सीमा तक छँटाई भी होनी चाहिए जिससे इसका भंडार किया जा सके और उसे बिना किसी कष्ट के पकाया जा सके। छँटाई करके ५% भूसी निकालने पर चावल खाने योग्य हो जाता है और इसमें थायामीन की काफी मात्रा रहती है।

हाथ से कुटाई करने की विधि के समर्थकों का यह विचार है कि केवल हाथ से कुटे चावल में ही पोषक तत्व होते हैं और मशीन के द्वारा कुटा चावल बहुत बढ़िया नहीं होता है; किन्तु हाथ से कुटे चावलों में ऐसा कोई लाभ नहीं

होता। मशीन से टूटने पर छँटाई की मात्रा अधिक महत्वपूर्ण है। शेलर की मिलों में छँटाई की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। उससे प्राप्त चावल एक-सा होता है और हाथ से कुटाई करने की अपेक्षा उत्पादन भी बहुत अधिक होता है।

धान की कीट व्याधियाँ—धान की फसल प्रति वर्ष कीट व्याधियों तथा रोगों से लगभग ५ से १०% तक विनष्ट हो जाती है। यद्यपि धान का पौधा अधिक सख्त होता है जिससे अनेक कीट और रोग आक्रमण नहीं कर पाते फिर भी कुछ ऐसे कीड़े हैं जो फसल पर आक्रमण करके कृषक को हानि पहुँचाते हैं। इनमें से कुछ रोग और कीड़े ऐसे हैं जो फसल पर प्रायः आक्रमण करते हैं। कीड़ों की लगभग ३० किस्में ऐसी ज्ञात हैं जो भारत में धान की फसल पर आक्रमण कर हानि पहुँचाती हैं। किन्तु गेहूँ के मुकाबले में यह बहुत कम हैं और इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जिनका आर्थिक दृष्टि से महत्व है। कीटों में तनाछेदक, धान नाशक मक्खी, गिड़ारे, हिस्पा, गंधी, धाननाशक टिड्डे, धाननाशक कोष कीट, धाननाशक भुनगियाँ, पत्तीनाशक कीड़ा, धान का घुन आदि अधिक मुख्य हैं।
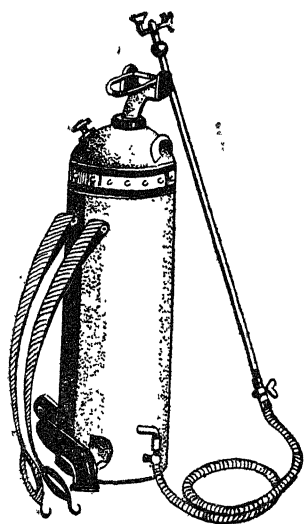
दवा का घोल छिड़कने की मशीन—चित्र ११

तना छेदक कीड़े—तना छेदक कीड़े फसल पर अधिक हानि पहुँचाते हैं। ये, जैसा कि नाम से विदित है, तने में पाये जाते हैं। यह तने को छेद कर भीतर प्रवेश कर जाता है, जिससे पौधे निर्जीव हो जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में पौधों से निकलने वाली पत्तियाँ भी निर्जीव हो जाती हैं। इससे पौधों का बढ़ाव नहीं हो पाता। जब इन कीड़ों का आक्रमण फसल में फूल आने के समय होता है तो बालों में दाने अच्छी तरह नहीं भरते। वे बाहर से सफेद हो जाते हैं और उनके भीतर कोई तत्व नहीं रह जाता। जब फसल पर इन कीड़ो का आक्रमण जोरदार होता है तो खेत सफेद बालियों से भर जाता है और कृषक को हानि उठानी पड़ती है। तना छेदक कीड़ा पीले रंग का होता है और फसल के लिए अन्य कीड़ों की अपेक्षा अधिक हानि-

कर सिद्ध होता है। इन्हें रोकने के लिए रासायनिक औषधियाँ प्रयोग करनी चाहिए। रासायनिक औषधियों में डी० डी० टी० और बी० एच० सी० उपयुक्त पड़ती हैं।
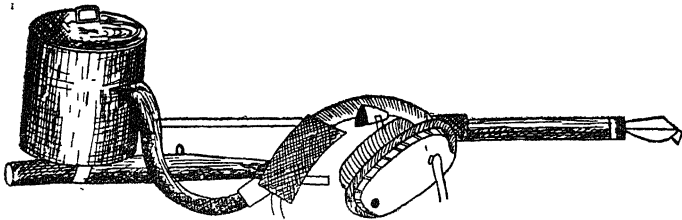
पाउडर भुरकने की मशीन—चित्र १२

जब कीड़ों का आक्रमण बीयड़ में उगे पौधों पर हो तो २% बी० एच० सी० या डी० डी० टी० का छिड़काव करना चाहिए। पौधों को रोपते समय इनकी रोक-थाम के लिए पौधों को ·२% बी० एच० सी० की घोल में डुबा लेना अच्छा पड़ता है। फूल आने के समय इन पर नियंत्रण पाने के लिए ५% बी० एच० सी० का भुरकाव करना चाहिए।

धान नाशक मक्खी—यह मक्खी मच्छर के आकार से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसकी टाँगें अधिक लम्बी होती हैं जिससे उन्हें फसल पर आक्रमण करने पर अधिक सहायता मिलती है। इनका आक्रमण बढ़ती हुई फसल पर अधिकतर होता है जिससे पौधों के बीच की पत्तियाँ अधिक लम्बी हो जाती हैं। इनका रंग सफेद या नीला हो जाता है और ये फिर क्रियाहीन हो जाते हैं। इनकी रोक-थाम करने के लिए स्थानान्तरण के पूर्व पौधों को ·२% बी० एच० सी० के घोल में डुबा लेना चाहिए। खड़ी फसल में आक्रमण होने से ५% बी० एच० सी० का भुरकाव उपयोगी सिद्ध होता है।

गिड़ारे—ये कीड़े फसल पर सामूहिक रूप से आक्रमण करते हैं। किन्तु देखने में ये एक ही दिखाई पड़ते हैं। इनका आक्रमण प्रायः रात के समय होता है और पत्तियाँ ही इनकी शिकार बनती हैं। दिन के समय ये इस प्रकार छिपी रहती हैं कि कृषक इन्हें ढूँढ़ नहीं पाते; किन्तु जब फसल का अधिकांश भाग विनष्ट हो जाता है तब इन्हें पाना सरल होता है। पौधों की प्रारम्भिक अवस्था में आक्रमण होने पर पत्तियाँ खाई हुई पाई जाती हैं। जब इनका आक्रमण अधिक जोरदार होता

है तो फसल पशुओं से चरी हुई-सी मालूम पड़ती है। ये खेत में दल के दल टूट पड़ते हैं और फसल को बुरी तरह विनष्ट कर देते हैं। बीयड़ में उगे पौधों पर इनका आक्रमण और भी भयंकर सिद्ध होता है। अतः इनकी रोकथाम उचित समय पर करके फसल की रक्षा करनी चाहिए। २% डी० डी० टी० या बी० एच० सी० का छिड़काव अथवा ५% डी० डी० टी० या बी० एच० सी० का छिड़काव सामूहिक रूप से आक्रमण करने वाली गिड़ारों पर नियन्त्रण करने पर सफल सिद्ध होता है।

हिस्पा (Hispa)—भारतवर्ष में धान की फसल पर आक्रमण करने वाले भयंकर गिड़ारों में हिस्पा की गणना की जाती है। यह एक छोटे आकार का नीले काले रंग का कीड़ा है। प्रौढ़ स्थिति में इसका रंग बिल्कुल काला हो जाता है और सारे शरीर पर अनेक छोटे-छोटे काँटे निकल आते हैं। इस कीड़े का आक्रमण अधिकतर बाल्यावस्था (Larval stage) में होता है। ये बाल कीट पत्तियों के भीतर घुस जाते हैं और वहाँ उनका हरा भाग चाट जाते हैं। इससे पत्तियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं। पौढ़ कीड़े धान के छोटे पौधे पर आक्रमण करते हैं और उनकी पत्तियों के हरे भाग को साफ कर देते हैं। ये पत्तियों को इस प्रकार खाते हैं कि उन पर समानान्तर रेखायें-सी पड़ जाती हैं। हिस्पा कीड़े प्रायः बीयड़ पौधों पर ही आक्रमण करते हैं। कभी-कभी इनका आक्रमण उन पौधों पर भी होता है जिनका स्थानान्तरण हाल ही में हुआ होता है। धान के प्रौढ़ पौधों पर इनका आक्रमण बहुत कम होता है और जब
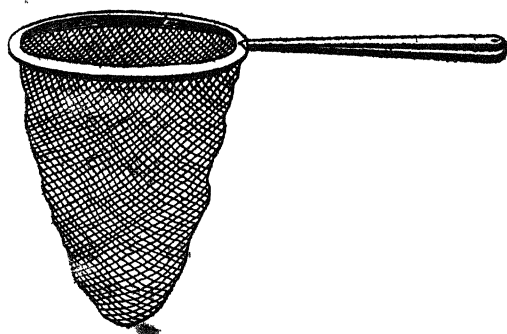
कीड़े पकड़ने की जाली—चित्र १३

होता है तो हानि बिल्कुल नहीं होती। इन कीड़ों की उत्पत्ति स्त्री पौढ़ कीड़ों से होती है जो नई पत्तियों पर अपने अंडे देती हैं। ये अंडे ईपीडरमस के नीचे तन्तुओं में

संचित हो जाते हैं। अंडे सेने के पश्चात् कीड़ा निकलता है जो ऊपर और नीचे की इपिडर्मिस के बीच में रहता है और वहीं से अपना खाना प्राप्त करना है। यह कीड़ा सफेद या पीले रंग का होता है जिस पर काले रंग के चिह्न लगे होते हैं। यही कीड़ा बड़े होने पर भूरे रंग का हो जाता है और बाद में घुन का आकार ले लेता है। इनके रोक-थाम के लिए कई उपाय किये जाते हैं। धोती या कीड़े पड़कने की जाली की सहायता से इन्हें पकड़ा जा सकता है (चित्र १३) और पकड़ कर पानी और मिट्टी के तेल से भरे बर्तन में छोड़ दिये जाते हैं ताकि शीघ्र ही मर जायँ। उनकी रोक-थाम का एक दूसरा ढंग यह है कि एक लम्बी रस्सी और मिट्टी के तेल के मिश्रण में डुबो कर सीरों पर पकड़ कर खेत में इस प्रकार घुमाई जाय कि पौधों की पत्तियाँ उसे छू जायँ। यह क्रिया प्रातःकाल या दोपहार के पश्चात् करनी चाहिए, जिससे कीड़े अंडे न दे सकें। हिस्पा को ५% बी० एच० सी० भुरकाव द्वारा भी नियंत्रण रक्खा जा सकता है।

गंधी—एक विशेष प्रकार की गंध निकलने के कारण ही ये कीड़े गंधी के नाम से विख्यात हैं। इनकी पहचान इसी गंध के कारण दूर से ही की जा सकती
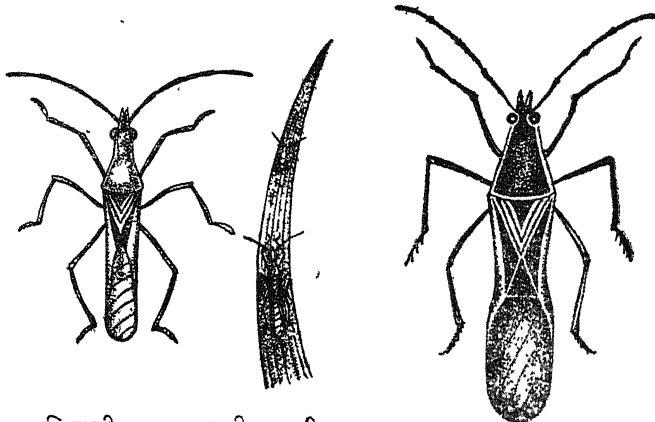
शिशुकीड़ा पत्ती पर कीड़ा

धान का गंधी कीड़ा—चित्र १४

प्रौढ़ कीड़ा—गंधी—चित्र १५

है। प्रौढ़ होने पर उनकी टाँगें बहुत लम्बी हो जाती हैं। टाँगें इतनी लम्बी होती हैं कि इनका शरीर ही पूरी टाँगों से पूर्ण लगता है। इनकी लम्बाई प्रौढ़ स्थिति में ¾"

के लगभग होती है। इनका रंग हरापन लिये हुए पीले रंग का होता है। इस कीड़े के बच्चे और प्रौढ़ दोनो फसल पर आक्रमण करते हैं और पौधों को हानि पहुँचाते हैं। बाल कीट जब तक पंख नहीं निकलते हैं पौधो के कोमल अंकुर पर निर्भर रहते हैं। पंख निकल आने पर एक खेत से दूसरे को जाने लगते हैं। ये पौधों में फूल आने के समय फसल पर आक्रमण करते है। कभी-कभी दानों में दूध आने के समय भी धावा बोल देते हैं और ऊपर जाने वाले रस को चूस कर फूल या दानों की वृद्धि रोक देते हैं। ऐसा करने से पौधों की बालियाँ थोथा हो जाती हैं और उनका रंग सफेद पड़ जाता है वह कीड़ा लेप्टोकोरिसा बारिकोरिनिश (Leptocorisa-baricornis) कहलाता है। इसे आसाम, बंगाल, मद्रास और उत्तर प्रदेश में पाया जाता है। इनकी रोक-थाम के लिए ५% बी० एच० सी० का भुरकाव अधिक उपयुक्त होता है। हाथ की जालियों और झोलों द्वारा पकड़ कर मारा जा सकता है। प्रकृति ने भी इनकी रोक-थाम के लिए छः टाँग वाला एक ऐसा कीड़ा उत्पन्न किया है जो इनको मार कर खा जाता है।
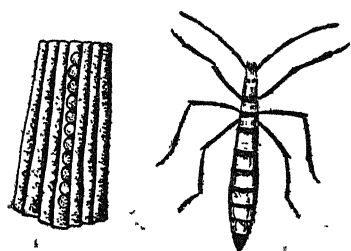
पत्तियों पर अण्डे गंधी—चित्र १६

पत्तीनाशक टिड्डा—यह कीड़ा नेफथोटेटिक्स बाईपंकटेटस (Nepthotatics bipunctatus) नाम से विख्यात है। यह आसाम के कुछ भागों, बिहार और मध्य-प्रदेश में धान की फसल पर प्रायः आक्रमण करता है और फसल को काफी हानि पहुँचाता है। यह कीड़ा जैसिद कीट समूह से सम्बन्धित कीड़ा है जो भारतवर्ष के लगभग सम्पूर्ण भागों में पाया जाता है। पत्तीनाशक कीड़ा हरे रंग का छोटा-सा कीड़ा है, जो पौधों की नई निकलती हुई कोमल पत्तियों पर आक्रमण करता है और पौधों का रस चूस जाता है। प्रौढ़ कीट एक पौधे से दूसरे पौधे पर कूदते रहते हैं और पत्तियों के निचले धरातल में मुख्य नस के निकट अड्डा जमाते हैं। दिन के अधिक गरम समय ये वहीं जमे रहते हैं और उनका रस चूसा करते हैं। रस चूसने से पौधे मुरझा जाते हैं और देखने में लकवा के मारे जैसे लगते हैं। ये जुलाई के महीने में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। किन्तु अधिक वर्षा होने पर इनका बढ़ाव अधिक नहीं हो पाता।

इनकी रोक-थाम के लिए प्रकाश बहुत लाभकर सिद्ध होता है। ये प्रकाश

की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। रात्रि में खेत में कई स्थानों पर प्रकाश जलाकर इनकी रोक-थाम की जा सकती है; क्योंकि वे प्रकाश की ओर तेजी से लपकने हैं और अपने को जला डालते हैं। प्रकाश जाल द्वारा भी इनकी रोक-थाम की जा सकती है। ५% बी० एच० सी० पाउडर इन कीड़ों- की रोक-थाम के लिए अधिक सफल सिद्ध होता है।

धाननाशक टिड्डे—इस जाति के कीड़े फसल पर बाल अवस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक आक्रमण करते हैं और फसल को यथेष्ट मात्रा में हानि पहुँचाते हैं। ये
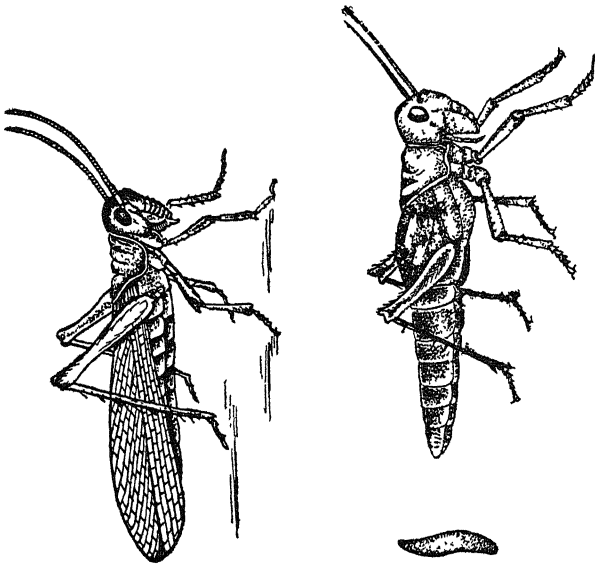
टिड्डे शिशु—१७ अण्डा टिड्डे प्रौढ़—१८

पौधों की ऊपरी कोमल पत्तियों पर ही आक्रमण करते हैं और उन्हें खा जाते हैं। जब इनका आक्रमण अधिक भयंकर होता है तो फसल पूर्णतया चौपट हो जाती है और खेत में पौधों का नगण्य रूप ही दिखाई पड़ता है। इनकी रोक-थाम के लिए ५% बी० एच० सी० अच्छा पड़ता है।

धाननाशक भुनगियाँ—ये कीड़े बहुत छोटे आकार के होते हैं। ये भारत के

दक्षिणी भाग में मैसूर, मद्रास और हैदराबाद क्षेत्र में अधिक संख्या में पाई जाती हैं। ये धान के छोटे पौधों पर अधिक संख्या में पाई जाती हैं। गोटेदार पंख होने से ये एक पौधों से दूसरे पौधे तक उड़ कर जाती रहती हैं। इनका आक्रमण प्रायः पत्तियों पर ही होता है और जिन पत्तियों पर ये धावा बोलते हैं उनका रस चूस लेती हैं। रस चूसने के पश्चात् पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और उनके किनारे मुड़ जाते हैं। किनारों के मुड़ने से एक सुरक्षित स्थान बन जाता है जिसमें ये भुनगियाँ अपना घर बना लेती हैं। बीयड़ में उगे पौधों पर ये अधिकांश रूप में पाई जाती हैं। इनकी रोक-थाम के लिए पाइरो कोलाइड नामक औषधि अधिक उपयुक्त होती है। यह औषधि एक अंश की मात्रा में दो गैलन जल में मिलाकर तैयार की जाती है और फसल पर छिड़काव द्वारा प्रयोग की जाती है।
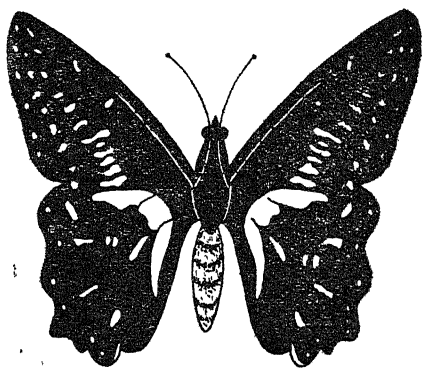
तितली—चित्र १६
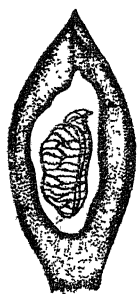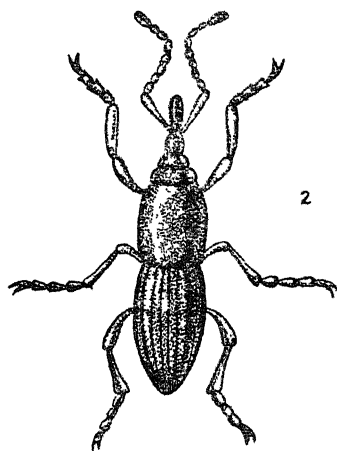
धान का घुन—यह कीड़ा धान के केवल दानों पर आक्रमण करता है जो भंडार घर में संचित किये गये होते हैं। इनका आक्रमण सर्व प्रथम दाने के बाहरी छिलके पर होता है और तत्पश्चात् वे दाने को छेदकर भीतर पहुँच जाते हैं और चावल वाला भाग खाना शुरू कर देते हैं।

धान का घुन—१. दाने में गिड़ार, २. प्रौढ़—चित्र २०

इनका आक्रमण अधिक जोरदार होने से भण्डार घर का पूरा धान ही आटे अथवा धूल में बदल जाता है। धान का घुन कलेन्ड्रा ओराइजी (Calandra oryzae) के नाम से विख्यात है। गहरे रंग का यह एक छोटा कीड़ा है जिसकी लम्बाई लगभग १ फुट या $\frac{1}{8}''$ की होती है। स्त्री कीड़े जनन कार्य करती है और एक स्त्री कीड़ा लगभग ४०० कीड़ा दे देती है। ये अडे ६ या ७ दिनो के पश्चात् सेये जाते हैं। सेने के पश्चात् 'लारवा' बनते हैं जो अपने सुदृढ़ दाँतों से दाने में छेद कर अपने रहने का स्थान बना लेते हैं। इनकी रोक-थाम के लिए कार्बन बाई सल्फाइड का प्रयोग अच्छा पड़ता है। कार्बन बाई सल्फाइड के अतिरिक्त और भी औषधियाँ हैं जिन्हे इन को मारने में प्रयोग किया जा सकता है। सियानोडेस्ट का भुरकाव भी कीड़ों के मारने में सफल सिद्ध होता है। इस डस्ट से हाइड्रोसपानिक एसिड निकलता है जो कीड़ों के लिए विष है।
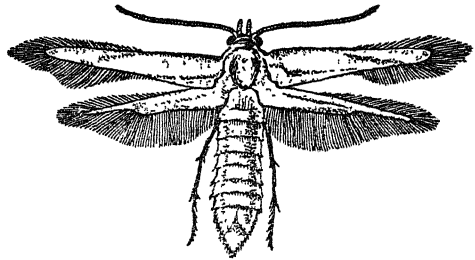
भंडार का कीड़ा—चित्र २१

धान के रोग—धान की फसल पर कई एक रोग भी लगते हैं जिनसे कृषक को प्रति वर्ष हानि उठानी पड़ती है; किन्तु यह हानि अधिक नहीं होती। धान के रोगों में पैडी ब्लास्ट बन्टफाल्स इस्मट आदि मुख्य हैं।

पैडी ब्लास्ट—यह रोग पाइरीकुलेरिया ओराइजी (Piricularia orzyae) नामक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव सर्वप्रथम पत्तियों पर पड़ता है। प्रारम्भ में भूरे रंग के दाग या धारियाँ पड़ती हैं और धीरे-धीरे बढ़ती हैं। जब बालियाँ निकल आती हैं तो रोग का प्रभाव उन पर भी पड़ता है। बालियों का आधार सूखने लगता है और फिर टूट जाता है। अतः बालियों में दाने नहीं लग पाते। रोग का प्रभाव जब बालियों में दाने निकल आने पर पड़ता है तो फसल को अधिक हानि नहीं पहुँचती। इस रोग-थाम के लिए कई एक उपाय किये जाते हैं। ऐसा देखा जाता है कि फसल के कटने के पश्चात् स्पोर जीवित अवस्था में कटे पौधों की जड़े आदि में लिपट कर ६ महीने तक क्रियाशील रहते हैं।

अतः खेत से धान की दूसरी फसल लेने के पूर्व ये जड़ें एकत्रित करके जला

देनी चाहिए। अधिक खाद देने से जब पौधों का वानस्पति बढ़ाव अत्यधिक हो जाता है तो भी रोग का आक्रमण होते पाया जाता है। इसके लिए अधिक खाद देने से रोप लगा देना चाहिए। ऐसी किस्में उगानी चाहिए जिन पर रोग के फफूँदी प्रभाव न डाल सकें।

बन्ट—यह रोग टीलेसिया होरिडा (Tilletia horrida) फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग का प्रभाव विश्व के गेहूँ उगाने वाले अनेक क्षेत्रों में अधिक गम्भीर है। किन्तु भारतवर्ष में इससे अधिक हानि नहीं होती है। इसका भा बालियों पर पड़ता है। दाने जो ऊपर से भूसी द्वारा ढके होते हैं, भीतर से काले बुरादे के रूप में स्पोर से भर जाते हैं। ये स्पोर उस समय बाहर निकले हैं बाई दाने की भूसी निकलती है और बुरादे के ऊपर की पतली झिल्ली फट जाती है। इस रोग की रोक-थाम अमेरिका में रोग से प्रभावित हल्के दानों को ठढे पानी में बहाकर की जाती है। शेष दाने एक प्रकार के घोल में २४ घटे के लिए डुबाये जाते हैं। यह घोल फ्लावर आफ सल्फर १½ पौंड की मात्रा मे २५ गैलन पानी में डाल कर बनाया जाता है।

फाल्स स्मट रोग—यह रोग बंगाल और बिहार राज्यों में अधिक भयकर प्रभाव डालता है। यह आस्टलेजीन्वायडे वीरेन्स (Ustilaginoidea uerens) फफूँदी द्वारा पैदा होती है। जिन पौधों पर इस रोग का प्रभाव पड़ता है उनमें बड़े आकार के फूले हुए दाने उत्पन्न होते हैं। ये दाने जब फटते हैं तो इनके भीतर का पदार्थ केन्द्र में सफ़ेद और परिधि की ओर नारंगी रंग लिये हुए पीले रंग का होता है। बालियों में सभी दाने नहीं प्रभावित होते बल्कि उनमें केवल कुछ ही दाने प्रभावित होते हैं। इस रोग की रोक-थाम के लिए अभी कोई उपाय नहीं निकाला गया है और न ही इस पर विशेष अध्ययन ही हुआ है।

इन रोगो के अतिरिक्त धान की फसल पर आक्रमण करनेवाले कुछ और भी रोग हैं, जो अधिक हानिकर सिद्ध होते हैं। हेलमिन्थो स्पोरियम एक प्रसिद्ध रोग जो हेल्मिन्थोस्पोरियम ओ आइरी द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग के आक्रमण होने से पत्तियों पर छोटे गहरे भूरे रंग के दाग पड़ जाते हैं। ये दाग गुलूम और दानों पर भी पाये जाते हैं। इन्हें रोकने के लिए बीज बदल देना चाहिए और खेत में खाद या सफाई लाकर पौधों को मजबूत बनाना चाहिए। यह रोग दक्षिण भारत के मद्रास में अधिक आक्रमण करता है।

स्कलेरेशियल रोग धान की फसल पर आक्रमण करनेवाले रोगों में सबसे अधिक भयंकर है। यह स्कलेरेशियम ओराइजी (Sclerotium oryzi) फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग के लक्षण बहुत बारीकी से देखे जाते हैं। इसका आक्रमण तनों के आधार के निकट होता है जिससे बालियाँ हल्की निकलती हैं जिनमें ५०% कम दाने निकलते हैं और जो दाने निकलते हैं हलके होते हैं। पौधे हरे प्रांकुर उत्पन्न करते हैं। ये प्रांकुर तने के आधार से निकलते हैं और उस समय भी निकलते हैं जबकि शेष फसल पकने लगती है। यदि इस अवस्था में पौधों के तनों की निकली गाँठों का अध्ययन किया जाय तो छोटे गोले काले रंग की आकृतियाँ मिलेंगी जिन्हें स्क्लोरेशिया कहा जाता है। स्कलोरेशिया फसल के कटने के पश्चात् भी भूमि में जीवित पाया जाता है। इस रोग के रोकने की विधि अभी तक नहीं निकली है।

धान की फसल पर आक्रमण करने वाला ईलवारम (eeslworm) है जो पूर्वी बगाल में अधिक हानि पहुँचाता है।

अध्याय २

गेहूँ

(Wheat—Triticum vulgare)

गेहूँ की फसल का दाने वाली फसलों में महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी कृषि अत्यन्त प्राचीन काल से की जा रही है। यही कारण है कि इसके मूलस्थान का ठीक-ठीक पता नहीं है किन्तु इतना निश्चित है कि इसका ज्ञान विश्व के विभिन्न भागों के लोगों को बहुत प्राचीन काल से है।

मूल स्थान और इतिहास—गेहूँ का मूल स्थान कहाँ है यह अभी तक निश्चिय पूर्वक नहीं कहा जा सका है। मिश्र और स्विट्जरलैण्ड में लोग इससे प्रस्तर (पाषाण) काल में ही परिचित थे। चीन में प्राप्त लक्षणों से ज्ञात किया गया है कि वहाँ यह लगभग २,७०० ई० पूर्व में भी उगाया जाता था। इसके मूल स्थान का उल्लेख करते हुए डी कन्डोले ने कहा है कि यह दजला और फरात की घाटी में सर्वप्रथम उगाया गया और यहाँ से चीन, मिश्र तथा विश्व के अन्य भागों में फैला; किन्तु डीकन्डोले के मत से सभी लोग सहमत नहीं हैं। अमेरिका के कुछ लेखकों का विश्वास है कि गेहूँ सीरिया और पैलेसटाइन की मौलिक फसल है। किन्तु उनके साक्ष्य आरोनसन (Aaronsohn) के इसी साक्ष्य पर निर्भर हैं कि उसने इन्हीं देशों से जंगली गेहूँ की एक किस्म लाई। बेवीलोव (Vavilov) का कथन अधिक नवीन है जिसने गेहूँ के मूल स्थान के विषय में गहन अध्ययन करने के पश्चात् यह अनुमान लगाया था कि गेहूँ की ड्यूरम किस्म सर्वप्रथम अबीसीनिया के भाग में उगायी गई और नरम गेहूँ की जाति सम्भवतः उत्तर भारत, बुखारा के पर्वतीय दक्षिणी भाग और अफगानिस्तान के दक्षिण-पश्चिम भाग में उत्पन्न हुई। बेवीलोव का उपर्युक्त मत केवल इसी तथ्य पर आधारित है कि इन्हीं दोनों भागों में गेहूँ की अधिक जातियाँ प्रधान गुण दिखलाती हैं। किन्तु पश्चिमी पाकिस्तान की सिंधु नदी की घाटी में भारत-सरकार के पूरातत्व विभाग ने मोहन-जोदड़ो नामक स्थान पर लगभग पाँच

हजार वर्ष पुराना एक नगर खोद कर निकाला है जिसमें अनेक प्रकार के अवशेष मिले हैं। इन अवशेषों में गेहूँ भी प्राप्त हुआ है। विशेषज्ञों की धारणा है कि यह गेहूँ लगभग एक हजार वर्ष पुराने हैं। वनस्पति विज्ञान के आचार्यों ने गेहूँ की नस्लों की पहचान करके बतलाया है कि ये गेहूँ ट्रिटिकम-कमपैक्टम ड्वार्फ और ट्रिटिकम स्फीरोकोकम (Trihcum Compacıtum dwarf & T. Sphaerocoeum) नस्ल से सम्बन्ध रखते हैं जो आजकल भी पंजाब के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में उत्पन्न किये जाते हैं।

वितरण—गेहूँ विश्व की एक महत्वपूर्ण फसल है। धान के पश्चात् सम्भवतः अन्न वाली फसलों में दूसरा स्थान इसी का है। भारतवर्ष में इसे लगभग सम्पूर्ण राज्यो में उगाया जाता है। केवल आसाम की कुछ जगहें और बंगाल में गंगा के डेल्टे पर जलवायु के उपयुक्त न होने पर नही उगाया जाता। विदेशो में अमेरिका और आस्ट्रेलिया दो अधिक गेहूँ पैदा करने वाले महाद्वीप हैं, जहाँ इसकी कृषि बड़े पैमाने पर की जाती है। इन महाद्वीपो में विश्व के गेहूँ का अधिकाश भाग उत्पन्न किया जाता है। भारतवर्ष में इसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल लगभग तीन सौ साठ लाख एकड़ है और अनुमानित उपज लगभग एक सौ बीस लाख टन है। किन्तु ये आँकडे बहुत प्राचीन हैं। आधुनिकतम आँकड़ों के अनुसार गेहूँ का क्षेत्रफल और उपज निम्न-लिखित रूप में हैं।

वर्ष	क्षेत्रफल एकड़ में	उपज टन में
१९४८-४९	२,१८,५५,०००	५४,७२,०००
१९४९-५०	२,३६,२७,०००	५७,७२,०००
१९५०-५१	२,४१,३४,०००	६३,७४,०००
१९५१-५२	२,३२,३५,०००	५७,६८,०००

प्यू० और दत्त ने निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की है जिसमें उन्होंने गेहूँ का क्षेत्रफल और इसकी उपज का विवरण राज्यो के अनुसार दिया है।

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उपज (हजार टन में)	
	१९३७-३८	१९४०-४१	१९३७-३८	१९४०-४१
पंजाब	९९४५	९८८४	३७२४	३३३९
उत्तर प्रदेश	७८००	७९३५	२२७७	२८४५

वर्ष	क्षेत्रफल एकड़ में		उपज टन में	
मध्य प्रदेश				
और बरार	३३५८	३२२६	६७३	५७२
बिहार	१०६८	१०६६	३०७	४०५
सिंध	११५५	१२०३	३५१	३३१
बम्बई	१८२७	१७५२	३८०	३०१
पश्चिमोत्तर प्रदेश	१०२८	१०८८	२६८	२५६
बंगाल	१६१	१६६	४५	३४
दिल्ली	४६	४८	२०	१६
अजमेर-मारवाड़	२१	२४	७	७
योग	६१६५	६१६५	२१५३	२१५०

भारत में गेहूँ का विभाजन १६५६-५७

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१६५६-५७	१६५५-५६	१६५६-५७	१६५५-५६
आंध्र प्रदेश	५८	५६	५	६
आसाम	७	७	१	१
बिहार	१,८२२	१,४६८	१५३	३५७
मध्य प्रदेश	७,४४८	६,६४७	१,६०७	१,५४१
मद्रास	४	४	१	१
उड़ीसा	१३	१३	३	३
पंजाब	५,१४०	४,६६६	२,११४	१,७५१
उत्तर प्रदेश	६,६६१	६,६६५	३,१३६	३,०४६
पश्चिमी बंगाल	२०६	१६३	२७	४५
जम्मू-काश्मीर	३२८	३०४	८६	८१
मैसूर	७२७	७१६	६३	६४
राजस्थान	३,२७६	२,४०३	१,१६०	६०७
दिल्ली	७४	७०	१२	१६
हिमांचल प्रदेश	३२६	३१६	१००	८७
योग	३२,८६१	३०,३८६	६,०६८	८,५६६

अल्बर्ट हावर्ट ने गेहूँ का क्षेत्रफल तीस लाख एकड़ और उपज प्रतिवर्ष नौ लाख बताया है। उनका कथन है कि भारत में गेहूँ की उपज का लगभग तीन-चौथाई उपज पश्चिमोत्तर भारत के शुष्क अलूवियल क्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है। इस क्षेत्र में पंजाब, उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग और मालवा का पठार सम्मिलत होते हैं। प्यू और दत्त के अनुसार भारत में गेहूँ के क्षेत्रफल का ५% और उपज का लगभग ६१% केवल पंजाब और उत्तर प्रदेश में पाया जाता है।

भूमि—गेहूँ की फसल के लिए अलूवियल भूमि अधिक उपयुक्त पड़ती है किन्तु अनुभव से ऐसा ज्ञात किया गया है कि इसे अलूवियल भूमि के अतिरिक्त अन्य भूमि में भी उत्पन्न किया जा सकता है। इसकी अच्छी फसल दोमट मटियार जैसी भारी भूमियों में ली जाती है फिर भी सिंध और गंगा के मैदानों की भूमि में इसकी जैसी अच्छी फसल ली जाती है वैसी अन्य भूमि में नहीं, विशेष कर नरम किस्म की। गेहूँ जिसकी रोटी बनती है इसके लिये अधिक उपयुक्त होती है। अलूवियल भूमि के अतिरिक्त मध्य प्रदेश की काली मिट्टी भी गेहूँ की उपज के लिए अच्छी पड़ती है। विशेषकर इस भूमि में ड्यूरम जाति का गेहूँ अच्छी उपज देता है। मध्य प्रदेश में नर्बदा नदी के निकट की भूमि गेहूँ के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। लोगों की ऐसी धारणा है कि इस भूमि में लगातार कई वर्षों तक बिना खाद का प्रयोग किये प्रति वर्ष गेहूँ बोते रहने पर भी अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। किन्तु यह बात कुछ वर्षों से सत्य नहीं हो रही है, क्योंकि भूमि की उर्वराशक्ति घटती जा रही है और फलतः उपज कम मिल रही है। गेहूँ के लिए लाल भूमि बिल्कुल ही अच्छी नहीं होती। बम्बई में इसे कुछ स्थानों पर ऐसी ही भूमि में उगाया जाता है।

जलवायु—एक विद्वान का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य प्रत्येक जलवायु में रह सकता है, गेहूँ का पौधा भी उसी प्रकार प्रत्येक जलवायु में उगाया जा सकता है। यह ५" से ४५" वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर उगाई जा सकती है। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ ३०" से कम वार्षिक वर्षा होती है वहाँ इसकी फसल के लिए सिंचाई की आवश्यकता होती है। कुछ स्थानों पर इतनी ही वार्षिक वर्षा में यह शुष्क फसल या बारानी की भाँति उगाया जा सकता है किन्तु इस विधि में उपज बहुत कम होती है। साधारणतः २० से ३०" वार्षिक वर्षा वाले स्थानों में सिंचाई की सुविधा होने पर गेहूँ की अच्छी फसल उगायी जाती है। यह समुद्र के धरातल से ८ फीट से १,००० फीट के ऊँचाई तक उत्पन्न किया जा सकता है। गेहूँ की फसल रबी की फसल है, इसके

लिए सर्द और शुष्क वायु अधिक अनुकूल होती है, किन्तु अधिक सर्दी अच्छी उपज के लिए लाभप्रद नहीं। विशेषकर उस समय जब कि पौधे का बढ़ाव होता रहता है, सर्दी का बढ़ना अच्छा नहीं होता। पौधो में फूल आने के लिए पानी बरसना अथवा हवा में नमी की मात्रा का अचानक बढ़ जाना बहुत भयंकर सिद्ध होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में गेहूँ के भयंकर रोग गेरुआ के आक्रमण के लिए अनुकूल स्थिति बन जाती है। गेहूँ के पकने के समय तापमान का अधिक होना आवश्यक है। उस समय शुष्क हवाओं का तेज बहना भी फसल को शीघ्र पकाने में सहायता करता है किन्तु इतना आवश्य है कि गेहूँ की बोआई जाड़े में जब कि मानसून प्रायः होती है और कटाई जाड़े के समाप्त होने पर जब कि गर्मी की ऋतु प्रारम्भ होती है, अच्छा पड़ता है। दिसम्बर जनवरी के महीने में महावट (जाड़े की वर्षा) का होना अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। इस वर्षा से फसल में एक सिंचाई की किफायत हो जाती है। यह वर्षा २-२½" से अधिक नहीं चाहिए क्योंकि अधिक पानी बरसने से फसल की बाढ़ मारी जाती है। भूमि में फसल जब तक खड़ी रहे नमी की उपस्थिति अधिक अनिवार्य है। शुष्क भूमि में गेहूँ की फसल असम्भव है। नमी की उपस्थिति केवल सिंचाई से ही सम्बन्धित नहीं होती बल्कि वर्षा होने और भूमि के नदी अथवा झील के किनारे रहने से उसमें नमी प्रर्याप्त समय तक स्थिर रहती है।

वानस्पतिक विवरण—गेहूँ का पौधा घास कुल का पौधा है जो मानव के हित में अधिक महत्वपूर्ण फूल है जिसमें गन्ना, चारे वाली अनेक प्रसिद्ध फसलें और लगभग सभी दाने वाली फसलें सम्मिलित होती हैं। इसका वानस्पतिक नाम ट्रिटकम-बलगेयर है और यह ग्रैमनेसी (Graminaceae) कुल का सदस्य है।

गेहूँ का पौदा एक-वर्षीय पौधा है जो एक ही वर्ष की अवधि में उगता है, बढ़ता है, फूल-फल पैदा करता है और मर जाता है। भारत के मैदानी भागों में इसे रबी की फसल के साथ उत्पन्न करते हैं अतः इसकी ऋतु विशेषतर सर्द होती है। पहाड़ी भागो में उसे रबी की ऋतु में नहीं उगाया जाता, वहाँ इसे गर्मी के दिनों में तैयार किया जाता है। उगाने के समय के हेर-फेर के कारण मैदानी भागों में गेहूँ की फसल पर प्रति वर्ष एक भयंकर रोग का आक्रमण होता है जिससे कृषकों को अधिक क्षति उठानी पड़ती है। इस रोग का उल्लेख बाद में किया जायगा।

गेहूँ का पौधा लगभग २½ से ५ फीट तक बढ़ता है। इसकी ऊँचाई पर भूमि की उर्वरता और जाति का अधिक प्रभाव पड़ता है।

उर्वर भूमि में यदि अच्छी जाति का गेहूँ उत्पन्न किया जाय तो उपज अवश्य अधिक मिले और पौधा का बढ़ाव भी अधिक होगा जबकि अनुर्वर भूमि में घटिया जाति का गेहूँ बहुत कम उपज देगा और पौधों की ऊँचाई भी कम होगी। साधारणतः मैकरोनी जाति का गेहूँ रोटी वाली जातियों से ऊँचाई में अधिक बढ़ता है। गेहूँ का पौधा वैसी ही जड़ रखता है जैसे घास-फूस के और पौधे। इसकी जड़ें रेशेदार होती हैं। अंकुरण के समय बीज से जो जड़ें पौदा होती हैं वे अस्थायी रहती हैं। कालान्तर में जब पौधा कुछ बड़ा हो जाता है तो इस अवस्था में जड़ों के कुछ ऊपर स्थायी जड़ें निकलती हैं जिनमें पहली जड़ भूमि में लगभग १ या २" नीचे रहती हैं। स्थायी जड़ें पहले नीचे की ओर लम्बरूप में नहीं बढ़तीं बल्कि उनका बढ़ाव सर्वप्रथम बगल से होता है और तत्पश्चात् ये नीचे की ओर मुड़ जाती हैं। ये जड़ें भूमि में कितनी गहराई तक जाती हैं, यह भूमि की किस्म पर निर्भर करता है। यदि भूमि अधिक उर्वर है और पौधे के लिए अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध हैं, तो जड़ें लगभग ४ फीट की गहराई तक जा सकती हैं। किन्तु भूमि के कंकरीली होने पर जड़ों का बढ़ाव इतना नहीं हो पाता। जड़ों की संख्या सभी पौधों में समान नहीं होती। ऐसा देखा जाता है कि जिस पौधे में टिलर (Tiller) अधिक रहते हैं उसमें जड़ों की संख्या भी अधिक होती है।

गेहूँ के तने गोलाकार होते हैं। तने कभी-कभी खोखले भी पाये जाते हैं किन्तु ऐसा केवल रोटी वाले गेहूँ की जातियों में देखा जाता है। इस जाति के पौधे केवल गाँठ के निकट ठोस होते हैं इनके अतिरिक्त बिल्कुल खोखले होते हैं। मेकरोनी जाति के कुछ गेहूँ में पोर खोखले नहीं पाये जाते। उनमें एक प्रकार का मुलायम पिथ (Pith) लगा होता है जिससे यह कुछ कड़े हो जाते हैं। गेहूँ के पौधे अधिक आहार पाने पर मजबूत और सीधे तने उत्पन्न करते हैं किन्तु आहार के अभाव में तने दुर्बल हो जाते हैं। दुर्बल तनों में एक विशेष अवगुण यह देखा जाता है कि वे बड़े होने पर हवा के झोंके से गिर जाते हैं। तनों का गिरना लाजिंग (Lodging) के नाम से विख्यात है। लाजिंग क्रिया केवल दुर्बल तने वाले पौधे में ही नहीं होती अपितु इस पर जड़ की स्वस्थता तथा नाइट्रोजन की उपस्थिति का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। नाइट्रोजन की अधिकता से तने अधिक लम्बे और पतले होते हैं। उनमें पत्तियाँ और शाखाएँ इतने अधिक परिमाण में निकलते हैं कि दुबले-पतले तने उन्हें सम्भाल नहीं पाते और परिणाम यह होता है कि तने पानी बरसने अथवा हवा के तेज झोंकों से

गिर जाते हैं। तनों का गिरना पौधे के घने होने पर अधिक देखा जाता है क्योंकि ऐसी स्थिति में पौधों को अधिक प्रकाश नहीं मिल पाता। प्रकाश की खोज में वे उसकी ओर बढ़ते हैं और अधिक लम्बे हो जाते हैं। लाज और गिल्बार्ड (Laws and Gilbard) ने पौधे गिरने के अध्ययन रासायनिक दृष्टि के ढंग से किया और यह पता लगाया कि पौधों में लाजिंग तन्तुओं के द्रवीभूत हो जाने और सिलका के अनुपतिक अभाव में होती है। पौधे का गिरना उपज की दृष्टिकोण से अच्छा नहीं होता। ऐसा होने से खेत में चूहे आदि जन्तुओं को फसल पर आक्रमण करने में सुविधा हो जाती है। पौधों के गिरने में भूसा अच्छा नहीं हो पाता। फसल की कटाई में भी कठिनाई होती है।

साधारणतया गेहूँ के पौधे में शाखाएँ निकलती हैं जिन्हें टिलर या स्टूल कहते हैं। टिलर के निकलने की मात्रा सभी पौंधो में समान नहीं होती। इस पर गेहूँ की जाति, भूमि की उर्वरता, पौधे के मध्य की दूरी, ऋतु की स्थिति और बाहरी प्रभावों का अधिक प्रभाव पड़ता है। वे टिलर पत्तियों के कोणों में उपस्थित कलियों से उत्पादित होते हैं किन्तु ये कोण पौधे के उन गाँठों पर से ही निकलते हैं जो भूमि के अन्दर होते हैं। टिलर की संख्या का विवरण देते हुए प्यू और दत्त ने कहा है कि एक पौधे में उचित अवस्था में पचास से भी अधिक टिलर देखे जाते हैं। गेहूँ के छोटे पौधे का बढ़ाव पृथक-पृथक होता है। कुछ पौधे द्रुतगति से बढ़ते हैं तो कुछ बहुत मन्दगति मे। इनके तने सीधे और रेंगने वाले दोनों प्रकार के पाये जा सकते हैं। इन दोनों के मध्य एक तीसरी किस्म ऐसी भी पाई जाती है जो रेंगने और सीधी आदत वाले तनों के मध्य की होती है। तनों का विभाजन अन्य दाने वाली फसलों की भाँति चारों ओर गाँठों में होता है। पत्तियाँ गाँठों से ही निकलती हैं जो कुछ सीमा तक तने को ढकती रहती हैं, सुविधा के लिए पत्तियों का चार भागों में विभाजित किया जाता है : (१) ब्लेड, (२) सीथ, (३) लिग्यूल और (४) आरकिल। ये चारों भाग मिलकर पत्ती का सम्पूर्ण ढाँचा तैयार करते हैं। ब्लेड गेहूँ की प्रत्येक किस्मों में समान नहीं होता। इसकी चौड़ाई, लम्बाई, चिकनाई आदि बातें भिन्न-भिन्न जातियों में विभिन्न रहती हैं। शीथ पत्तियों का वह भाग है जो तने को दृढ़तापूर्वक बाँधे रहता है और लगभग पूर्व का दो-तिहाई भाग ढकता है। यह ढकाव ब्लेड के ठीक विरुद्ध होता है। इसका आकार, रंग आदि भी पृथक रूप से पाये जाते हैं। इसका रंग हल्के भूसे के रंग से लेकर पीला होता है। पत्तियों का तीसरा भाग

लिग्यूल वर्षा रक्षक नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह तने और सीथ के मध्य के भाग की रक्षा करता है और इस भाग में कीड़े-मकोड़े, वर्षा का पानी, धूल आदि को जाने से रोकता है। इसका आकार जौ के पौधे से बिल्कुल भिन्न होता है। लिग्यूल के आधार पर भी लोग गेहूँ और जौ के पौधे की पहिचान उस समय करते हैं जबकि उनमें बालियाँ नहीं आई होतीं। अराकिल का रंग हरा और कभी-कभी गुलाबी पाया जाता है। यह जौ के पौधे में गेहूँ की अपेक्षा बड़ा और प्रधान होता है और जई के पौधे में यह अनुपस्थित होता है।

तनों का बढ़ाव एक निश्चित् ऊँचाई तक जा कर रुक जाता है और तत्पश्चात् उसमें से बालियाँ निकलने लगती हैं। इन बालियों से तने पैदा होते हैं। बालियों की पैदा होने की स्थिति को बूटिङ्ग या सूटिङ्ग कहते है। इनफ्लोसेन्स, स्पाइक कहते हैं। स्पाइक का निर्माण स्पाइक रूप से होता है जो एक फूल अथवा फूलों का समूह है। स्पाइकलेट एक जोड़े लूम सेट का होता है जो रेचिला पर जमे होते हैं। स्पाइकलेट रैचिस की गाँठों से उत्पन्न होते हैं। एक गाँठ से स्पाइकलेट निकलने की मात्रा गेहूँ और जौ की बालियों में भिन्न होती है। गेहूँ की एक गाँठ से एक ही स्पाइकलेट निकलती है, जबकि जौ में एक गाँठ से स्पाइकलेट की मात्रा तीन होती है। रैचिस पर स्पाइकलेट बायें और दाहिने के हिसाब से निकलते हैं। इस प्रकार एक पक्ष के दो स्पाइकलेट में एक गाँठ का अन्तर होता है। इसलिए इसका आकार टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है। रैचिस के आकार पर गेहूँ और जौ की बालियों की पहिचान की जा सकती है। गेहूँ के पौधे में रैचिस जौ की अपेक्षा अधिक टेढ़ा-मेढ़ा होता है। स्पाइक के घने होने की मात्रा गेहूँ की जातियों के अनुसार कम-अधिक पाई जाती है, कुछ में ये काफी घने होते हैं और कुछ में कम घने। कुछ में सिरे पर अधिक घने होते हैं। स्पाइक टूँड़दार या बेटूँड़ के पाये जाते हैं। टूँड़ की उपस्थिति गेहूँ की जातियों पर निर्भर करती है। कुछ उन्नतिशील जातियाँ टूँड़रहित होती हैं उनके पहचानने में सुविधा होती है। इन टूँड़ों का कृषि दृष्टिकोण से भी महत्व है। इसकी उपस्थिति से दानों पर हानिकारक कीड़े आक्रमण नहीं करने पाते किन्तु जिन बालियों में ये नहीं पाये जाते उन पर कीड़ों का आक्रमण शीघ्र होता है। स्पाइक में टूँड़ की उपस्थिति और अनुपस्थिति के अनुसार गेहूँ की टूँड़ वाली और बेटूँड़ वाली दो जातियाँ हैं। जिन जातियों में टूँड़ उपस्थित रहते हैं उनमें भी टूँड़ों की लम्बाई, रंग आदि समान नहीं पाये जाते। मैकरोनी

अथवा ड्यूरम गेहूँ बहुत लम्बे होते हैं। जबकि रोटी वाले गेहूँ की जाति में अपेक्षाकृत छोटे टूँड़ पाये जाते हैं। टूँड़ों का रंग लाल, काला और हल्के भूरे रंग का पाया जाता है। गेहूँ के स्पाइकलेट में फूल होता है जिसमें नर अंग और मादा अंग उपस्थित होते हैं। एक फूल में तीन स्टेमेन होते हैं जिनके फिलामेन्ट पतले-पतले धागे के आकार के और अन्य कुछ बड़े होते हैं। एक फूल में मादा अंग भी एक ही पाया जाता है जिसमें दो पंखदार स्टिगा होते हैं। नर और मादा अंगों के अतिरिक्त दो और आकृतियाँ पाई जाती हैं जिन्हें लाँडीक्यूल और लेमा तथा पेलिया कहते हैं। लॉडीक्यूल संख्या में दो होते हैं और इनका आकार ऐसा होता है कि इनके खुलने पर ही फूल खिल सकता है। लॉडीक्यूल लेमा और पेलिया के अलग होने पर ही खुल सकते हैं।

स्पाइक में फूल उत्पन्न होने में कई दिन लग जाते हैं और तब कहीं पूर्ण फूल तैयार हो पाता है। जब फूल अपनी परिपक्व स्थिति में आता है तो उसमें सेचन क्रिया प्रारम्भ होती है। गेहूँ के पौधों में स्वयं सेचन ही प्रधान होता है। अधिक प्रतिशत तक यही क्रिया सम्पादित होती है किन्तु कुछ अंश में परसेचन भी हो जाया करती है। हावर्ड के अनुसार परसेचन बिहार में पूसा से अधिक पंजाब में लायलपूर में होती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मेकरोनी या ड्यूरम गेहूँ में परसेचन की मात्रा अधिक होती है। परसेचन क्रिया गरम प्रदेश में सर्द जल-वायु की अपेक्षा अधिक होती है।

गेहूँ का पौधा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और विभिन्न प्रकार की जलवायु में उगाया जा सकता है। "रूस" में विज्ञान के आधार पर इसे उस समय भी उगाया जाता है जबकि जलवायु अंकुरण तथा बढ़ाव के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होती है। यह विधि वर्नलाइजेशन कही जाती है, किन्तु भारतवर्ष में इस विधि का अधिक अधिक प्रचार नहीं है। यहाँ इसे उन्हीं स्थानों पर उगाया जा सकता है जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है। अधिक नम और गरम स्थानों पर इसकी उपज नहीं ला सकती। इस प्रकार भारतवर्ष का सम्पूर्ण बंगाल का नम भाग और दक्षिण भारत गेहूँ उगाने से वंचित रह जाता है। केवल उत्तर भारत में ही तथा मध्य भारत के कुछ भाग में गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है।

विभाजन—गेहूँ की कुल १८ क़िस्में हैं जिन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। ये हैं—

१. प्रथम श्रेणी—इस श्रेणी में जंगली और उत्पन्न की जाने वाली किस्में सम्मिलित होती हैं जिनमें क्रोमोसोम (Chromosomes) की संख्या १४ होती है।

जंगली किस्में— ट्रिट्रिकम एजिलोप्वाडिस (Triticum algilopoides)
ट्रि० थासोन्दर (T. thasonder)
उत्पन्न की जाने वाली किस्में—ट्रि० मानोकोकम (T. monococcum)

२. द्वितीय श्रेणी—इस श्रेणी में भी प्रथम श्रेणी की भाँति जंगली और उगायी जाने वाली जातियाँ शामिल हैं। इस श्रेणी को इमर (Emmer) श्रेणी कहते हैं जिसमें २८ क्रोमोसोम पाये जाते हैं।

जंगली किस्में— ट्रि० डिकोक्वायडिस (T. dicoecoides)
ट्रि० टिमोफेवी (T. timophevi)
उगायी जाने वाली किस्में—ट्रि० ड्यूरम (T. durum)
ट्रि० पर्सिकम (T. persicum)
ट्रि० डिकोकम (T. dicoccum)
ट्रि० पोलोनिकम (T. polonicum)
ट्रि० टर्जिडम (T. turgidum)
ट्रि० आरियेनटेल (T. orientale)
ट्रि० पीरोमिडल (T. pyramidale)

३. तृतीय श्रेणी—इस श्रेणी को रोटी वाली श्रेणी या वल्गेयर (Bread or vulgare) कहते हैं। इसमें जंगली किस्में नहीं पाई जातीं। क्रोमोसोम की संख्या ४२ होती है।

उगायी जाने वाली किस्में—ट्रि० वल्गेयर (T. vulgare)
ट्रि० कम्पैक्टम (T. compactum)
ट्रि० स्पेल्टा (T. spelta)
ट्रि० बेविलोव (T. vovilov)
ट्रि० मैका (T. macha)
ट्रि० स्फैरोकाकम (T. spharococcum)

उपर्लिखित किस्मों में से केवल पाँच ही भारतवर्ष में उत्पन्न की जाती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ट्रि० ड्यूरम—यह गेहूँ मैकोर्नी नाम से प्रसिद्ध है। इसे बम्बई और मध्य-प्रदेश में उगाया जाता है।

ट्रि० वल्गेयर—यह साधारण गेहूँ है जो उत्तर भारत में बहुत प्रचलित है।

ट्रि० डिकोकम—इसे इमर गेहूँ कहा जाता है। इसे मद्रास, मैसूर और बम्बई में अधिकतर उत्पन्न किया जाता है।

ट्रि० स्फैरोकाकम—यह बौना गेहूँ है जिसके पौधे अन्य किस्मों की अपेक्षा कम ऊँचाई के होते हैं।

ट्रि० टर्जिडियम—इसे शंकु गेहूँ (Cone wheat) कहते हैं।

उन्नत जातियाँ—गेहूँ की नस्ल तैयार करने का कार्य इस शताब्दी के प्रथम चरण में कृषि अनुसन्धान परिषद पूसा (बिहार) में प्रारम्भ हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य गेहूँ की उन्नत जातियाँ तैयार करना और उनसे देश में गेहूँ की उपज में वृद्धि करना ही था। इस केन्द्र पर एन० पी० ४ और एन० पी० १२ जैसी गेहूँ की उन्नत जातियाँ निकाली गईं। सन् १६३४ ई० में बिहार में भूकम्प आ जाने के कारण यह केन्द्र बिहार से नई देहली स्थानान्तरित कर दिया गया जो अब भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद नई देहली के नाम से विख्यात है। कृषि अनुसन्धान का कार्य इस केन्द्र पर भी पूर्ववत चलता रहा और गेहूँ के साथ-साथ अन्य कई फसलो की भी उन्नत जातियाँ निकाली गईं। ये जातियाँ न्यू पूसा (New pusa) के नाम से पुकारी जाती हैं। जिन्हें संक्षेप में एन० पी० कहा जाता है। उन्नत जातियों का यह नाम नया है, पहले इन्हें पूसा (p) या इम्पीरियल पूसा (I. P.) कहा जाता था। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद नई देहली केन्द्र पर तैयार की गई उन्नति जातियों में एन० पी० ५२, एन० पी० १२५, एन० पी० १६५, एन० पी० ७१०, एन० पी० ७१८, एन० पी० ७६०, एन० पी० ७७० और एन० पी० ८०६ अधिक प्रसिद्ध हैं। इस केन्द्र के अतिरिक्त कृषि अनुसन्धान का कार्य कुछ राज्यों में भी स्वतंत्रतापूर्वक शुरू किया गया जिसमें पंजाब, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, हैदराबाद आदि को अधिक सफलता मिली। पंजाब में ८ ए०, ६ डी०, सी० ५१८ और सी० ५६१ किस्में अधिक प्रचलित हैं। उत्तरप्रदेश में कानपुर १३ बम्बई में निफाद ४ और मध्यप्रदेश में ए० ११५ और ए० ६० जातियाँ स्थानीय कृषि विभागों द्वारा तैयार की गई हैं।

उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के लिए नीचे लिखी उन्नत जातियों के उगाने की सिफारिश की गई है। मैदानी भागों के सिंचित

क्षेत्रों में—एन० पी० १२, एन० पी० ५२, एन० पी० १२५, एन० पी० १६५, के० १३, सी० ५६१, ६—डी और ए० ओ० ६८। मैदानी भागों के असिंचित क्षेत्रों में—एन० पी० १२, एन० पी० ५२, एन० पी० १२५ के० १३, सी० ४०६, सी० ५६१। पर्वतीय भागों के सिंचित क्षेत्रों में—एन० पी० ४ और असिंचित क्षेत्रों में एन० पी० ४ और सी० ५६१। इलाहाबाद के लिए एन० पी० १२५, एन० पी० १६५ और के० १३ विशेष उपयुक्त हैं। एन० पी० ४, एन० पी० ५३, एन० पी० १६५ और सी० ५६१ जातियाँ गेहूँ की उन्नत जातियाँ हैं और स्थानीय जातियो की अपेक्षा अधिक उपज देती हैं, किन्तु इन पर रस्ट और स्मट (Rust & Smut) रोगों का अधिक प्रभाव पड़ता है जिससे कृषकों को अधिक हानि उठानी पड़ जाती है। उन्नत जातियों के इन अवगुणों को दूर करने के लिए कृषिविशारदों ने भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद नई दिल्ली में अनुसन्धान करने प्रारम्भ किये और फलतः कुछ ऐसी जातियाँ तैयार की गई जो रस्ट और स्मट के कुप्रभाव से वंचित रह सकें। ऐसी जापियो में एन० पी० ७१०, एन० पी० ७१८, एन० पी० ७६१ और एन० पी० ७७० अधिक प्रसिद्ध हैं। एन० पी० ७१८ और एन० पी० ७७० दो ऐसी जातियाँ हैं जो रस्ट और स्मट के प्रभाव को सहन करने के साथ ही गिरने भी नहीं पातीं।

कुछ उन्नत जातियों का विवरण—**एन० पी० ४**—यह गेहूँ बेटूँड़दार और मजबूत तने का होता है। इसके ग्लूम (Glumes) सफेद होते हैं जिससे इसे एन० पी० १२ से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। इस किस्म में रस्ट सहन करने की क्षमता होती है। यह स्थानीय जातियों से अधिक उपज देती है और इसके दाने गुण में भी श्रेष्ट होते हैं। बालियाँ औसतन लम्बी होती हैं और दोनों सिरों की ओर पतली होती जाती हैं। टूँड़ न होने के कारण इस पर चिड़ियों का आक्रमण अधिक होता है।

एन० पी० ७१०—यह किस्म उत्तरी भारत के मैदानी भागों के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई है। यह अधिक उपज देती है। लूज स्मट का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किसी सीमा तक यह रस्ट को भी सहन करने की क्षमता रखती है।

एन० पी० ७१८—यह किस्म एन० पी० ७१० की भाँति लूज स्मट अवरोधी और रस्ट को सहन करने की शक्ति रखती है और साथ ही इसके पौधों पर गिरने (Lodging) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एन० पी० ७६१—यह किस्म भी रोग अवरोधी किस्मों में आती है। यह लूज स्मट अवरोधी है और रस्ट को सहन करने की क्षमता रखती है।

एन० पी० ७७०—इसमें उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ न गिरने का भी गुण पाया जाता है।

एन० पी० ८०९—यह किस्म लूज स्मट अवरोधी है। उत्तर भारत में यह अधिक सफल सिद्ध हुई है। इसे तीनों रस्ट के प्रभाव सहन करने के उद्देश्य से तैयार किया गया है।

इन जातियों के अतिरिक्त बम्बई, पंजाब और मध्यप्रदेश में कुछ ऐसी जातियाँ तैयार की गई हैं जिनमें रस्ट रोग सहन करने की क्षमता है। ये जातियाँ बम्बई के लिए केनफाद गेहूँ २१, २५, २८ और ३२ देवेलोपेदी पंजाब में सी० २५०, सी० २५३ और सी० २८५ तथा मध्यप्रदेश में एच वाई० ११, एच वाई १२ और एच ६५ हैं।

खेत की तैयारी—जिस खेत में गेहूँ बोना हो उसकी अधिक तैयारी की जाती है। गेहूँ की खेती के लिए तीन तरह के खेत चुने जाते हैं।

१. खरीफ की जल्दी पकने वाली फसल को काटकर,
२. पलिहर खेत रखकर,
३. हरी खाद डाल कर,

पहले तरह के खेत में खरीफ के मौसम में मूंग, उर्द, मक्का, ज्वार आदि बोकर शीघ्र ही काट लेते हैं और मिट्टी उलटने वाले हल से एक या दो जुताई कर देते हैं। इसके बाद खाद की अच्छी मात्रा खेत में छोड़ी जाती है और देशी हल से इसे मिलाते हैं। इसके लिए ४-५ जुताई काफी होती है। एक जुताई के बाद पाटा दिया जाना चाहिए जिससे मिट्टी भुरभुरी हो जाय।

रबी के दिनों में अरहर या गन्ने की फसल को काट कर खेत की गर्मी की जुताई करते हैं। यदि सिंचाई की सुविधा हो, तो उसी समय सिंचाई करके खेत को मिट्टी पलटने वाले हल से जोत देते हैं। पानी की सुविधा होने पर बरसा के शुरू होने पर जुताई प्रारम्भ करते हैं। बरसात में जब-जब निखार हो तब-तब खेत को जोतते रहना चाहिए। इस समय यदि अरहर या गन्ने की सूखी जड़ें खेत के ऊपरी सतह पर दिखाई दें तो उन्हें चुन कर उठा लेना चाहिए और एक जगह इकट्ठा कर देना चाहिए। बरसात के बीतने पर खेत में लगातार ७-८ जुताई करते हैं। इन

जुताइयों में नमी को बनाये रखने और मिट्टी को भुरभुरी बनाने के लिए पाटे का प्रयोग किया जाता है। जब खेत की मिट्टी इतनी भुरभुरी हो जाय कि पानी से भरा घड़ा ३-४ फीट की ऊँचाई से गिराने पर न फूटे तो समझना चाहिए कि अब मिट्टी बोआई के योग्य हो गई है। गोरखपुर के क्षेत्र में किसान इसी ढंग से खेत की तैयारी की जाँच करते हैं।

रबी की फसल काटकर मिट्टी पलटने वाले हल से एक या दो जुताई करके गर्मी में खेत को छोड़ देते हैं। जरूरत समझ कर बीच में भी जुताई की जा सकती है। शुरू बरसात में खेत को एक या दो बार जोत कर सनई का बीज छिड़क देते हैं। जहाँ नहर या पानी की सुविधा होती है, वहाँ बरसात के पहले ही बोआई कर देते हैं। इससे लाभ यह होता है कि सनई पलटाई के बाद गेहूँ की बोआई तक खेत में अच्छी तरह सड़ कर मिट्टी में मिल जाती है। जब पौधा २-३″ का हो जाय तो उसे पाटा से गिरा देना चाहिए। फिर मिट्टी पलटने वाले हल से खेत को इस तरह जोत देते हैं कि सनई की फसल मिट्टी से ढक जाय। यह जुताई १३ सितम्बर तक हो जानी चाहिए। खेत को १५ दिनों बाद एक बार और उसी हल से जोत देना चाहिए ताकि सनई का कोई भाग सड़े बिना न रहे। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पलटाई के बाद खेत में काफी नमी हो। नमी न रहने पर खाद के न तैयार होने का डर होता है। अक्टूबर के पहले सप्ताह में दूसरी पलटाई करके लगातार जुताइयाँ शुरू कर देते हैं। ६-७ जुताई के बाद खेत तैयार हो जाता है।

बीज बोने का समय—जब खेत तैयार हो जाता है तो गेहूँ की बोआई शुरू कर देते हैं। बोआई १५ अक्टूबर से नवम्बर के पहले सप्ताह तक होती है। शीघ्र बोने वाला बीज अक्टूबर के तीसरे-चौथे सप्ताह तक बो देना चाहिए। उत्तम बोआई चौथे सप्ताह में होती है। खेत में अधिक नमी रहने पर खेत के तैयार होने में कभी-कभी देरी हो जाती है। ऐसे खेतों की बोआई नवम्बर के पहले सप्ताह तक हो जानी चाहिए।

बीज और बोआई—खेत में जहाँ तक हो अच्छे बीजों को ही बोना चाहिए। अच्छे बीजों की पहचान के लिए एक ढंग अपनाया जाता है। इस ढंग में बीजों को अच्छी तरह साफ करने के बाद दो-तीन गमलों में अलग-अलग नमूने के बीज बो देना चाहिए। बीजों का जमाव १०० में यदि ८०-६० तक होता है तब तो वह बोया

जा सकता है किन्तु इससे कम संख्या में जमने वाले बीज को न बोना ही ठीक होगा। बीजों की जाँच करके बोआई शुरू कर देनी चाहिए।

बोआई करने के कई ढंग हैं। जिस स्थान पर जिस ढंग की बोआई ठीक पड़ती है, उसी को काम में लाया जाता है। पहला ढंग छिटकवाँ है। इसमें खेत को जोत कर बीज छिड़क दिया जाता है। इस ढंग में बोआई तो जल्दी ही और कम मेहनत में हो जाती है परन्तु बीजों की आपस की दूरी ठीक नहीं पड़ती। कहीं घनी तो कहीं पतली बोआई हो जाती है। इसलिए इसका अधिक प्रचार नहीं है। नम और तर स्थानों पर इसे अधिक काम में लाते हैं। जिस खेत में नमी अधिक हो और बोआई का समय बीता जा रहा हो तो वहाँ बीज छिटक कर ही बोते हैं। छिटकवाँ ढंग में बीज की मात्रा अधिक लगती है।

बोआई का दूसरा ढंग हल के पीछे कूँड़ों में बोना है। इसमें हल चलाया जाता है और कूँड़ बनती जाती है। इसी कूँड़ में एक आदमी बीज की झोली कन्धे में टाँग कर बीज गिराता जाता है। इसमें एक हल पर दो आदमी तो लगते हैं पर बीज उचित गहराई पर गिराया जा सकता है। कहीं-कहीं हल में एक खोखला बाँस का टुकड़ा इस प्रकार लगा होता है कि ऊपर से बीज गिरने पर वह हल के ठीक पीछे कूँड़ में गिरता है। इसमें हल वाला हल चलाता है और झोली को कन्धे में लटका कर बाँस के ऊपरी भाग में गिराता जाता है। यह ढंग 'नाई का ढंग' कहा जाता है। इसमें दो आदमियों की जगह एक ही आदमी काम करता है और बीज भी उचित मात्रा और गहराई में छोड़ा जाता है। यह ढंग हमारे यहाँ बहुत प्रचलित है। इसमें खर्च कम पड़ता है और कम मेहनत में ही काम हो जाता है। इन दोनों ढंगों में 'नाई वाला ढंग' अधिक उपयोगी है।

यदि थोड़े से खेत में बोआई करनी हो तो खुर्पी से बीज बोते हैं। इसमें खेत को क्यारियों में बाँट देते हैं। इन क्यारियों की लम्बाई-चौड़ाई खेत की लम्बाई-चौड़ाई पर निर्भर करती है। क्यारी बना कर उसमें कतारें बना ली जाती हैं। कतारों के बनाने में रस्सियों की मदद लेते हैं। एक कतार से दूसरी कतार की दूरी ८"-९" होनी चाहिए। इन कतारों में बीज ४"-६" की दूरी पर २"-३" की गहराई पर बोना चाहिए।

बोआई का नया ढंग बीज बोने की मशीन से है। इस मशीन का प्रयोग बड़े-बड़े खेतों या फार्मों में किया जाता है। इसमें ऐसा प्रबन्ध होता है कि बोने वाला कल

में भर दिया जाता है और वह कतारों में उचित मात्रा में गिरता जाता है। कतारों की आपस की दूरी बढ़ाई-घटाई जा सकती है। इसमें २ आदमी और १ जोड़ी बैल लगते हैं। बीजों को जितनी गहराई पर छोड़ना होता है, उसका इन्तजाम होता है। इस तरह एक ही बार पाँच कतारों की बोआई हो जाती है। मशीन की मदद से बोआई करने पर मिहनत और समय दोनों की कमी हो जाती है।

बीज की मात्रा—बीज की मात्रा बोआई के ढंग और खेत की हालत पर निर्भर करती है। छिटकवाँ और कूँड़ की विधि से बीज बोने पर प्रति एकड़ बीज अधिक लगता है, पर खुरपी द्वारा बोआई करने पर बीज बहुत ही कम लगता है। बीज वाली मशीन द्वारा बोआई करने पर भी बीज अधिक नहीं लगता। पहले ढंग में ४०-५० सेर गेहूँ एक एकड़ में लगता है पर खुर्पी से ३०-३५ सेर बीज काफी होता है। खेत की हालत का मतलब मिट्टी की नमी से है। अगर मिट्टी में काफी नमी है तब तो बीज अधिक छोड़ना पड़ता है पर कम नमी यानी उचित नमी पर बीज की मात्रा कम लगती है। जिस खेत में काफी तरी हो उसमें ५०-५५ सेर गेहूँ एक एकड़ में बोते हैं पर उचित हालत में ४०-५० सेर ही डाला जाता है। नमी के लिहाज से उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में ५०-५५ सेर, बीच के जिलों में ४५-५० सेर और पश्चिम जिलों में ४०-४५ सेर बीज एक एकड़ में लगता है।

खाद—यदि खेत में हरी खाद का प्रयोग किया गया है तब तो फसल को खाद की फिर जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि यह फसल की उन सभी जरूरतों को पूरा कर देती है जो गेहूँ के पौधे को जरूरी होती हैं। गोबर की खाद भी लाभदायक साबित हुई है। यह अच्छी तरह सड़ा कर १००-१२५ मन तक हर एकड़ में डाली जाती है। भेड़-बकरी की मेंगनी या कूड़ा-करकट से बनी कम्पोस्ट भी अच्छा काम दिखलाती है। इन खादों को खरीफ की फसल लेने के पहले ही खेत में डाल देना चाहिए ताकि रबी की फसल को वह मिट्टी में अच्छी तरह मिलकर फायदा दे सकें। बिस्ठा या मैला की खाद, हड्डियाँ और खलियाँ भी खेत की मिट्टी में मिलानी चाहिए ताकि वह काफी उपजाऊ हो सके। खाद देने के साथ-साथ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वह भूमि में अच्छी तरह मिली है या नहीं। इसके लिए खाद को खेत की बोआई की तैयारी के समय ही डालना चाहिए।

बनावटी खादों का प्रयोग तो अधिकतर खड़ी फसल में किया जाता है।

अमोनियम सल्फेट का प्रयोग मिट्टी में मिलाकर खड़ी फसल में होता है। मिट्टी मिलाने में तीन भाग मिट्टी और एक भाग खाद का रखते हैं। इसे खेत में छिटक कर सिंचाई कर देते हैं। सोडियम नाइट्रेट और शोरा का भी इस्तेमाल खड़ी फसल में किया जाता है। किन्तु बनावटी खादों के लगातार प्रयोग से खेत के ऊसर होने का डर होता है। इसलिए भरसक कोशिश करनी चाहिए कि बनावटी खादों की जगह हरी खाद, गोबर और कम्पोस्ट से ही काम निकालना चाहिए।

मिलवाँ फसल—बहुधा गेहूँ की फसल अकेले ही बोई जाती है किन्तु कभी-कभी अन्य फसलों के साथ भी इसे बोते हैं। जौ, चना, सरसों, तीसी, लाही, राई आदि फसले इसमें मिलाकर बोई जाती हैं। जौ के साथ बोने पर इसे गुजई और चने के साथ बोने पर गुहचनी कहते हैं। गेहूँ के साथ चने की फसल अच्छी आती है। बुन्देलखण्ड की ओर इसे चने के साथ ही बोते हैं।

फसल की सिंचाई—बीज बोते समय खेत की नमी का पूरा ध्यान रखना चाहिए। थोड़ी-सी भी नमी की कमी होने पर बीजों का जमाव ठीक नहीं हो पाता। इसलिए नमी की कमी में एक हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। यह सिंचाई पलेवा कही जाती है। खेत में नमी न होने पर ढेले बड़े-बड़े रह जाते हैं। वे फूटते नहीं। खेत की मिट्टी को भुरभुरी बनाने के लिए नमी का रहना जरूरी होता है। जिस वर्ष वर्षा देर तक होती रहती है, उस वर्ष खेत में काफी नमी मौजूद रहती है परन्तु जब पानी का बरसना पहले ही खत्म हो जाता है तो पटेला करना पड़ता है।

बीज के जम जाने पर जब पौधे ३-४″ के हो जायँ तो पहली सिंचाई करनी चाहिए। यह सिंचाई बोआई के लगभग एक माह बाद की जाती है। यदि बोआई १५ अक्टूबर को की गई है तो १५ नवम्बर तक सिंचाई जरूर ही कर देना चाहिए। बोआई के समय यदि नमी की कमी हो तो जरूरत समझ कर पानी दे देना चाहिए। समय पर फसल को पानी न देने पर पौधे सूखने लगते हैं। खेत की सिंचाई बरहों और क्यारियों में की जाती है। इन बरहे और क्यारियों की लम्बाई-चौड़ाई खेत की हालत और सिंचाई के साधन पर निर्भर करती है। यदि खेत चौरस और समतल हो तो बड़ी आकार वाली क्यारियाँ अच्छा काम देंगी पर ढालवें खेत में छोटी और पतली क्यारियाँ बनाई जाती हैं। इनका आकार सिंचाई के साधन पर भी निर्भर करता है। ढेंकुल, चर्खी आदि से सिंचाई करने पर क्यारियाँ छोटे आकार की बनाई जाती हैं पर रहट, इजिपियन स्क्रू, ट्यूब वेल, नहर आदि साधनों को काम में लाने पर

इनका आकार बड़ा बनाया जाता है। हमारे यहाँ रबी की फसलों की सिंचाई बहुधा रहट और चर्सा या पुर से होती है। इन साधनों में क्यारियाँ औसत दर्जे की बनाई जाती हैं। जब कुएँ में पानी निकट हो और खेत पास ही हो तो क्यारियाँ बड़ी बनाई जाती हैं। इन बरहों और क्यारियों के साथ-साथ नालियों की चौड़ाई भी इन्हीं बातों पर बहुत कुछ निर्भर करती है। पानी की मात्रा खेत की हालत को देखकर कम-अधिक की जा सकती है। जरूरत के अनुसार ही पानी लाभ पहुँचा सकता है।

दूसरी सिंचाई दिसम्बर के समाप्त होते-होते जनवरी के शुरू होने पर की जाती है। यदि जाड़े के दिनों में वर्षा हो जाती है तब तो इस सिंचाई की जरूरत ही नहीं होती, किन्तु वर्षा न होने पर दूसरी सिंचाई करनी पड़ती है। यह सिंचाई पहली सिंचाई की तरह नहीं की जाती। इसमें मामूली ही पानी दिया जाता है। तीसरी सिंचाई उस समय की जाती है जब कि फसल में फूल आने लगें। फूल आते समय जाड़े की वर्षा, जिसे महावट कहते हैं, हानि कर जाया करती है क्योंकि पौधों के फूल झड़ जाया करते हैं। अगर खेत में कुछ नमी हो तो थोड़ा रुक जाना चाहिए और बीजों में जब दूध पड़ने लगे तो सिंचाई कर देनी चाहिए। यह सिंचाई फरवरी के अन्त तक अवश्य ही हो जानी चाहिए। इस तरह गेहूँ की फसल में २-३ सिंचाई करनी पड़ती है परन्तु महावट के हो जाने से कमी भी हो जाती है। जाड़े के दिनों में लगातार कई दिन बादल का घिरा रहना या नमी और तरी का बढ़ जाना फसल को नुकसान पहुँचा सकता है। हरदा या गेरुई नामक रोग गेहूँ की फसल पर ऐसे ही समय में होता है। यह रोग एक तरह के कीटाणुओं द्वारा फैलता है, जो नम वायु के साथ उड़ा करते हैं और मौका पा कर फसलों पर गिर जाते हैं। इनके गिरने से पौधे पर लाल, काले और पीले धब्बे पड़ जाते हैं जो उन्हें कमजोर बना देते हैं। पौधों के कमजोर होने से दाना पतला और चिपटा हो जाता है।

सिंचाई करने में हमारे किसान अभी इन्हीं साधनों को काम में लाते हैं जिससे समय और मिहनत के साथ-साथ खर्च भी अधिक पड़ता है। ढेंकुल, चर्सा, चर्खी आदि की जगह अगर चेन पम्प इजिपियन स्क्रू, बल्देव बाल्टी, सेन्ट्रीफ्यूगल पम्प और ट्यूबवेल का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा हो। इन सभी साधनों में ट्यूब वेल बहुत ही अच्छा और उपयोगी साधन है। इसकी मदद से वर्षा न होने पर भी फसल की सिंचाई आसानी से की जा सकती है। यह एक दिन में तीस हजार गैलन पानी निकाल सकता है। इससे ५००-६०० एकड़ खेत सम्भाला जा सकता

है। यह ५० फीट से ५०० फीट की गहराई तक काम कर सकता है। हमारे किसान अगर एक साथ मिलकर ट्यूब वेल ही का प्रयोग करें तो खर्च कम पड़ेगा और खेती भी अच्छी होगी। जिस जगह नहर का इन्तजाम है वहाँ तो पानी की बड़ी ही सुविधा है पर जहाँ ये नहीं हैं वहाँ भी हमारी सरकार नहर निकालने की कोशिश में है।

फसल की निराई और गुड़ाई—गेहूँ की फसल में यों तो अधिक जुताई करने से घास-फूस उगते ही नहीं पर उग जाने पर उन्हें उखाड़ कर फेंक देना बहुत जरूरी होता है। ये खर-पतवार पौधों की खुराक छीनकर खा जाते हैं और फसल को कमजोर बना देते हैं। इसलिए जब-जब ये खेत में उगें उन्हें निकाल कर फेंक देना चाहिए। इस काम के लिए लोग खुरपी काम में लाते हैं। किन्तु इससे काम अधिक समय और अधिक मिहनत में होता है। इसके लिए एक नया औजार काम में लाना चाहिए। इसका नाम हैरो है। यह कई किस्म का होता है। इसमें तिकोनिया हैरो बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह निराई और गुड़ाई दोनों काम एक ही साथ करता है। गुड़ाई करने से खेत की नमी अधिक देर तक बनी रहती है और मिट्टी के भुरभुरी हो जाने से पौधे की जड़ों के बढ़ने का अवसर रहता है। यह काम सिंचाई के बाद ही होना चाहिए। अगर गेहूँ का खेत बहुत छोटा है तो उसे खुरपी से ही गोड़ देना चाहिए। घास-पात कम हों तो हाथ से भी उखाड़ कर फेंका जा सकता है। पहली निकाई, पहली सिंचाई के बाद करनी चाहिए और उसी समय खेत की मिट्टी को भी कुरेद देना चाहिए। दूसरी सिंचाई के बाद भी एक हल्की गुड़ाई करनी चाहिए। जब फसल में फूल आने लगें तो मिलवाँ फसल के सरसों, मटर आदि उखाड़ लेना चाहिए। यदि इनकी भी फसल लेनी हो तब तो रखा जा सकता है किन्तु इस समय गेहूँ को अकेले ही छोड़ देना अच्छा होता है।

कटाई—गर्मी के शुरू होने पर पछुवा हवा चलने लगती है और तभी पौधा हरे रंग से धीरे-धीरे सुनहले रंग का होता जाता है। पत्तियाँ और डण्ठल पीले रंग के हो जाते हैं और बीज पक कर कड़े हो जाते हैं। जब बालियाँ तोड़ने पर टूटे नहीं सिकुड़ जायँ तो समझना चाहिए कि फसल पक गई है। फसल के पक जाने पर कटाई शुरू कर देनी चाहिए। कटाई का काम सबेरे के समय जब कम धूप हो और हवा भी धीरे-धीरे चलती हो, करना चाहिए। कड़ी धूप में बालियाँ जल्दी टूट जाती हैं और तेज हवा में डण्ठल बिखर जाते हैं। सबेरे के समय फसल काटने में आराम भी रहता है। कटाई हँसिया द्वारा की जाती है। इसमें छोटे-छोटे दाँत

होते हैं जिनके रगड़ से पौधे कट जाया करते हैं। पौधों को काट-काट कर गिराते जाते हैं और एक ओर करके रखते जाते हैं। जब सारा खेत कट जाय तो पौधों को इकट्ठा कर बोझ बना लेते हैं और खलिहान में जमा कर देते हैं।

कटाई की नई विधि मशीन द्वारा काटने की है। इसे 'रीपर' कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। इनमें राजा रीपर और नर्मदा रीपर अच्छे साबित हुए हैं। इन्हें बैलों से चलाया जाता है। दो बैल एक साथ काम करते हैं और बारी-बारी से चार बैल काम में लाये जाते हैं। यह मशीन खड़ी फसल को काटती है और पीछे से मजदूर कटी फसल बटोरते जाते हैं। एक तरह की और मशीन निकाली गई है जो फसल को काटती जाती है और पीछे से बण्डल बनाती जाती है। इसे ग्रेन बाइण्डर कहते हैं। यह इंजिन द्वारा चलाई जाती है और एक दिन में १२-१५ एकड़ खेत काट सकती है। राजा रीपर की कीमत ३००-४०० रु० है। यह १० साल तक अच्छी तरह काम कर सकती है। ये मशीनें जौ, गेहूँ, ज्वार, बाजारा और मक्का की फसल में जितनी खूबी से काम करती हैं, उतनी मटर और चने में नहीं काम करतीं।

कटाई का समय—गेहूँ की फसल १५ मार्च से अप्रैल के पहले सप्ताह तक पक जाती है। पहले की बोई गई फसल चैत में और बाद की वैशाख के पहले पखवारे तक पक जाती है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में फसल बैसाख में तैयार होती है परन्तु पूर्वी और बीच के जिलों में चैत में काटने योग्य हो जाती है। फसल कटने में थोड़ी-सी देरी भी अधिक नुकसान कर सकती है। बालियाँ टूट-कर गिरने लगती हैं और दाने बिखर जाते हैं। इसलिए ठीक समय पर कटाई करनी चाहिए।

मड़ाई—हमारे यहाँ गेहूँ भूमि से १-२" ऊपर से काटा जाता है किन्तु जिस स्थान पर गेहूँ अधिक बढ़ गया हो वहाँ बाली के थोड़ा नीचे से काट कर पुलिया बना लेते हैं और उसे एक स्थान पर बटोर कर फिर खलिहान में जमा करते हैं। नीचे वाला बाकी भाग बाद में काट कर अलग दाँय लेते हैं। बम्बई, हैदराबाद और मध्यप्रदेश में गेहूँ के पौधे को जड़ से ही उखाड़ लिया जाता है और वैसे ही उसकी मड़ाई कर दी जाती है। मड़ाई करने के लिए पहले खलिहान में जमा किए गए बोझों को खोल कर एक स्थान पर गोलाकार रूप में ढेर लगा देते हैं। इस ढेर को तीन-चार दिनों तक धूप में सूखने देना चाहिए। उसके बाद बैलों से या मड़ाई करने वाली मशीन से मड़ाई शुरू करते हैं। बैलों से दाँय या मड़ाई करने पर ढेर में

जिसे लाँक कहते हैं, एक बल्ली गाड़ देते हैं। यह बल्ली लाँक के बीच में रहती है। ५-६ बैलों की कतार दवाँई के काम में लाते हैं पर बैलों की संख्या लाँक के अनुसार बढ़ा-घटा देते हैं। कतार के आखीर वाला बैल बल्ली से बाँध दिया जाता है जिससे लाँक की गोलाई बनी रहती है और बैल भी इधर-उधर नहीं जाने पाते। लाँक को दाँय के लिए बैलों को दाहिने से बाएँ की ओर हाँकते हैं। जब लाँक का ऊपरी हिस्सा कट कर भूसा हो जाता है तो लाँक को उलट कर ऊपर से नीचे कर देते हैं। ऐसा करने से कहीं डण्ठल नहीं रहने पाते और सभी भूसा बन जाते हैं। भूसे को इधर-उधर पलटने के लिए एक प्रकार का औजार काम में लाते हैं। इसे 'पचखा' या 'पंजा' कहते हैं। इसमें बाँस की पाँच तेज अंगुलियाँ लगी रहती हैं। ये अंगुलियाँ एक लम्बे काठ में लगी होती हैं। इन्हें खींचने के लिए बेंट लगा होता है। जब लाँक पूरा भूसा हो जाता है तो उसे एक ओर ऊँची जगह पर जमा कर देते हैं। इसे जमा करने पर गुम्बज के आकार का बनाते हैं ताकि पानी बरसने पर उसका असर भूसे और दाने पर न पड़ सके।

मड़ाई करने वाली मशीन, जिसे थ्रेशर कहते हैं, बैलों द्वारा चलाई जाती है। इसमें एक जोड़ी बैल लगते हैं और आगे-आगे चल कर मशीन को खींचते है। मशीन में गोले-गोले तवे लगते हैं जो दाँतेदार होते हैं और जल्दी ही डण्ठल को काट देते हैं। इस कल से मड़ाई बैलों की अपेक्षा जल्दी हो जाता है और मजदूरी भी कम पड़ती है। हमारे यहाँ अब ऐसी भी मशीनों का चलन हो गया है जो बैलों से न चला कर इंजिनों द्वारा चलाई जाती हैं किन्तु अभी ये बड़े-बड़े फार्मों पर ही प्रयोग की जाती हैं।

उसाई—मड़ाई के बाद लाँक की उसाई की जाती है। उसाई की क्रिया सूप या डलिया की मदद से की जाती है। जब हवा चलती है, तभी हमारे यहाँ उसाई की जा सकती है। पर हवा की चाल जब बहुत तेज या धीमी हो जाती है तो उसाई नहीं हो सकती क्योंकि भूसा उड़कर दूर चला जाता है या दाने से अलग नहीं होता। औसत हवा की चाल में उसाई अच्छी होती है पर ऐसा अवसर बहुत कम आता है। इसलिए कभी-कभी लाँक बरसात के शुरू तक बिना उसाये ही पड़ी रह जाती है जिससे पानी से भूसे और दाने दोनों का नुकसान होता है। थोड़ी बहुत उसाई के लिए कम्बल या चद्दर को पकड़ कर हवा देते हैं और दाने को भूसे से अलग कर लेते हैं। पर ज्यादा लाँक की उसाई के लिए हवा की शरण लेनी पड़ती है पर इसके लिए हवा की इन्तजारी में अधिक समय बिताना पड़ता है।

उसाई के लिए एक मशीन काम में लाई जाती है जिसे विनोअर कहते हैं। इसमें एक पंखा लगा होता है जो एक हैण्डिल (हत्था) द्वारा चलाने पर तेजी से घूमता है और हवा पैदा करता है। पंखे के सामने एक आदमी डलिया में लाँक उठा कर गिराता जाता है और दाना तथा भूसा अलग होता जाता है। हत्थे को चलाने के लिए एक आदमी की ज़रूरत होती है। दो आदमी अगर बारी-बारी से काम करें तो आसानी से काम हो सकता है। ऑलपैड थ्रेशर नामक एक मशीन मड़ाई करने का काम बहुत जल्दी करती है।

अनाज रखना—खलिहानों में जब दाना साफ हो जाता है तो उसके कूड़े-करकट को साफ कर उसे धूप मे अच्छी तरह सुखाते हैं। दाना खूब सूख जाने पर बोरो में कस कर भरते है और उन्हें अच्छी तरह सिल देते हैं। सिलने के बाद गाड़ी पर लाद कर घर लाते हैं। अगर बाजार में बेचना हो तब तो अनाज को साफ कर मण्डी ले जाते हैं और अच्छा भाव-ताव कर बेच देते हैं। जब अनाज रखना हो तो उसके लिए गोदाम या बखार बनाई जाती है। गोदाम या बखार ऐसी जगह पर होनी चाहिए जहाँ की भूमि सूखी और ऊँची हो ताकि नमी का थोड़ा-सा भी असर न पहुँच सके। गोदाम की सतह को खूब सुखा कर तारकोल का लेप कर देते हैं। इससे हानि पहुँचाने वाले कीड़ों का हमला नहीं होने पाता। फर्श अगर पक्की कर दी जाय तो और अच्छा हो। फर्श पर सूखा भूसा लगभग २″-३″ की ऊँचाई तक रखते हैं और उसके बाद बोरों की छल्लियाँ रखते जाते हैं। हर छल्ली के ऊपर एक के बाद दूसरी रखते जाना चाहिए। दीवारों की ओर भी भूसा रख छोड़ना चाहिए जिससे दीमक आदि न लग सके। जब सारी छल्लियाँ रख दी जायँ तो ऊपर से १ फुट भूसे की तह से उसे ढक देना चाहिए। गोदाम में खिड़कियों आदि का प्रबन्ध होना चाहिए। यदि मकान खपड़ैलेदार हो तो उसे बरसात के दिनों में चूना नहीं चाहिए। उसकी छवाई मजबूत होनी चाहिए क्योंकि गोदाम में थोड़ी-सी भी नमी नुकसान कर सकती है।

अनाज रखने का दूसरी विधि खत्तियों में रखने की है। इसके लिए जमीन पर ऊँचा स्थान चुन कर गड्ढा तैयार करते हैं और उसे सीमेन्ट से पक्का बना देते हैं। कहीं-कहीं खत्तियाँ कच्ची भी बनाई जाती हैं परन्तु ये पहली से अच्छी नहीं पड़तीं। इन खत्तियों में अनाज भर देते हैं और फिर इन्हें काठ के पटरों या ईंटों आदि से ढक देते हैं। अगर खत्ती मकान के अन्दर है तब तो वर्षा और धूप से रक्षा
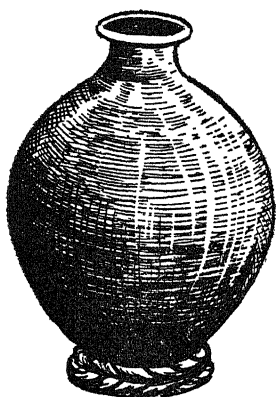
गेहूँ के दाने रखने का घड़ा—चित्र २२
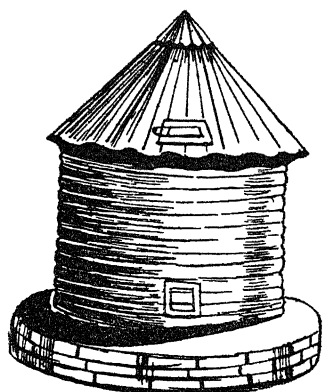
खत्तियाँ—चित्र २३

रहती है पर मैदानों में घर से बाहर बनी खत्ती को जमीन के ऊपर इस हिसाब से बना देते हैं कि उसका रूप गुम्बज की तरह हो जाय। ऐसा करने से पानी वहाँ रुकता नहीं बल्कि छलक कर बह जाता है। बीज को मिट्टी के बर्तनों में भी रखते हैं और इन्हें बन्द करके ऐसी जगह रख देते हैं जहाँ नमी न हो। इन बर्तनों को भूसों से ढक कर बखारों में भी रखने की चलन है पर इससे बर्तनों के फूट जाने का डर रहता है। परन्तु सम्भाल कर रखने से यह ढंग भी अच्छा पड़ता है। भूसा रखने के लिए गोदामों में ही अच्छा पड़ता है किन्तु यहाँ उसी हालत में रखा जाता है जब कि भूसे का प्रयोग तब तक न हो जब तक उसमें अनाज रहे। इस-लिए बराबर काम में लाने वाले भूसे को अलग कमरे में या खोंप आदि में रखना चाहिए। भूसे के साथ भी यह ख्याल रखना चाहिए कि वहाँ नमी न पहुँच सके। खोंप, टट्टियों की
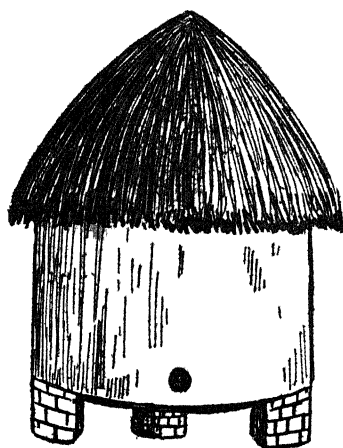
भूसे का खोंप—चित्र २४

मदद से गुम्बज के आकार का बनाया जाता है। उसमें भूसा रखने और निकालने का इन्तजाम रहता है। हवा और पानी से बचाव रहता है। भूसा रखने के लिए अलग कच्चे या पक्के घर भी बनाये जाते हैं जिनमें नमी और हवा के बचाव का काफी अच्छा प्रबन्ध रहता है।

अनाज रखने के लिए एक नया ढंग चलाया गया है। इसमें लोहे की बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनाई जाती हैं और इनमें अनाज भर कर रख दिया जाता है। इन कोठियों को 'बिन्स' कहते हैं। इनमें अन्न रखने से नमी का असर नहीं हो पाता। घुनों के न लगने के लिए अनाज में नेप्थलीन की गोलियाँ रख देते हैं। पारे का एक नया ढंग और निकाला गया है जिसमें अनाज के खराब होने का जरा-सा भी भय नहीं रहता पर महँगा पड़ता है।

पैदावार—गेहूँ की फसल सभी जगह एक ही उपज नहीं देती। स्थान, खाद की मात्रा, सिंचाई, भूमि के उपजाऊपन आदि कई बातों पर फसल की पैदावर निर्भर करती है। औसत गेहूँ एक एकड़ में २०-२५ मन पैदा होता है। उन्नतिशील ढंग से फार्मों आदि पर तो ५०-५५ मन एक एकड़ में गेहूँ पैदा किया गया है पर साधारणतया हमारे देश के किसान एक एकड़ में ६-१० मन गेहूँ ही उगा पाते हैं। शाहजहाँ पुर के फार्म पर सन् १९१५-२२ में जो गेहूँ उपजाया गया, उसकी औसत उपज ३०·३ मन प्रति एकड़ थी पर आज वही बढ़ कर ५०-५० मन प्रति एकड़ हो गई। इससे यह जानकारी होती है कि गेहूँ की पैदावार दिनों दिन बढ़ती जा रही है और आशा है कि हमारे किसान यदि नये ढंगों और नई कलों का इस्तेमाल करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी ही इसकी पैदावार दुगुनी हो जाय। भूसा प्रति एकड़ ४०-५५ मन होता है।

गेहूँ के फसल की बीमारियाँ और कीड़े—गेहूँ की फसल की खतरनाक बीमारी हरदा, गेरवी, गेरू या रतवा होती है, जिसके बारे में हमने पिछले पृष्ठों में थोड़ा उल्लेख किया है। यह अधिक नमी होने पर फसल पर हमला करता है। अधिकतर जाड़े में महावट के समय ही फसल पर लाल, काले, गेरुवे, पीले आदि रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। ये धब्बे पत्तों और तनों के बाद बालियों पर पड़ जाते हैं और बीज
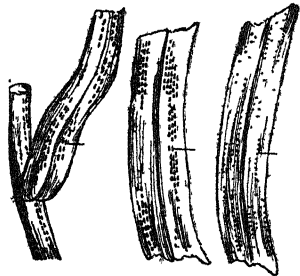
गेहूँ की गेरुई—चित्र २५

पतला हो जाता है। इस रोग को दूर करने के लिए वे पौधे, जिन पर यह बीमारी असर कर गई होती है, उखाड़ कर जला देते हैं पूसा० नं० ५२, १११ और १६५ ऐसी जातियाँ हैं जिन पर इसका असर कम होता है। फसल को अधिक नमी से बचाने पर इस बीमारी का कम डर रहता है।

कड़वा या कर्गी—गेहूँ की फसल पर लगने वाला यह दूसरा रोग है। इसमें बाली का दाना काले बुरादे से भर जाता है। इस रोग का असर फसल पर तुरन्त ही नहीं पड़ता। यदि एक पौधे का कोई बीज इस रोग का शिकार हो जाता है और वही दूसरे साल खेत में बोया जाता है तो उस बीज से जमा पौधा इसी बीमारी में पड़ जायगा। इससे छुटकारा पाने के लिए वैसे बीज बोना नहीं चाहिए। बोते समय सभी बीजों को तूतिया के घोल में भिगो लेना चाहिए। तूतिया बीज के इस असर को दूर कर देता है। इसके घोल को तैयार करने में १ छटाँक तूतिया को चार सेर पानी में घोलते हैं। यह घोल गर्म करके बनाया जाता है। इसे १ मन बीज पर छिड़क-कर इस तरह उलटते-पलटते हैं कि सभी बीज घोल से भिग जायँ। भिग जाने के बाद बीज को धूप में सुखा कर बो देना चाहिए। इसमें एक बात से सावधान रहना चाहिए कि तूतिये का असर खाने-पीने वाली चीज पर न हो नहीं तो यह नुकसान कर जा सकता है क्योंकि यह जहर है। इसे दूर करने के लिए एक बात और करनी चाहिए कि फसल में जो पौधा रोगी हो उसे सावधानी से तोड़कर जला देना चाहिए। इससे यह रोग बढ़ने नहीं पाता। एन० पी० ७१० और ७१८ के खेत में बोने से इस रोग का डर कम रहता है।

कड़वा रोग—चित्र २६
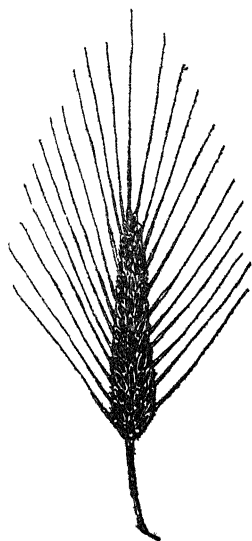
कीड़े—गेहूँ के हरे पौधे में एक प्रकार का कीड़ा लगता है जो डण्ठल में छेद कर देता है। इसका रंग घास के रंग से मिलता-जुलता है। इसीलिए जल्दी पह-चाना नहीं जाता। इस कीड़े की मादा पत्तों पर अपना अण्डा देती हैं। जो पौधा इस रोग का रोगी हो जाय उसे उखाड़ कर दूर फेंक देना चाहिए या जला देना चाहिए। यह कीड़ा बोरर कहलाता है।

दीमक एक दूसरा कीड़ा है जो हरे पौधों को काट कर उन्हें बर्बाद कर देता हैं। इसमें एक रानी होती है जो बहुत अण्डे एक ही साथ देकर दीमकों की संख्या बहुत बढ़ा देती है। इन्हें दूर करने के लिए खेत में नीम की खली डाली जाती है। सिंचाई कर देने पर ये मर जाते हैं। खेत में कच्चे गोबर या बिना सड़ी खाद नहीं डालनी चाहिए। बोआई के समय यदि अधिक नमी या सर्दी हो तो दीमक के हमले का डर कम रहता है।
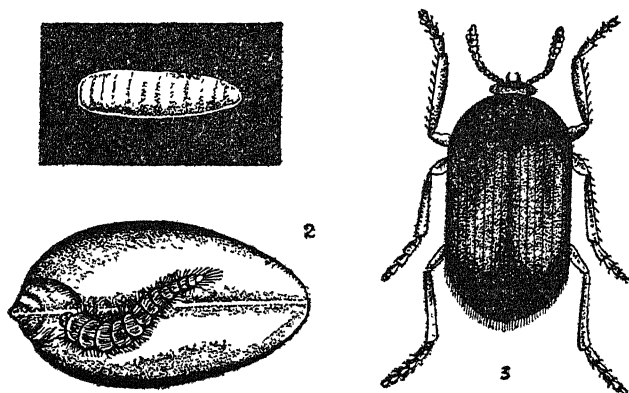
१. लार्वा, २. गिड़ार और ३. प्रौढ़ घुन गेहूँ का घुन—चित्र २७

गेहूँ के दानों में घुन का असर अक्सर देखा जाता है। ये गोदाम या बखार में रखे गये अन्न पर चोट करते हैं और उनमें जाकर सारे बीज को भीतर ही भीतर खोखला कर देते हैं। घुन तीन तरह के पाये जाते हैं। (१) सूँड़ वाला, (२) बिना सूँड़ वाला और (३) खपरा। ये तीनो ही अनाज को नुकसान पहुँचाते हैं।

वीभिल नामक एक और कीड़ा पत्तियों में पाया जाता है। यह अनाज को एक से दूसरी ओर छेद कर देता है और बीज बेकार हो जाता है। इसे दूर करने के लिए गैमेक्सिक की गैस पैदा की जाती है और गोदाम के रोशनदानों को बन्दकर के धुएँ की मदद से उन्हें मारा जाता है। समय-समय पर गोदाम को साफ करना जरूरी होता है।

फसल की हेर-फेर—हेर-फेर का मतलब एक फसल के बाद दूसरी फसल का बोना है। अगर एक फसल के बाद दूसरी वैज्ञानिक आधार पर बोयी जाती है तो पैदावार अच्छी होती है। हर दाल वाली फसल के बाद दाने वाली फसल बोना चाहिए। झकड़ा जड़ के बाद मूसला जड़ का मिट्टी में होना जरूरी होता है क्योंकि पहली जड़ मिट्टी के ऊपरी सतह की ही खुराक लेती है जबकि दूसरी मिट्टी के नीचले सतह से लेती है। हर दो-तीन साल के बाद खेत पलिहर छोड़ना चाहिए। चरी और हरी खाद वाली फसलों के बोने से आगे बोई जाने वाली फसल अधिक मात्रा में खुराक पाती है। वैसे ही भारी फसल के बाद हल्की फसल के बोने मे दूसरी में खाद नहीं देनी पड़ती है। इन्हीं बातों के आधार पर हमारे कृषि-विज्ञान के पडितों ने कुछ फसलों के हेर-फेर बनाये हैं।

दो साल	मक्का—	जौ —	परती—	गेहूँ
	ज्वार-अरहर—		गेहूँ	
	धान —	गेहूँ —	मड़ुवा	
तीन साल	कपास—	गन्ना —	गेहूँ	
	गन्ना—	गेहूँ—	धान	
	गन्ना—	गेहूँ—	सनई	

गेहूँ की लेन-देन—गेहूँ को पक जाने के बाद बेचते हैं परन्तु अधिकतर किसान अपने साल भर खर्च के लिए ही गल्ला पैदा कर पाते हैं। जिनका गल्ला साल भर के खर्च से अधिक होता है, वे खलिहान में ही आढ़तियों को तौल देते हैं। किन्तु इसमें उन्हे अधिक लाभ नहीं हो पाता। खलिहानों में बीज आ जाने पर भाव यों ही गिर जाता है और दूसरे बनिये भी अपनी चाल चलकर भोले किसान को मूड़ लेते हैं। किसान को इस मामले में बहुत सावधान रहना चाहिए। उसे अच्छी तरह भाव समझ लेना चाहिए और तब किसी के हाथ बेचना चाहिए। अच्छा हो, कुछ दिन रखकर अनाज बेचा जाय। इससे भाव चढ़ जाता है और अधिक लाभ होता है। यहाँ हम गेहूँ के एक एकड़ का लेखा-जोखा देखेंगे।

गेहूँ का लेखा-जोखा—

१. रबी की फसल के कटने के गर्मी की एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल द्वारा	एक हल, २ बैल और दो आदमी	१०)

२. हरी खाद बोने, सींचने और पलटने का कुल खर्च		३१)
३. खाद के बाद देशी हल की जुताई ८ बार	एक जुताई में ५ रु०	४०)
४. मिट्टी भुरभुरी करने के लिए या रोलर चलाना	दो पाटा काफी होगा	६)
५. बीज और बोआई का खर्च	२० रु० मन के हिसाब से	२०)
	४० सेर का और बोआई	५)
६. पाटा लगाना		३)
७. बरहे और क्यारियाँ बनाना		४)
८. सिंचाई का खर्च	तीन सिंचाई। एक सिंचाई में लगभग १० रु०	३०)
९. गुड़ाई और निराई	फसल में दो बार एक दफे में ४ रु०	८)
१०. फसल की कटाई	६ आदमी १० घंटे काम करके	६)
११. मड़ाई या दवाँई	दो जोड़ी बैल और ३ आदमी ५ दिन काम करके	३५)
१२. उसाई	दो आदमी ३ दिन में	६)
१३. घर तक लाने का खर्च	बैलगाड़ी से लगभग १ मील की दूरी पर	३)
१४. कीड़ों और बीमारियों से नुकसान		१०)
१५. बीमारियों के दूर करने में खर्च		५)
१६. एक साल का लगान		१०)
कुल खर्च—		२३८)

कुल आमदनी—हर मन १६ रुपये के हिसाब से २५ मन दाने का	४००)
हर मन २।।) के हिसाब से ४० मन भूसे का	१००)
	५००)
लाभ	२६२)

अध्याय ३

जौ

(Barley Hordum vulgare)

जौ की खेती बहुत प्राचीन काल से हो रही है। प्राचीनता के विचार से इसे लगभग ५००० वर्ष पूर्व से उगाया जा रहा है।

मूल स्थान—जैसा कि हमने अभी पढ़ा है, जौ की प्राचीनता प्रसिद्ध है। ऐसे अनेक साक्ष्य प्रस्तुत हैं जिनके आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह एक अति प्राचीन फसल है। ऐसे अनेक साक्ष्य मिश्र, चीन, स्वीट्जरलैंड में उपलब्ध हुए हैं जिनसे कहा जा सकता है कि जौ की खेती इन स्थानों पर बहुत प्राचीन-काल से होती चली आ रही है। मिश्र में नील नदी की घाटी में जौ के अत्यन्त प्राचीन बीज प्राप्त हुए हैं। चीन में ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे पता चलता है कि वहाँ लगभग २,७०० ई० पूर्व में यह फसल उत्पन्न की जाती थी। स्वीजरलैंड में उत्खनन से यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ इसकी खेती प्रस्तर काल में भी प्रचलित थी। जौ की प्राचीनता के साक्ष्य विदेशों में ही नहीं अपितु भारत में भी प्राप्त होते हैं। यहाँ इसका ज्ञान सम्भवत. आर्यों के आगमन के पूर्व ही था। हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रन्थों में इसे यवा (यवका) कहा गया है जिसका पहले अर्थ दाने से लगाया जाता था किन्तु कालान्तर में यह केवल जौ के लिए प्रयोग किया जाने लगा। जौ का नाम इसी शब्द से निकला है जिसे लोग इसका मूल स्थान कहीं भारत में ही बताते हैं। इन साक्ष्यों के आधार पर लोगों का अनुमान है कि जौ का मूल भारतवर्ष के उत्तरी पश्चिमी भाग से लेकर आबीसेनिया तक कहीं है। यह भी सम्भव है कि इनका जन्म स्थान एशिया या उत्तर और अफगानिस्तान है जहाँ से वह आबीसेनिया होता हुआ भारतवर्ष लाया गया। कुछ विद्वानों के अनुसार इसके दो मूल स्थान हैं। प्रथम आबीसेनिया अथवा इथोपिया। इस स्थान की मौलिक जाति मिश्र, रूमसागरीय प्रदेश, दक्षिणी एशिया आदि तक गई। दूसरे, दक्षिणी तिब्बत का पठार और चारलीटन (Charletan) के अनुसार जौ की जातियाँ हार्डियम स्वानटेनियम द्वारा सिक्किम निकली हैं।

वितरण—जौ आजकल विश्व की दाने वाली अनेक फसलों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसे उष्ण कटिबन्धीय भागों के अतरिक्त शीत कटिबन्धीय तथा

शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र में सरलतापूर्वक उत्पन्न करते हैं। विश्व में अधिक परिमाण में जौ उत्पन्न करनेवाले देश रूस, संयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी, कनाडा, भारत, जापान और रूमसागरीय प्रदेश हैं। थोड़े क्षेत्रफल में स्वीडन, डेनमार्क, इंग्लैंड, रोमानिया, स्पेन, फ्रांस आदि में भी इसे उत्पन्न किया जाता है। रूस के उत्तरी भाग में इसे बहुत अधिक परिमाण में उगाया जाता है। यहाँ इसे ८,५६४ हजार एकड़ (१९५६-५७) में उत्पन्न किया गया है। भारत के अधिक जौ उगाने वाले राज्य उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, पंजाब, मध्यप्रदेश और बंगाल हैं। इनके अतिरिक्त इसे कुछ न कुछ मात्रा में अन्य राज्यों में भी उत्पन्न किया जाता है किन्तु इन राज्यों में इसका क्षेत्रफल अपेक्षाकृत बहुत कम है। राज्यों के अनुसार भारतवर्ष का विवरण इस प्रकार है :—

भारतवर्ष में जौ का अन्तिम अनुमान (१९५६-५७—१९५५-५६)

(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आंध्रप्रदेश	६	६	२	२
बिहार	८७२	८७७	८६	२०१
बम्बई	३७	३८	८	६
मध्य प्रदेश	४४६	४५३	१३५	११७
मद्रास	१	१	अ	अ
पंजाब	५३४	४६७	१९२	१७३
उड़ीसा	१	१	अ	अ
उत्तर प्रदेश	४,६१८	४,८६६	१,५४४	१,६०२
पश्चिमी बंगाल	१७७	११३	३०	३०
जम्मू-काश्मीर	५६	५८	१४	१७
राजस्थान	१,४४५	१,३७०	७१०	५८०
दिल्ली	१२	१२	१	१
हिमाचल प्रदेश	७८	७८	१५	१५
योग	८,५६४	४,३८२	२,७४४	२,७४६

अ=५०० टन से कम।

जौ आसाम, केरल, मनीपुर, त्रिपुरा, अण्डमन और निकोबार में नहीं उगाया जाता।

उत्तर प्रदेश भारत का सब से अधिक जौ उगाने वाला राज्य है जहाँ इसका क्षेत्रफल ४,६१८ हजार एकड़ है। इस राज्य के अधिक जौ उगाने वाले जिले आजमगढ़, इलाहाबाद, अलीगढ़, बस्ती, बुलन्दशहर, बहराइच, बलिया, गाजीपुर, जौनपुर, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, सीतापुर, उन्नाव, इटावा, खेरी, हरदोई आदि हैं।

भूमि—जौ की खेती अनेक प्रकार की भूमि में की जाती है किन्तु उसके लिए हलकी दोमट से लेकर उर्वर दोमट भूमियाँ विशेष अच्छी मानी जाती हैं। प्रायः जो भूमि गेहूँ के लिए उपयुक्त हो वहाँ इसे भी सफलता पूर्वक उगाया जाता है, किन्तु कृषकों में प्रथा यह है कि लोग इसे वहीं उगाते हैं जो भूमि गेहूँ के लिए अनउपयुक्त सिद्ध होती है किन्तु उनका ऐसा करना दोषपूर्ण है। प्रयोगों से ऐसा ज्ञात हुआ है कि यदि इसे उर्वर भूमि में उत्पन्न किया जाय तो निश्चय ही इसकी उपज अच्छी और अधिक मिलेगी, किन्तु गेहूँ जहाँ चिकनी भूमि में भी उत्पन्न किया जा सकता है वहाँ यह अच्छी उपज नहीं देता, वह भूमि जो अधिक भुरभुरी हो, दोमट हो और जिसमें चूने की मात्रा अधिक हो जौ के लिए सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है। जल-निकास का जौ की उपज से गहरा सम्बन्ध होता है। अतः इसे उन भूमियों में उगाना अच्छा नहीं होता जहाँ प्रायः पानी जमा हो जाता हो और जिस पानी के निकास का कोई उपयुक्त प्रबन्ध न हो। ऐसी भूमियों में इसे तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब कि कृत्रिम ढंग से जल-निकास की कोई व्यवस्था की जाय। जौ के लिए उपयुक्त भूमि का गहरी होना अधिक आवश्यक है क्योंकि यह अधिक आहार चाहने वाली फसल है। इसमें क्षारीय शक्ति गेहूँ की अपेक्षा अधिक होती है। अतः इसे अधिक क्षारीय भूमि में सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जा सकता है। जौ की खेती चने या मटर के साथ निश्चित रूप से करने पर असिंचित रूप में चिकनी दोमट भूमि में कर सकते हैं।

जलवायु—जौ की खेती विश्व के शीत और शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों में की जाती है, किन्तु थोड़े रूप में इसे उष्ण कटिबन्ध में भी उगा लेते हैं। यह अक्षांश के अनुसार ६७-६८° उत्तरी तक उत्पन्न किया जाता है। इसे भारत में मैदानी भागों से लेकर हिमालय के समीपवर्ती भागों तक उत्पन्न किया जाता है, जो समुद्र

की धरातल से १,४०० फीट ऊँचाई पर है। ठंडे स्थानों पर इसे गरम स्थानों की अपेक्षा अधिक सफलता से उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु नम और गरम स्थान जैसा कि देश के अनेक भागों जैसे—मद्रास, बंगाल, आसाम आदि में पाए जाते हैं, नहीं उत्पन्न किया जाता। अधिक वर्षा वाले स्थान भी इसके लिए अनुपयुक्त समझे जाते हैं, क्योंकि इस फसल को गेहूँ अथवा जई की अपेक्षा बहुत कम जल की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही इसे कम समय में उत्पन्न भी किया जा सकता है। अतः यह अधिक शुष्क और शीतोष्ण जलवायु पसन्द करती है। यह उन स्थानों पर अच्छी उपज देती है जहाँ वर्षा कम होती है और जलवायु ठंडी हो। इसमें सूखा और पाला सहन करने की अधिक क्षमता होती है। किन्तु यदि फसल पाले से क्षतिग्रस्त हो जाती है या होने की आशका रहती है तो उपयुक्त साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। उत्तरी भारत में इसे मुख्यतः रबी के दिनों में तैयार करते हैं। बोआई वर्षा की समाप्ति होने पर जाड़े के प्रारम्भ में की जाती है ताकि बीजों के अंकुरण के लिए उपयुक्त तापक्रम प्राप्त हो सके। पौधों के बढ़ाव के समय अधिक शीत की आवश्यकता होती है जो जाड़े की ऋतु में उपलब्ध हो जाती है। फसल के पकने के समय ऊँचा तापक्रम वांछनीय होता है जो जाड़े की समाप्ति पर सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है।

वानस्पतिक विवरण—जौ ग्रेमिनी घास-कुल में सम्मिलित किया जाता है। होर्डियम (Hordeum) इसका जीनस और होर्डियम वलगेयर (Hordeum vulgare) इसका वानस्पतिक नाम है। यह गेहूँ की भाँति एक वार्षिक पौधा है और गेहूँ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एक साधारण आदमी गेहूँ-जौ के मिश्रित खेत से दोनों के पौधे अलग-अलग करने में असमर्थ हो सकता है। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से दोनों के पौधों के तनों की लम्बाई पत्तियों की बनावट और फूल की बनावट में कुछ अन्तर पाया जाता है जिससे उन्हें पहचानने में सहायता मिलती है। जौ के तने २-३' फीट ऊँचे होते हैं। किन्तु कभी-कभी उर्वर भूमि में यह ऊँचाई अधिक भी हो सकती है। तने में ५ से ७ पोर होते हैं। पौधे कम ऊँचाई के होने और अनुर्वर भूमि में बोये जाने के कारण गिरते कम हैं जब कि गेहूँ के खेत में ऐसा अधिकतर देखा जाता है। पौधों में पुत्तियाँ (Tillers) निकालने की गेहूँ के बराबर ही शक्ति होती है।

जड़ें रेशेदार होती हैं जिनके आधार पर ऊपरी जड़ वाले और भीतरी जड़ वाले और दो प्रकार के जौ होते हैं। ऊपरी जड़ें ऊपर ही रह जाती हैं और पत्तियाँ

इधर-उधर बिखर जाती हैं जबकि भीतरी जड़ें सीधे गहराई की ओर जाती हैं। ऊपरी जड़ वाले जौ प्रायः उन भागों में बोये जाते हैं जहाँ नमी की प्रचुरता होती है जिससे जड़ों को अधिक गहराई में जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, जबकि गहराई में जाने वाली जातियाँ शुष्क स्थानो पर उगाई जाती हैं जहाँ नमी की खोज में जड़ें अधिक गहराई तक जाती हैं।

पत्तियाँ गेहूँ की अपेक्षा कम गहरे रंग की और अधिक चौड़ी होती हैं। इनका आकार लिनियर लेन्सियोलेट (Linear lanceolate) होता है। मुख्य नस कुछ पीलापन लिये होती है। जौ की पत्तियों में आरिकल (auricle) जो पत्तियों के आधार पर तनों से लिपटा होता है अधिक विकसित होता है। गेहूँ की पत्तियों में यह उपस्थित तो होता है परन्तु विकसित नहीं होता जबकि जई (oat) में यह उपस्थित ही नहीं होता। आरिकिल के आधार पर इन तीनों पौधों की पत्तियाँ जो एक-दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। लिग्यूल भी जौ की पत्तियों में अधिक विकसित होता है।

फूलों का गुच्छा तने के सिरे पर निकलता है जिसे स्पाइक (Spike) कहते हैं। एक स्पाइक में अनेक स्पाइक्लेट (spikelet) होते हैं जो रेकिस (Rachis) पर इस प्रकार लगे होते हैं कि एक गाँठ से तीन स्पाइक्लेट में केवल एक पुष्प होता है जबकि जई में दो से तीन और गेहूँ में तीन या तीन से अधिक होते हैं। स्पाइक का आकार जौ की दो कतार वाली, चार कतार वाली या छः कतार वाली जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न पाया जाता है। दो कतार वाली जातियों के स्पाइक में दोनों की दो कतारें होती हैं। जौ का रैकिस (बालियों का डण्ठल) गेहूँ के रैकिस की अपेक्षा सीधा होता है जबकि गेहूँ का रैकिस टेढ़ा-मेढ़ा होता है। फूलों में प्रायः स्वयं ही सेंचन होता है, पर सेंचन कभी-कभी पाया जाता है। दो कतार वाली जातियों में सेंचन बिल्कुल नहीं होता। फूलने वाले ग्लूम (glume) में लम्बा-सा टूँड़ (awn) होता है। फल कैरियाप्सिस होता है जो ग्लूम और पैलिया (palea) से लगा होता है। किन्तु नंगे जौ की किस्मों में यह लगाव नहीं देखा जाता। उनमें किसी प्रकार की भूसी नहीं होती।

विभाजन—भारतवर्ष में जौ की दो कतार और छः कतार वाली जातियाँ ही प्रचलित हैं। दो कतार वाली जातियों में हार्डियम डिस्टीकन (hordium distichon) और छः कतार वाली जातियों में हार्डियम वलगेयर (H. vulgare

अधिक उल्लेखनीय हैं। प्रथम जाति में केवल मध्य के स्पाइकलेट सक्रिय होते हैं। अगल-बगल के स्पाइक्लेट क्रिया-हीन होते हैं। दूसरी जाति अर्थात् हार्डियम वल्गेर में सभी स्पाइकलेट सक्रिय (fertile) होते हैं। सभी फूलों के लेमा टूँडदार होते हैं। बोस ने जो कि भारतीय जातियों का क्रमवार विभाजन किया है जो अधिक रूप से माना है, उनके अनुसार दो कतार वाली जातियों में ५ किस्में होती हैं। हार्डियम वल्गेयर के दो उप-विभाजन हैं जिनमें एक पालिडम (Pollidum) जो भूसीदार हैं और दूसरा सीलेस्टी (Caelaste) भूसी रहित है। पालिडम की १८ किस्में होती हैं जब कि सीलेस्टी की केवल एक। इस प्रकार इस देश में उगायी जाने वाली कुल जातियों की २४ किस्में हैं।

उन्नत जातियाँ—जौ की बहुत-सी उन्नत जातियाँ निकली हैं जो उत्तर-प्रदेश के भिन्न-भिन्न भागों के लिए उपयुक्त पड़ती हैं। इन जातियों में कुछ छः कतारवाली और कुछ दो कतार वाली हैं। कुछ नंगी जातियाँ हैं जिनमें भूसी नहीं होती।

सी० २५१—यह जाति उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के अतिरिक्त राज्य के लगभग सभी भागों के लिए उपयुक्त समझी जाती है। यह छः कतार वाली, टूँड़दार शीघ्र तैयार होने वाली रस्ट और स्मट के लिए किसी सीमा तक रोगरोधी होती है। पकने पर नंगे बीज हल्के सुनहले रंग के हो जाते हैं। यह अधिक उपज देने वाली जाति है। उर्वर भूमि और उपयुक्त परिस्थितियो में उपज ३५ मन प्रति एकड़ तक प्राप्त होती है। इन गुणों के साथ-साथ इस जाति में गिरने (lodging) का एक अवगुण भी पाया जाता है। सी० कानपुर के लिए प्रयोग होता है।

सी० ८४—यह जाति उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों विशेषकर मथुरा के लिए अधिक अच्छी सिद्ध हुई है। यह छः कतार वाली जाति है जिसमें रस्ट सहन करने की अधिक क्षमता होती है। स्ट्राइप रोग का भी इस पर कम प्रभाव पड़ता है। इसकी बालियाँ लम्बी होती हैं जिनका पकने पर रंग हल्का पीला हो जाती है। नंगे बीज स्लेटी भूरे होते हैं। यह सी० २५१ से देर में पकती है अतः दीर्घकालिक है। औसत उपज ३० मन प्रति एकड़ मिलती है।

सी० ५०—बरेली जिले की जलवायु इसे अधिक प्रिय है। सी० २५१ जाति से यह शीघ्र तैयार होती है। बालियाँ टूँड़दार छः कतार वाली, अधिक घनी और औसत लम्बाई की होती हैं। नंगे दाने मटमैले पीले होते हैं। उनका आकार लम्बा

होता है। रस्ट और स्मट रोग रोधी होता है इनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ने पाता। उपज अधिक मिलती है। बीज अच्छे कोटि के होते हैं।

के० १२—कानपुर को अब अंग्रेजी के सी (c) शब्द न शुरू कर के (k) शब्द से शुरू किया जाता है, अतः नई जातियाँ के० के नाम से सम्बोधित होती हैं जिससे अभिप्राय: कानपुर से है। यह जाति अल्पकालिक, छः कतार वाली, टूँड़दार और अधिक उपज देने वाली जाति है। यह जाति रस्ट और स्मट रोग-रोधी होती है। स्मट रोग को सहन करने की शक्ति इसमें अधिक होती है। यह हेल्मेन्थोस्पोरियम या स्ट्राइप रोग को भी सहन करने की क्षमता रखती है। नंगे बीज हल्के भूरे, खुरदरे और लम्बे होते हैं। यह जाति बिल्कुल नई है और उत्तर-प्रदेश के लगभग सभी भागों के लिए उपयुक्त पड़ती है।

बलिया जौ—यह एक स्थानीय जाति है जिसे पूर्वी उत्तर-प्रदेश में उगाने की सिफारिश की गई है। इसकी बालियाँ छः कतार वाली, टूँड़दार और लम्बी होती हैं। इनका रंग पीला होता है। नगे बीज हल्के पीले होते हैं। इसमें रस्ट और स्मट रोग को सहन करने की क्षमता होती है। यह दीर्घकालिक फसल है जो सी० २५१ से देर में तैयार होती है। उपज लगभग ३० मन प्रति एकड़ मिलती है।

सी० एन० २९२—सी० एन० से अभिप्राय कानपुर नेकेड (Cownpur naked) है जिससे प्रकट है कि यह भूसी रहित जाति है। बालियाँ टूँड़दार, छः कतार वाली, छोटी और अधिक घनी होता हैं। उपज २५-३० मन प्रति एकड़ है। यह अल्पकालिक जाति हैं। इसमें रस्ट रोग सहन करने की क्षमता पाई जाती है। इसके बीज गेहूँ के बीज से मिलते-जुलते हैं। ध्यानपूर्वक देखने से रंग में अन्तर दिखलाई पड़ता है।

सी० एन० २९४—जैसा कि नाम से ही प्रकट है, यह एक नंगी जाति है जिसमें भूसी नहीं होती है। ऊपर लिखित उन्नत जातियों में केवल यही एक जाति है जो दो कतार वाली है, अन्यथा सभी छः कतार वाली हैं। इसकी बालियाँ टूँड़दार अधिक घनी और लम्बी होती हैं। इसकी लम्बाई लगभग ४$\frac{3}{4}$" की पाई जाती है। फूल के ग्लूम स्थायी होते हैं जो बीज से जल्दी अलग नहीं होते, अतः दवाँई में कठिनाई होती है। यह जाति स्मट रोग को सहन करने की अधिक क्षमता रखती है। उपज लगभग ३० मन प्रति एकड़ है। तैयार होने का समय औसत अर्थात् यह न तो शीघ्र तैयार होती है और न देर में।

खेती की तैयारी—जौ के लिए खेत की तैयारी गेहूँ की भाँति नहीं की जाती। जुताइयों की संख्या भी कम होती है। किन्तु तैयारी में इतना ध्यान रखा जाता है कि खेत से घास-पात निकल जायँ और ढेले टूटकर बारीक हो जायँ। घास-पातों के निकल जाने से बीजों का अंकुरण अच्छा होता है और उन्हें उनके साथ होड़ नहीं लेनी पड़ती। खेत की तैयारी में देशी हल से लेकर ट्रैक्टर, हैरो, कल्टिवेटर और मिट्टी पलटने वाले हल प्रयोग किये जाते हैं। यदि देशी हल प्रयोग किये जाते हैं तो बीच-बीच में पाटा देकर ४-६ जुताइयाँ पर्याप्त समझी जाती हैं। किन्तु उन्नत हलों के प्रयोग करने पर उनकी २ से ३ जुताइयाँ ही यथेष्ट होती है। वास्तव में जुताइयों की संख्या या खेत की तैयारी किसी भी भूमि की स्थिति, पिछली बोयी गई फसल के गुण और बोये जाने वाले मिश्रण पर बहुत कुछ निर्भर करती है। भूमि के गीली और भारी होने पर यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है और जुताई आर-पार (Cross) की जाती है। इस समय डिस्क हैरो अच्छा काम देता है। एक हैरोइंग के पश्चात् पाटा या बेलन चलाना चाहिए, इससे भूमि में नमी संचित रहती है। थोड़ी-सी भी असावधानी दिखाने पर नमी उड़ जा सकती है और तब अकुंरण अच्छा नहीं हो सकता। कपास की काली मिट्टी में बखर प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। मिट्टी भुरभुरी बनाने के लिए हैरो और पाटा प्रयोग किये जाते हैं। हल्की और कम नमी वाली भूमि की तैयारी में कल्टिवेटर काम में लाया जाता है। कुछ कृषि विद्वानों का कथन है कि जौ की तैयारी यदि गेहूँ की भाँति ही की जाय तो उपज अधिक सन्तोषजनक प्राप्त हो सकती है। प्रयोगों के आधार पर इस कथन की सत्यता की पुष्टि भी हो गई है। अतः खेत में खाद की उपयुक्त मात्रा देकर बारीक जोत (Fine tilth) बनाई जाती है और तब बुआई कर दी जाती है।

बोआई—जौ की बोआई अक्टूबर के प्रथम सप्ताह से प्रारम्भ होकर नवम्बर के अन्तिम सप्ताह तक होती है किन्तु इसका उपयुक्त समय अक्टूबर का तीसरा सप्ताह है। यद्यपि इसे इस उपयुक्त समय के पहले या बाद में भी बोया जाता है किन्तु इससे अंकुरण अच्छा न होने का भय सदैव बना रहता है। यदि बोआई पहले कर दी जाती है तो देर की वर्षा से बीज बिल्कुल विनष्ट हो जाते हैं। देर की बोआई से आगे चलकर रोगों के आक्रमण के अवसर अधिक हो जाते हैं। अतः बोआई के लिए उपयुक्त समय ही अच्छा होता है।

फसल की बोआई बहुधा अकेले न करके कुछ मिश्रकों के साथ की जाती है। इन मिश्रकों में गेहूँ, चना, मटर कुसुम, सरसों, अलसी आदि हैं। जब इन मिश्रकों के साथ बोते हैं तो बीज की मात्रा उसी अनुपात में कम हो जाती है। साधारणतः यह मात्रा १०-२० सेर यथेष्ट होती है। जब फसल अकेले बोई जाती है तो बीज ३५ से ५० सेर तक लगता है। बीज की मात्रा बोआई के समय, भूमि की दशा, बीज की किस्म, बीज की स्थिति और बोआई की विधि पर निर्भर करती है। बोआई यदि उचित समय के पहले की जाती है, भूमि हल्की है और उसमें नमी का अभाव है तो बीज की मात्रा कम लगती है परन्तु देर में बोआई करने से भारी और अधिक नम भूमि में अधिक बीज की आवश्यकता होती है। लोग बोआई में अधिक बीज प्रयोग करना पसन्द करते हैं। बोये जाने वाले बीज की कुछ मात्रा जम नहीं पाती। किन्तु यदि बोआई के पूर्व बीजों के अंकुरण की जाँच कर ली जाय तो अधिक बीज प्रयोग करने की कोई आवश्मकता ही नहीं रह जाती है।

बीज छिटकवाँ रूप से और कतारों में भी बोये जाते हैं। जब इन्हें छिटकवाँ विधि से बोते हैं तो बीजों की पारस्परिक दूरी पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु कतारों में बोने पर कतारें ८" से १२" की दूरी पर होती है। पौधों से पौधों की दूरी ६" रखी जाती है। बीज १" से २" की गहराई पर बोये जाते हैं। जब भूमि में नमी पर्याप्त मात्रा में उपस्थिति होती है तो बोआई अधिक गहराई पर नहीं की जाती। इससे बीजों के अंकुरण में सन्देह होता है। कम नमी की उपस्थिति में बीज अधिक गहराई पर डाले जाते हैं।

बोआई के पश्चात् बीज पाटा चला कर मिट्टी की एक हलकी परत से ढँक दिये जाते हैं ताकि चिड़ियाँ या जानवर उन्हें चुग न सकें। पाटा चलाने से खेत में एक अवरोध परत भी बन जाती है जिससे नमी अधिक समय तक भूमि में संचित रह पाती है और अंकुरण पर उपयुक्त प्रभाव पड़ता है।

जौ को जब चने या अलसी के साथ बोते हैं तो इन्हें एक साथ मिला कर नहीं बोते बल्कि जौ की एक पंक्ति के पश्चात् चने या अलसी की एक पंक्ति के हिसाब से बोते हैं।

सिंचाई—जौ की फसल सिंचित और असिंचित दोनों प्रकार से बोयी जाती है। जब इसे असिंचित ढँग से बोते हैं तो सिंचाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी फसल को भूमि की नमी तथा वर्षा के आधार पर रहना पड़ता है। सिंचित रूप

से उगाने पर इसे भूमि की दशा और सिंचाई के साधनों की उपस्थिति के अनुसार पानी दिया जाता है। यदि भूमि शुष्क और हल्की है तो सिंचाई की अधिक आवश्यकता होती है किन्तु सिंचाई तभी की जा सकती है जबकि सिंचाई के साधन सरलतापूर्वक उपलब्ध हों। जहाँ भूमि हल्की हो और सिंचाई की पर्याप्त सुविधा हो वहाँ फसल के पूरे जीवन में दो से तीन सिंचाइयाँ की जाती हैं। जिन स्थानों पर कुएँ ही सिंचाई के स्रोत हैं और ट्यूब वेल का प्रबन्ध नहीं है वहाँ एक सिंचाई या अधिक से अधिक दो सिंचाइयाँ पर्याप्त समझी जाती हैं। प्रथम सिंचाई पौधों के अंकुरण के लगभग एक माह पश्चात् की जानी चाहिए। ऐसा तभी किया जाता है जबकि बोआई के समय भूमि में पर्याप्त नमी हो। नमी के अभाव में सिंचाई पहले की जानी चाहिए अथवा बोआई के पूर्व ही एक हल्की सिंचाई करके भूमि को नम बना लेना चाहिए। दूसरी सिंचाई उस समय की जाती है जबकि पौधों में फूल निकलने वाले हों। इस समय भूमि में नमी की आवश्यक मात्रा का उपस्थित रहना बहुत जरूरी है अथवा फूलों के लगाव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि इस समय एक हल्की वर्षा हो जाती है तो सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तीसरी सिंचाई आवश्यकता समझ कर की जाती है।

खाद—गेहूँ की भाँति जौ की फसल भी नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता होती है। इस तत्व की पूर्ति के लिए अमोनियम सल्फेट को प्रयोग किया जाता है। १०० से ११२ पौं० अमोनियन सल्फेट एक एकड़ खेत के लिए यथेष्ट है। इस तत्व की पूर्ति करने के लिए जैविक खादें जैसे—गोबर की खाद या कम्पोस्ट का प्रयोग किया जा सकता है। गोबर की खाद खेत की तैयारी के साथ ही दी जाती है ताकि जुलाई के समय भूमि में भली भाँति मिल जाय। १० गाड़ी गोबर की खाद प्रति एकड़ पर्याप्त होती है। परीक्षणों से विदित हुआ है कि जौ के पौधों को फास्फोरस की भी आवश्यकता होती है जो उन्हें सरलतापूर्वक प्राप्त हो सके। इसके अभाव में पौधों का बढ़ाव उपयुक्त नहीं हो पाता इस तत्व की कमी सुपर फास्फेट से पूरी की जाती है जिसकी लगभग ६० पौं० मात्रा पर्याप्त होता है। जिस स्थान पर भूमि में चूने का अभाव हो वहाँ चूने का प्रयोग करना चाहिए। खादों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इनकी आधी मात्रा अंकुरण के बाद और आधी फूल आने के समय दी जानी चाहिए। जहाँ की भूमि में पोटाश की कमा हो वहाँ इसे भी देकर भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करनी चाहिए।

निराई-गुड़ाई—अच्छी उपज लेने के लिए फसल की निराई-गुड़ाई की आवश्यकता होती है। प्रति सिंचाई के पश्चात् भूमि जब गोड़ने योग्य हो तो उसमें से घास-पात निकाल कर उसकी गुड़ाई कर देनी चाहिए। गुड़ाई की क्रिया उतनी आवश्यक नहीं जितनी कि निराई की, क्योंकि निराई से खेत में जमें अनावश्यक घास-पात निकल जाते हैं और पौधे अपने आहार को पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। जिन स्थानों पर सिंचाई नहीं होती वहाँ भी २-३ निराई कर देने से उपज अच्छी मिलती है। निराई-गुड़ाई करने से एक लाभ यह होता है कि पौधे भूमि पर गिरने नहीं पाते। भूमि में नमी की अधिक उपस्थिति तथा नाइट्रोजन की अधिकता से बहुधा जौ के प्रौढ़ पौधे भूमि पर गिर जाते हैं जिससे उनमें बालियाँ अच्छी नहीं निकल पाती या निकलती भी हैं तो चूहों आदि का आक्रमण बढ़ जाता है और कृषकों को घाटा उठाना पड़ता है। अतः पौधों को गिरने से बचाना आवश्यक है। गुड़ाई की क्रिया से भूमि के ऊपरी धरातल पर पड़ी खाद भीतरी धरातल में पहुँच जाती है। निराई-गुड़ाई से भूमि पर एक अवरोध परत बन जाती है जो नमी संचयन में सहायक सिद्ध होती है। निराई-गुड़ाई की क्रिया कतारों में बोई फसल में ही सरलतापूर्वक हो पाती है, छिटकवाँ विधि में यह सम्भव नहीं। कतारों में बोयी फसल में निरायक या हैरो आदि का प्रयोग किया जा सकता है जो कम समय और कम व्यय में अधिक काम कर देते हैं। हाथ की निराई-गुड़ाई में अधिक समय और अधिक व्यय लगता है।

कटाई—फसल लगभग चार महीनों में काटने योग्य हो जाती है। कटाई के फसल के पूर्णरूप से पक जाने पर करनी चाहिए अथवा बीज अच्छी कोटि के नहीं हो पाते। दूसरी ओर फसल के अधिक पक जाने पर बालियाँ तनों से टूट-टूट कर गिरने भी लगती हैं। अतः बालियों को इस प्रकार टूटने से बचाने के लिए कटाई दिन के ठंडे समय में करनी चाहिएँ। इसके लिए प्रातःकाल का समय अधिक उपयुक्त होता है। कटाई हँसिया से की जाती है। बड़े पैमाने पर कम्बाइन हारवेस्टर-थ्रेशर का प्रयोग किया जाता है जो फसल की कटाई के साथ-साथ दवाँई का भी कार्य करता है। फसल की कटाई के बाद बोझ बना लिये जाते हैं और फिर उन्हें खलिहानों में जमा कर दिया जाता है। जब कटी फसल में खलिहानों में भली भाँति सूख जाती है तो दँवाई कर ली जाती है और ओसाई करके दाने और भूसे अलग कर लिये जाते हैं।

उपज—मिलवाँ या असिंचित फसल की उपज १० से ११ मन मिलती है।

जब इसे सिंचित रूप से बोया जाता है तो उपज १५ मन से २० मन तक प्राप्त होती है। उन्नति जातियाँ ३० से ३५ मन तक उपज देती हैं।

उपयोग—जौ को अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। भोजन में काम में लाने के अतिरिक्त इसके दाने से माल्ट, बीयर (beer) ह्विस्की, ब्रांडी आदि पेय पदार्थ तैयार किये जाते हैं। इससे पावरोटी बनाई जाती है जो आटे को सड़ाने के बाद तैयार होती है। दाने को दलकर दलिया तैयार की जाती है जिसे खाने में प्रयोग किया जाता है। मनुष्य जाति के अतिरिक्त पशुओं के लिए भी यह अधिक उपादेय है। इससे पशुओं को हरा और सूखा चारा मिलता है। इसकी भूसी वे बड़े चाव से खाते हैं। दलिया पशु अधिक पसंद करते हैं।

रासायनिक विश्लेषण—जौ के दाने और तनों की रासायनिक बनावट एक सी नहीं होती। ७४%, प्रोटीन, ११.५% नमी, १२.५%, चर्बी, १.३% रेशे(क्रूड) ३.६ और राख १.५% उपस्थित होता है।

रोग और कीड़े—जौ पर अनेक प्रकार के रोगों का आक्रमण होते हैं जिनमें कवर स्मट (Cover smut) लूज़ स्मट (Loose smut) रस्ट (Rust) और पाउडरी मिल्ड्यू (Powdery mildew) अधिक मुख्य है। यहाँ इन पर पृथक-पृथक प्रकाश डाला जायगा।

कवर स्मट—यह रोग एक प्रकार के फँफूदी द्वारा जिसका नाम अस्टिलागो हारडाई (Ustilogo hordii) है, उत्पन्न होता है। इस रोग का प्रभाव पौधे की बालियों पर पड़ता है जिससे दानों के स्थान पर एक प्रकार का काला बुरादा भर आता है। यह बुरादा और कुछ नहीं फफूँदी के स्पोर होते हैं जो बाहर से एक ओवरी की दीवार से ढके होते हैं। जब यह दीवार टूट जाती है तो स्पोर बाहर निकल आते हैं।

इस रोग की रोक-थाम के लिए कई उपाय किये जाते हैं जिनमें आरगैनिक मरक्यूरियल धूल का उपचार—(Treatment of organie mercurial dust) अधिक सफल सिद्ध हुआ है। इसमें अग्रसन, किरोसन आदि सम्मिलित होते हैं जिनकी एक बुशेल पर २ औंस मात्रा पर्याप्त होती है। धूल और बीज की आवश्यक मात्रा लेकर एक किसी स्वच्छ घड़े में रख कर घड़े को बन्द कर देते हैं और फिर उसे उपर-नीचे करके इस प्रकार हिलाते हैं कि दवा बीजों में भली भाँति मिल जाय। इस दवा के उपचार की अन्य विधि यह है कि बीज को एक साथ फर्श पर रख कर

औषधि छिड़कते हैं या यदि द्रव होता है तो उसे छिड़कते हैं और फिर उसे सूखे बोरों से ४-५ दिनों के लिए ढँक कर छोड़ देते हैं। ढँकने के पहले इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बोरे या बीज अधिक नम न हों अथवा ढँके हुये बीज बदरंग हो जाते हैं। फार्मलिन का घोल भी इस रोग की रोक-थाम में उपयोगी सिद्ध होता है। सी० ८४ और सी० एन० २९४ कवर स्मट रोग रोधी जातियाँ हैं जिन पर इस रोग का आक्रमण नहीं होता।

कवर स्मट के अतिरिक्त जौ पर आक्रमण करनेवाले अन्य रोग अधिक महत्व के नहीं हैं। लूज स्मट अस्टिलागो नुडा (Ustilogo nuda) रस्ट पक्सिनिया सिम्पलेक्स (Puccinea simplex), पक्सिनिया ग्रेमिनिस (puccinia graminis) और पक्सिनिया ग्लूरम (P. glumarum) पाउडरी मिल्ड्यू (Erysiphe graminis) और हेल्मेन्थो स्पोरियम रोग हेल्मेन्थो ग्रेमिनियम (Helmiutho sporium) और हेल्मेन्थो टिपरिस (H. teres) द्वारा उत्पन्न होते हैं।

अध्याय ४

चने की खेती

(Cicerarietinum)

चने की खेती दुनिया के कई देशों में की जाती है। योरूप और एशिया तो इसे बहुत दिनों से उगाते चले आ रहे हैं। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में भी चना पैदा होता है। हमारे देश में लगभग दो करोड़ एकड़ में यह उगाया जाता है। बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में खास-तौर से इसकी खेती जाती है। उत्तरप्रदेश में चने की खेती का क्षेत्रफल लगभग ६० एकड़ है। इस क्षेत्रफल का आधा भाग अवध और बुन्देलखण्ड के भू-भाग में पाया जाता है। मेरठ और इलाहाबाद कमिश्नरियों में अधिक पैमाने पर चना बोया जाता है। कानपुर, आगरा, हमीरपुर, गोंडा आदि जिलों का भी नाम अधिक चना उगाने वाले स्थानों में आता है।

चने का पौधा ८" से लेकर १½' तक होता है। जड़ मूसला होती है और तना सीधा तथा शाखा वाला होता है। पौधा झाड़ीदार होता है। पत्तियाँ छोटी और कटावदार होती हैं। इन पत्तियों पर एक प्रकार की गर्द लगी होती है जिसका स्वाद खट्टा होता है। इस गर्द का पत्तियों पर रहना फसल के लिए बहुत जरूरी है। चने के पौधे में नीले रंग के फूल निकलते हैं। इनका आकार बहुत छोटा होता है। ये ही फूल छोटी-छोटी फलियाँ बनाते हैं जिनमें चने का बीज बन्द रहता है।

चने को अधिकतर अकेले ही बोते हैं किन्तु कहीं-कहीं इसे दूसरी फसलों के साथ भी मिला कर बोया जाता है। गेहूँ, जौ, मटर, सरसों, तीसी आदि इसके साथ बोई जाने वाली फसलें हैं। गेहूँ के साथ बोने पर इसे 'गुहचनी' और जौ के साथ 'बेझरा' कहते हैं।

चना एक पौष्टिक पदार्थ है। इसका आटा या बेसन भोजन में काम आता है। दाना जानवरों को खिलाया जाता है। हरी पत्तियों का साग बहुत अच्छा बनता

खाद दे देनी चाहिए। किन्तु साथ ही इस बात का भी ख्याल रखना चाहिए कि खाद जरूरत से ज्यादा न हो। ऐसा होने पर पौधों का बढ़ाव अधिक हो जाता है और फलियाँ कम निकलती हैं।

चने की जातियाँ—रंग के विचार से चने की कई जातियाँ होती हैं। सफेद चना बड़ा-बड़ा होता है। इसे काबुली चने के नाम से पुकारते हैं। पीला चना पूर्वी उत्तर प्रदेश में अधिक पाया जाता है। इनके अलावे लाल और काले चने भी कहीं-कहीं मिलते हैं। कृषि विभाग ने कुछ उन्नतशील जातियाँ खोज निकाली हैं जिनका प्रयोग किसानों के लिए अधिक लाभदायक है। ये जातियाँ न केवल अन्न ही अधिक देती हैं, भूसा भी अधिक पैमाने पर पैदा होता है।

काबुली न० १५, टाइप न० १ व ८७, पूसा न० ६, २५, २८ व ५८, पीला न० १७ आदि उन्नतशील जातियाँ हैं। इनमें टाइप न० ८७ अच्छी जाति है। इसके दाने बड़े और स्वादिष्ट होते हैं। इसकी पैदावार भी अधिक होती है। किसानों को उन्नतशील जातियाँ ही बोनी चाहिए।

बोने का समय- चने की बोआई खेत के तैयार हो जाने पर चित्रा नक्षत्र में की जाती है। किन्तु वर्षा के ठीक समय पर खत्म होने से बोआई की तिथि घट-बढ़ जाती है। अंग्रेजी महीने के अनुसार चने को अक्टूबर के पहले सप्ताह से दूसरे सप्ताह तक बो देते हैं। इसकी बोआई जितनी पहले की जाय, अच्छी होती है। तालाबों के किनारे या देर से पकने वाले धान के खेत में पिछड़ कर भी बोआई करते हैं। नदियों के कछारों में भी देर में बोआई की जाती है।

चने की बोआई—चने को बोने के लिए कई ढंग काम में लाए जाते हैं। सबसे प्रचलित ढंग हलके पीछे कूड़ों में बोने का है। इसमें आगे-आगे हल कूँड़ बनाता जाता है और पीछे से एक आदमी बीज गिराता है। सारी बोआई हो जाने पर खेत में पाटा दे देते हैं। जमीन में जब नमी की कमी होती है तो बाँस के चोंगे या नाई की विधि को काम में लाते हैं। यह बाँस का चोंगा नली के आकार का होता है जिसमें बीज ऊपर से गिराने पर नीचे कूँड़ में चला जाता है। इन कूँड़ों के आपस की दूरी १' से १½' तक होती है। इससे पौधों को फैलने के लिए काफी स्थान मिलता है। खेत में जब नमी की अधिकता होती है तो बीज छिटकवाँ विधि से बोते हैं। इस ढंग में बोआई के बाद २-३ जुताई कर दी जाती है ताकि बीज अच्छी तरह

मिट्टी से ढक जाय। नदी या तालाब के किनारे भी छिटकवाँ विधि का प्रयोग करते हैं।

बीज की मात्रा—एक एकड़ खेत में ३० सेर से ४० सेर चना लगता है। इस मात्रा में चने के आकार और खेत के उपजाऊपन के अनुसार कमी-बेश कर देते हैं। बोने के ढंग पर भी यह मात्रा घटा-बढ़ा करती है।

सिंचाई—वैसे तो चने की फसल को सिंचाई की कोई जरूरत ही नहीं होती किन्तु जाड़े में वर्षा न होने पर एक सिंचाई कर देनी चाहिए। तालाबों के किनारे या नदियों के कछारों में बिल्कुल ही सिंचाई नहीं की जाती। चने को पाले का बहुत भय रहता है लेकिन जाड़े में वर्षा हो जाने पर यह भय जाता रहता है। ऐसे समय जब वर्षा न हो और पाले का डर हो, खेत में पानी जरूर दे देना चाहिए।

फसल की निराई व गुड़ाई—फसल में जब घास-फूस अधिक उग आवें तो एक-दो निराई कर देनी चाहिए। किन्तु खर-पतवारों की कमी होने पर निराई की कोई जरूरत नहीं होती।

खुटाई—चने की खेती में खुटाई का बड़ा महत्व है। इसमें पौधे की फुनगियों को तोड़ देते हैं। यह तुड़ाई या खुटाई उस समय की जाती है जब पौधे ५″-७″ के होते हैं। खुटाई करने से पौधे में अधिक शाखाएँ आ जाती हैं जिससे फूल और फलियाँ भी बढ़ जाती हैं।

फसल की कटाई—जब पौधे की पत्तियाँ पीली होने लगें तो समझना चाहिए कि फसल पकनी प्रारम्भ हो गई। पकने पर तने सूखने लगते हैं और फलियाँ भी पीली हो जाती हैं। फसल की कटाई हँसिये की मदद से की जाती है। फसल की कटाई में थोड़ी-सी भी देरी हो जाने पर फलियों के झड़ने का डर रहता है। फसल को काट कर बण्डल बनाते हैं और खलिहानों में जमा कर देते हैं।

मड़ाई—फसल को खलिहान में ले जाकर बण्डल खोलकर फैला देते हैं और ५-६ दिनों तक यों ही छोड़ देते हैं तादि पौधे काफी सूख जायँ। पौधों के सूख जाने पर बैलों या आल पैड थ्रेशर से मड़ाई कर देते हैं। बैलों से मड़ाई करने पर दो जोड़ी बैल और दो आदमी की जरूरत होती है लेकिन मशीन में एक जोड़ी बैल और दो आदमी ही काफी होते हैं। मशीन से ६० मन लाँक ३० घन्टे में एक माड़ी जा सकती है।

उसाई—मड़ाई हो जाने पर उसाई की क्रिया की जाती है। इस समय उपयुक्त हवा बहने पर टोकरी या सूप से ही उसाई करते हैं। पर हवा न चलने पर विनोवर नामक मशीन को काम में लाते हैं। इससे दाने और भूसे अलग हो जाते हैं।

पैदावार—देशी जाति के चने की पैदावार १० से १५ मन प्रति एकड़ होती है। उन्नतिशील जाति की पैदावार २० से २५ मन तक हो जाती है। चने का भूसा दाने के बराबर ही होता है। इसका स्वाद नमकीन होता है। इसे जानवर चाव से खाते हैं।

चने की फसल के रोग—चने के पौधे का सूखना फसल के लिए एक बड़ा रोग है। तितली जाति के पतंगे और कीड़े फसल को अधिक हानि पहुँचाते हैं। चने
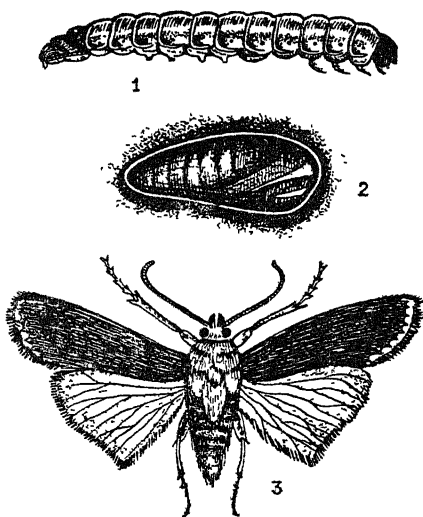
१. गिड़ार २. प्यूपा और ३. प्रौढ़—चने का कटुआ कीड़ा—चित्र २८

की जड़ों और फलियों में भी एक प्रकार का कीड़ा पाया जाता है जो जड़ को काट डालता है तथा फलियों को काट कर बीज को खा जाता है। इसे सूँड़ी कटुआ कीड़ा के नाम से पुकारते हैं। इनको पकड़-पकड़ कर मार डालने से फसल को कम नुकसान होता है। फसल पर गिड़ार तथा घुन का भी आक्रमण होता है।

अधिक वर्षा और पाले फसल को अधिक चौपट करते हैं। ज्यादा वर्षा से
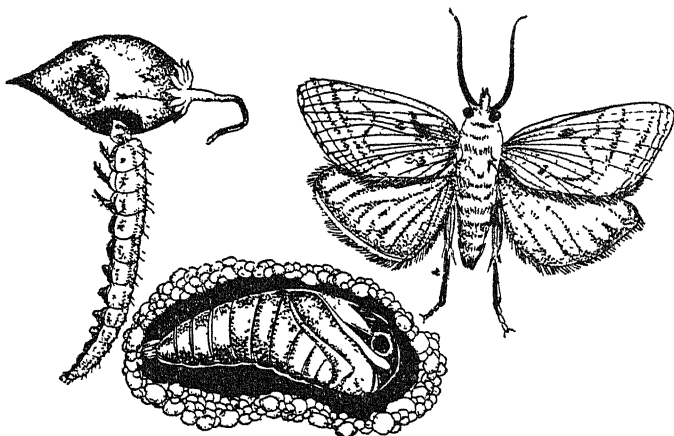
चने की गिड़ार—चित्र २६
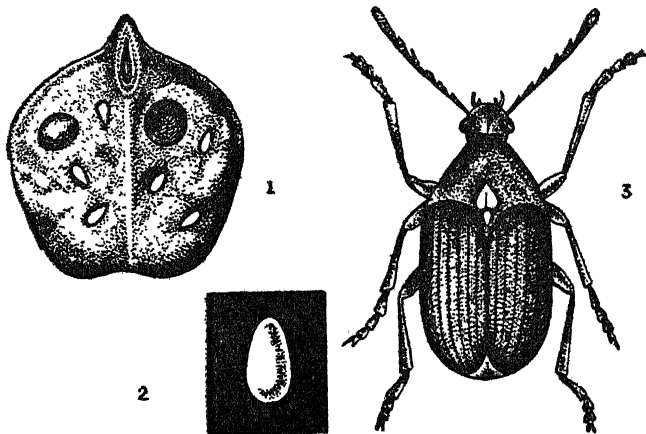
१. बीज पर अंडा, २. गिड़ार, ३. प्रौढ़—चने का घुन—चित्र ३०

पत्तियाँ पीली होने लगती हैं और धीरे-धीरे सूख जाती हैं। पाले से सारी फसल ही बेकार हो जाती है।

फसलों का हेर-फेर— कृषि पंडितों का कहना है कि एक खेत से बराबर एक ही फसल का लेना ठीक नहीं है। इससे पैदावार में कमी होती जाती है। इसलिए फ़सलों का हेर-फेर करते रहना चाहिए। चने के लिए नीचे लिखे हेर-फेर अच्छे साबित हुए हैं—

एक साल—धान—चना
दो साल —गेहूँ—मक्का या चरी—चना
,, पड़ती—गेहूँ—चरी—चना

चने के बीज रखने का ढंग—चने के बीज को सुरक्षित रखने के लिए बोरों या घड़ों में रखते हैं। बोरों को सिल कर बखारों में रख देते हैं। यह बखार जिसे गोदाम भी कहते हैं, भूसे से भरी होती है। भूसा इसलिए रखते हैं कि जमीन या दीवालों की नमी बोरों तक न पहुँच पाये क्योंकि बीज के सड़ जाने का भय रहता है। गोदाम में जब बोरे रख दिये जायँ तो ऊपर से भी भूसा रख देते हैं ताकि बोरो तक नमी या हवा न पहुँच सके। गोदाम को वर्षा शुरू होने के पहले बन्द कर देते हैं और वर्षा खत्म होने पर खोलते हैं। बीज को बोरों में बन्द करते समय इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि बीज गीले या कच्चे तो नहीं हैं। बीज को धूप में अच्छी तरह सुखा लेना चाहिए। इससे इनके खराब होने का डर नहीं रहता। बोरों में सिलते समय नेप्थलीन की गोलियाँ छोड़ देते हैं। इससे घुन या दूसरे कीड़े नहीं लगने पाते।

चने की बिक्री—अपनी जरूरत से फाजिल चने को बाजार में बेच देते हैं। बेचने में किसानों को जल्दीबाजी नहीं करना चाहिए। गल्ले का भाव अच्छी तरह जान लेना चाहिए तब कहीं बेचना शुरू करना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि गल्ले का भाव उस समय काफी गिर जाता है जबकि अन्न खलिहान से उठकर किसान के घर आने लगता है और उस समय जबकि बोआई की जाती है, गल्ले का भाव अधिक चढ़ जाता है। किसानों को गल्ले के चढ़े भाव में बेचना चाहिए। इससे अधिक लाभ होता है।

चने की पूरी फसल के खर्च का ब्योरा— एक एकड़ का खर्च

१. मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई	एक जोड़ी बैल और दो आदमी	८)

२. देशी हल से तीन जुताई	तीन जोड़ी बैल १३ आदमी	१६॥)
३. मेड़ बनाई	दो आदमी एक दिन	३)
४. ३० सेर बीज	रुपये के ३ सेर के हिसाब से	१०)
५. बोआई का खर्च	२ आदमी एक जोड़ी बैल	८)
६. एक सिंचाई		१०)
७. खुटाई	४ लड़के एक दिन	४)
८. कटाई	१२ आदमी एक दिन	१८)
९. मड़ाई	—	८)
१०. उसाई	दो आदमी एक दिन	३)
११. खेत की लगान	—	५)
१२. विविध खर्च	—	५)
कुल खर्च		१०१॥)

आय २० मन चना १०) एक मन के हिसाब से २००)
२० मन भूसा ३) एक मन के हिसाब से ६०)

२६०)

बचत— २६० – १०१॥) = १५८॥) एक एकड़ में

अध्याय ५

कपास

(Cotton—Gossypium Genus)

कपास का प्रयोग भारतवर्ष में बहुत दिनों से होता आ रहा है। यह प्रायः सूत के लिए बोयी जाती है, क्योंकि जीवन के लिए मुख्य दो आवश्यकताएँ भोजन और वस्त्र हैं और इनमें वस्त्र की समस्या सूत ही से हल होती है। यद्यपि कपास के स्थान पर रेशम, पटसन, ऊन और कुछ परिमाण में नकली सूत का भी प्रयोग चल पड़ा है किन्तु फिर भी वस्त्र उद्योग को कपास की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। विश्व में वस्त्र उद्योग में कुल जितना रेशा प्रयोग होता है, उसमें ७०% कपास से ही लिया जाता है। इसकी उपयोगिता केवल रेशे में ही नहीं है बल्कि उसके बीज, जो बिनौले के नाम से प्रसिद्ध हैं, अनेक कार्यों में प्रयोग होते हैं। इससे तेल तैयार किया जाता है। इसे आटे के रूप में मक्का, आलू और जई के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। पशुओं के लिए यह बहुत पौष्टिक सिद्ध हुआ है। बिनौले की खलियाँ पशु बहुत चाव से खाते हैं। खाद के रूप में भी इस खली का कम महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त पौधों की लकड़ियाँ ईंधन के काम आती हैं और पत्तियाँ सड़ कर खाद तैयार करती हैं।

कपास की खेती भारत में प्रागैतिहासिक काल से होती आ रही है। ईसा से लगभग १,८०० वर्ष पूर्व मनु ने कपास की फसल का जिक्र किया है। ऋग्वेद में जो हिन्दू धर्म का सब से प्राचीन ग्रन्थ है, इसका विवरण मिलता है। मोहन जोदड़ो की खुदाइयों में कुछ सूती वस्त्र के टुकड़े मिले हैं जिनसे अनुमान लगाया जाता है कि ये सूती वस्त्र के सब से प्राचीन नमूने हैं और ये लगभग ५,००० वर्ष पुराने हैं, इन टुकड़ों के रेशों के अध्ययन से ज्ञात किया गया है कि ये उत्तर भारत में आजकल उगायी जानेवाली देशी कपास से मिलती-जुलती किसी कपास के रेशे से बने हैं। "हीरो दत्तस्" ने इस बात का उल्लेख किया है कि भारत में एक प्रकार के ऐसे

जंगली पौधे उत्पन्न होते हैं जिनके फलों से ऊन जैसे मुलायम रेशे पाये जाते हैं और वहाँ के लोग उन रेशों से अपने कपड़े तैयार करते हैं। रोमन इतिहास में प्लीनी ने एक बार इस बात पर विरोध किया था कि रोमन साम्राज्य से भारत को प्रति वर्ष दस करोड़ सैस्टर (रोमन मुद्रा) जा रहा है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि उन दिनों रोमन साम्राज्य से वस्त्र का ही व्यापार चलता था। यूनान के लोक साहित्य में कपास जैसे पौधे का उल्लेख है, उस साहित्य में पौधों की तरह उगने वाले एक भेड़ के बच्चे (मेंमने) या पेड़ पर लगने वाले पशु की कथा अधिक प्रसिद्ध है। उपर्युक्त साक्ष्यों से इस बात का बोध होता है कि कपास का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से हो रहा है और उस समय कताई-बुनाई की कला भी अधिक महत्वपूर्ण थी। आधुनिक काल में तेरहवीं सदी में मार्कोपोलो ने कपास का जिक्र किया है। उसने लिखा है कि मछलीपट्टम में संसार में सब से सुन्दर और बारीक रेशे वाली कपास प्राप्त की जाती है। उसने उस काल के वस्त्र उद्योग के महत्वपूर्ण स्थान ढाका के अत्यन्त बारीक मलमल पर भी प्रकाश डाला है। जिस समय ढाका अपने बारीक मलमल के लिए प्रसिद्ध था, सम्भवतः भारतीय कारीगर विश्व में वस्त्र बनाने की कला में अधिक कुशल हो चुके थे और अनेक देशों में उनकी इस कला की ख्याति भी थी। किन्तु बृटिश शासन की स्थापना के पश्चात् भारत के विकसित-वस्त्र-व्यवसाय ने एक नया मोड़ लिया। बृटिश शासकों ने इस व्यवसाय को काफी क्षति पहुँचाई और कारीगरों के साथ ऐसी क्रूरता और निर्दयता का व्यवहार किया कि कपड़े बनाने का उनका उत्साह ही समाप्त हो चला। उनके इस व्यवहार से सूती व्यवसाय को काफी धक्का लगा और भारत सूती वस्त्रों को निर्यात करनेवाले देश के स्थान पर रुई उत्पन्न और निर्यात करनेवाला देश बना दिया गया। अंग्रेजों के इस व्यवहार से भारतीयों को गहरी क्षति पहुँची। किन्तु इसके साथ ही केवल रुई उत्पादन करनेवाला देश बन जाने से कपास की खेती में बहुत प्रगति हुई और इसका क्षेत्र इतना बढ़ गया कि यह रुई उत्पन्न करनेवाले देशों में दूसरा गिना जाने लगा, जबकि अमेरिका का स्थान प्रथम था। १८६२ ई० से १८६६ ई० तक का समय भारतीय कपास उत्पादकों के लिए अत्यन्त लाभकर था। इस अवधि में रुई की माँग बढ़ने से व्यापारियों को यथेष्ट लाभ मिला और इसी लाभ के फलस्वरूप भारत में अनेक सूती कपड़े के नये कारखाने खुल गये।

यह प्रगति बराबर होती रही और वस्त्र उद्योग के क्षेत्र से हट जाने पर भी

रुई-उत्पादन में भारत का स्थान अधिक ऊँचा रहा। सन् १९३८-३९ में रुई का उत्पादन ५९ लाख गाँठ हो गया था। इस समय भारत को कपास की माँग केवल ३१ लाख गाँठ की थी अतः आवश्यकता से अधिक २८ लाख गाँठ बची हुई रुई विदेशों को भेज दी जाती थी, इस समय कपास का क्षेत्रफल भी २३९ लाख एकड़ हो चुका था।

जापान भारतीय व्यापारियों के लिए एक प्रसिद्ध बाजार था, जहाँ भारतीय कपास की अत्यधिक माँग थी, द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के फँस जाने से भारत का एक बड़ा बाजार बन्द हो गया। इस बाजार के बन्द हो जाने से भारतीय रुई की माँग घट गई और भारतीय व्यापारियों के सामने एक नई समस्या उपस्थित हो गई। इधर देश में खाद्यान्न वाली फसलों का भी अभाव हुआ और लोगों ने यह अनुभव किया कि देशी कपास के स्थान पर अन्न वाली फसलें पैदा की जायँ। इस क्रिया-कलाप का परिणाम यह हुआ कि कपास का उत्पादन ५९ लाख गाँठ से घट कर १९४६-४७ में ३६ लाख गाँठ रह गया और क्षेत्रफल २३९ लाख एकड़ से घट कर १४९ लाख एकड़ रह गया।

देश के बँटवारे से कपास उगाने वाले क्षेत्र और उत्पादन में और भी कमी हुई। सिन्ध और पश्चिमी पंजाब जैसे कपास उगाने वाली भूमि भारत से पृथक हो गई और अब भारत में कपास का क्षेत्र केवल १०६ लाख एकड़ और उत्पादन २२ लाख गाँठ रह गया। १९५०-५१ ई० में देश में प्रथम पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की गई और कपास के क्षेत्र तथा उत्पादन की वृद्धि पर व्यय करने के लिए एक बहुत ही बड़ी धनराशि स्वीकृत की गई। अनुमान लगाया गया कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होते-होते सन् १९५५-५६ तक कपास का उत्पादन ४२ लाख गाँठ हो गया। किन्तु १९५५-५६ ई० का यह लक्ष्य समय से पूर्व ही पूरा हो गया और १९५३-५४ ई० में कपास का उत्पादन लगभग ४४ लाख गाँठे हो गया। विगत पाँच वर्षों में कपास के क्षेत्रफल में भी काफी वृद्धि हुई। यह क्षेत्र १०६ लाख एकड़ से बढ़कर १६० लाख एकड़ हो गया। यद्यपि कपास की खेती तथा उसके उत्पादन में काफी प्रगति हुई है, परन्तु फिर भी हमारे देश के वस्त्र उद्योग को अभी लगभग १० लाख गाँठें कपास विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। अतः वस्त्र व्यवसाय की इस माँग की पूर्ति के लिए कपास के उत्पादन में अभी वृद्धि की आवश्यकता है।

इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर केन्द्रीय सरकार ने अनेक दीर्घ प्रणाली

योजनायें प्रारम्भ की हैं। राज्य सरकारों में भी अपने-अपने राज्यों ने कपास का क्षेत्र और उत्पादन में वृद्धि करने के लिए सक्रिय कदम उठाया है। उत्तर प्रदेश में इसके लिए तीन योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं जिनमें दो बुन्देलखंड जिले में गोहन्दु तथा जातिरपुर में और तीसरी इलाहाबाद जिले में करछना में लागू है। बुन्देलखण्ड में योजना क्षेत्र के कृषकों को सरकारी सहायता के रूप में कपास के बीज और उर्वरक दिये जाते हैं और इलाहाबाद जिले में कृषकों को बीज मुफ़्त बाँटने का प्रबन्ध है। सरकार ने कृषकों को यह आश्वासन दिया है कि वह उनकी सारी रुई खरीद लेगी। ऐसा अनुमान है कि इस प्रयोग के सफल होने पर रुई का उत्पादन द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व के स्तर पर पहुँच जायगा। ऐसी आशा की जाती है कि इन योजनाओं के सफल होने पर अन्य क्षेत्रों में भी कपास की खेती बढ़ाई जायगी।

उत्तर प्रदेश में कपास का वर्तमान क्षेत्रफल लगभग २,२०,००० लाख एकड़ है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६०,००० एकड़ और कपास के क्षेत्र के बढ़ाने का लक्ष्य है जिसके पूरा होने पर कुल क्षेत्रफल लगभग २,८०,००० एकड़ और उत्पादन १,१० लाख गाँठें हो जायगी। योजना में बढ़ाये ६०,००० एकड़ नए क्षेत्र से कपास की ५०,००० गाँठों के उत्पादन का अनुमान है और शेष ६०,००० गाँठें कपास के उन्नत बीज प्रयोग करके प्राप्त की जायगी।

राज्य में कपास के कुल क्षेत्रफल में केवल १,२०,००० एकड़ में ही उन्नत जातियों का प्रयोग होता है। उन्नत जातियों में अमेरिकन और ३५% सम्मिलित हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह अनुमान है कि योजना के समाप्त होते-होते कपास के सम्पूर्ण क्षेत्र में उन्नत जातियाँ प्रयोग की जाने लगेंगी। उन्नत जातियों के प्रयोग करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य में अमेरिकन तथा देशी जातियों की उपज बढ़ायी जाय और लम्बे रेशे वाली कपास उत्पन्न की जाय। छोटे रेशे वाली देशी कपास की उपज बहुत कम मिलती है और उसके रेशे भी बहुत छोटे और मोटे होते हैं। इनके स्थान पर लम्बे रेशे वाली उन्नतिशील जातियाँ उगाने से रुई का उत्पादन बढ़ सकता है और रेशे भी बारीक प्राप्त हो सकते हैं। ३५/१ देशी कपास द्वारा तैयार की गई उन्नत जाति है जिसके रेशे देशी जाति की अपेक्षा ३/८ इंच लम्बे और सफेद होते हैं। रेशों की बारीक कृषि विभाग द्वारा वैज्ञानिक अनुसन्धान कर के तैयार की गई है। ३५/१ को अधिक प्रचलित बनाने लिए सरकार मेरठ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, सहारनपुर और मुरादाबाद में उन्नत बीज बट रहे हैं। कपास की एक अन्य उन्नत जाति २१६फ

है। जिसकी प्रसिद्धि के लिए भी राज्य सरकार प्रयत्न कर रही है। बुलन्दशहर, अलीगढ़, आगरा, मथुरा, और एटा जिले के सिंचित क्षेत्रों में पूर्ण रूप से और इटावा, फर्रुखाबाद, मैनपुरी तथा कानपुर जिले में आंशिक रूप से इस जाति के बीज बोये जा रहे हैं। प्रदर्शन के लिए यह जाति उन भागो में भी भेजी जा रही हैं जहाँ ३५ का अधिक प्रचार है। वर्तमान वर्ष का लक्ष्य है कि वर्ष के समाप्त होते-होते ३५ जाति का क्षेत्रफल ६०,००० एकड़ और २१६फ का क्षेत्रफल ७०,००० बढ़ाया जायगा तथा ८०,००० गाँठ प्राप्त की जायगी।

वितरण—कपास की खेती विश्व के उष्ण कटिबन्धीय भागों में की जाती है किन्तु आजकल यह इन भागों के अतिरिक्त और क्षेत्रों में भी उगायी जा रही है। मोटे रूप में यों कहा जा सकता है कि यह भूमध्य रेखा के ३०° या ४०° अक्षांश उत्तर और दक्षिण के प्रदेश में दोनों ओर उत्पन्न की जाती है। इस प्रदेश में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्य, मध्य अमेरिका, मेक्सिको, ब्राजील, वेस्टइंडीज, आस्ट्रेलिया, मिश्र और अफ्रीका महाद्वीप के अधिकांश क्षेत्र, ईरान, ईराक, दक्षिणी तुर्किस्तान, एशिया माइनर, रूस, चीन और भारतवर्ष आते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का सबसे अधिक कपास उत्पन्न करने वाला देश है। वहाँ संसार की कुल उपज का ६५ प्रतिशत उगाया जाता है, जहाँ भारत में कुल उपज का १५%, मिश्र में ६½% और रूस में ४½% और शेष अन्य कपास उगाने वाले देशों से प्राप्त होता है। भारत में इसे अधिकांशतः काली भूमि में उत्पन्न करते हैं किन्तु इसे कुछ अंश में सिन्ध और गंगा के मैदानी भागों में भी पैदा किया जाता है। भारत में कपास का कुल क्षेत्रफल १६,८४३ हजार एकड़ है। यहाँ कपास की अधिक उपज देने वाला राज्य बम्बई है जिसके पश्चात् क्रमशः मैसूर, मद्रास, मध्यप्रदेश, पंजाब, आन्ध्रप्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि आते हैं। उत्तर-प्रदेश में कपास की खेती बहुत कम क्षेत्रफल में की जाती है और यह क्षेत्रफल पूरे भारतवर्ष की उपज का लगभग १ प्रतिशत पड़ता है।

राज्य	अनुमानित क्षेत्र हजार एकड़ में		अनुमानित उपज हजार गाँठ में	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्र प्रदेश	१,००५	१,०३१	१३५	१३१
आसाम	३५	३८	६	६
बिहार	७	११	१	२
बम्बई	१०,८३३	१०,८५८	२,१७६	१,६२१
केरल	२२	२२	१०	१०
मध्य प्रदेश	२,१८५	२,४२५	६५३	४०३
मद्रास	१,२०४	१,१६०	३५८	३३५
मैसूर	२,४०३	२,३८८	३५८	३६३
उड़ीसा	२३	२४	२	२
पंजाब	१,४१५	१,२५३	८००	६०५
राजस्थान	५४२	६०४	१६७	१८४
उत्तर प्रदेश	१४७	१४१	४६	२८
पश्चिमी बंगाल	अ	अ	ब	ब
दिल्ली	१	१	ब	ब
हिमाचल प्रदेश	१	१	ब	ब
त्रिपुरा	२०	२१	८	१
कुल	१९,८४३	१९,९७८	४,७२३	४,००१

नोट—अ—५०० एकड़ से नीचे ब—५०० गाँठ से नीचे

विभिन्न देशों में कपास का क्षेत्रफल और उपज इस प्रकार है—

देश	क्षेत्रफल हजार एकड़ में	उपज प्रति एकड़ पौं० में
संयुक्त राज्य अमेरिका	१७·८५	२५०
भारतवर्ष	१८·३५	८६ से १००
चीन	७·६६	१५०
ब्राजील	४·६६	१४०
पाकिस्तान	२·६४	१६५
मिश्र	२·०५	४००
मैक्सिको	१·८५	३००
अरजेन्टाइना	१·२५	२००
टर्की	१·११	२७५

विभिन्न देशों में कपास के उत्पादन का प्रतिशत निकालने से पता चलता है कि अमेरिका विश्व के कपास की कुल उपज का २६%, भारत २३%, चीन १३%, ब्राजील ८%, अन्य देश २७% उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कपास उगाने वाले देशों में भारत का महत्वपूर्ण स्थान है।

भूमि—कपास की खेती दक्षिणी भारत तथा बम्बई की काली मिट्टी से लेकर उत्तर भारत की सिन्धु-गंगा के मैदान की अलुवियल मिट्टी में की जाती है। काली मिट्टी वाले राज्य मध्य प्रदेश, बरार, हैदराबाद, मद्रास, बम्बई आदि हैं। अलूवियल भूमि के क्षेत्र सिंधु और गंगा नदियों की लायी हुई मिट्टी से बने मैदान में है। अलूवियल भूमि कपास के लिए सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

काली भूमि, जिसे प्रायः कपास की काली भूमि कहते हैं, सम्भवतः चूनामय फल्सपार से बनी है। इसमें निम्नलिखित पदार्थ उपस्थित होते हैं।

अघुलनशील ७६% लोहा और अल्यूमिना १०%, चूना और मैगनीसिया ५.५%, पोटाश .५%, फासफोरिक एसिड .०५%, नाईट्रोजन ०४%

इस मिट्टी की जलग्रहणशक्ति बहुत अधिक होती है और रंग काला होता है, किन्तु कालापन स्थान-स्थान पर बदलता हुआ पाया जाता है। इनमें चूने के पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े जिन्हें कंकण कहते हैं उपस्थित होते हैं। कभी-कभी इनमें चूने की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ये कृषि के उपयुक्त नहीं रह जातीं। मिट्टी की गहराई १८″ से लगभग १०′ तक पाई जाती है। काली मिट्टी के अतिरिक्त कपास की खेती लाल, हल्की लाल और राख के रंग की दोमट भूमि में भी उत्पन्न की जाती है। किन्तु पथरीली और बलुई भूमि इसके लिए उपयुक्त नहीं होती। चिकनी मिट्टी में भी कपास भली भाँति नहीं उगाया जा सकता। इसके लिए वही भूमि अच्छी समझी जाती है जिसमें जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो। जिस भूमि में पानी जमा रह जाता है उसमें पत्तियों और बालों के झरने का भय रहता है। क्षारीय भूमि कपास की कृषि के लिए उपयुक्त नहीं होती। आसाम की पहाड़ियों के ढालों पर जंगलों को साफ कर कपास की खेती की जाती है। कपास की खेती उसकी जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि में अच्छी उपज देती है जैसे, कपास की देशी जाति जो एशियाटिक के नाम से प्रसिद्ध है, काली मिट्टी में सफलतापूर्वक उत्पन्न की जाती है। इसी प्रकार न्यूवर्ल्ड कपास की किस्म काली मिट्टी की अपेक्षा लाल मिट्टी में अच्छी उपज देती है। जब यह किस्म वर्षा के आधार पर उगायी जाती

है तो इसे काली और लाल दोनों मिट्टियों में उगाया जाता है। किन्तु सिंचित रूप में यह लाल भूमि में ही पैदा की जाती है।

कपास के लिए ऐसी भूमि सर्वोत्तम मानी जाती है जिसमें जीवांश-पदार्थ के साथ-साथ बालू, सिल्ट, चिकनी मिट्टी उपयुक्त अनुपात में हो। उसमें रिक्त छिद्रों की उपस्थिति अधिक होनी चाहिए जिसके ६०% भाग में नमी और ४०% में वायु मौजूद हो और उसमें जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो। जिस भूमि में पानी जमा रहता हो वह कपास की खेती के लिए अच्छी नहीं समझी जाती। रेहीली और उसरीली भूमि में भी कपास उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अनुभव से ऐसा ज्ञात किया गया है कि गन्ने का खेत कपास के लिए अच्छा सिद्ध होता है क्योंकि इसे पिछले वर्ष की खाद उपलब्ध हो जाती है और जो इसके लिए यथेष्ट होती है। न्यू वर्ल्ड काटन (New world cotton) की किस्में काली भूमि में न उगाकर अन्य भूमियों में उगाई जाती हैं किन्तु इनके लिए सिंचाई की उचित व्यवस्था आवश्यक होती है। यदि खेत में सिंचाई के सुप्रबन्ध की अनुपस्थिति में पानी जमा हो जाता है तो कपास की बाढ़ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इनके लिए लाल और हल्की लाल भूमि उपयुक्त होती है। जब इस किस्म की कपास वर्षा के आधार पर उत्पन्न की जाती है तो इसे काली भूमि में उगा सकते हैं। कपास को दोमट और चिकनी दोमट भूमि में भी सफलतापूर्वक उगाते हैं। भारतवर्ष में इसे अधिकांशतः काली भूमि में ही पैदा किया जाता है और वहाँ इसकी उपज भी सन्तोषजनक प्राप्त होती है। गंगा-सिन्ध की अलूवियल भूमि में इसे सिंचाई के आधार पर उत्पन्न किया जाता है। वहाँ दोमट भूमि में यह अच्छी उपज देती है।

जलवायु—कपास की उपज पर जलवायु का विशेष प्रभाव पड़ता है। देशी कपास भूमि और जलवायु की उपयुक्त स्थिति में ही अच्छी उपज दे सकती है। यदि इनका प्रभाव प्रतिकूल हो जाता है तो उपज में अधिक हानि होने की आशंका हो जाती है। जलवायु में धूप, वर्षा, नमी और वायु पाँच बातें सम्मिलित होती हैं। कपास के लिए उसकी अवधि में धूप की अधिक आवश्यकता होती है। बढ़वार के साथ धूप का अधिक होना आवश्यक होता है। उगने के समय कम धूप थोड़े समय तक वांछनीय होती है। पौधे ज्यों-ज्यों बढ़ते जायँ धूप की मात्रा उसी प्रकार बढ़ती जानी चाहिए। पूर्ण परिपक्व स्थिति में धूप की यथेष्ट मात्रा पौधों पर अच्छा प्रभाव डालती है। कपास के लिए औसत तापक्रम ६० डिग्री फा० माना जाता है। ७०° फा० के

ऊपर का तापक्रम बीज के अंकुरण के समय होना चाहिए। यह तापक्रम कपास की चुनाई के समय लगभग १०५° फा० आवश्यक होता है। फलियों के पकने के लिए २५° से २७° सें० का तापक्रम उचित समझा जाता है। तापक्रम की यह मात्रा यदि सामान्य स्थिति में रहे तो पौधों के वानस्पतिक उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। देशी कपास कुछ स्थानों पर आठ महीनों में तैयार होती है और कुछ स्थानों पर पाँच महीनों में। आठ महीनों में तैयार होने वाली कपास अधिकतर दक्षिण भारत में उत्पन्न की जाती है। इस कपास की अवधि लम्बी होने के कारण इस पर पाले का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता। पाँच महीने में तैयार होने वाली कपास मध्यभारत और उत्तर भारत तक सीमित है। इस क्षेत्र में अवधि के छोटी होने पर जाड़े के दिनों में पाला पड़ने की आशंका होती है। फसल पर पाले का प्रभाव बहुत हानिकर सिद्ध होता है। अतः इसकी रक्षा के लिए आवश्यक उपाय शीघ्र ही प्रयोग में लाना चाहिए। जिन स्थानों पर गरम ऋतु और सामान्य तापक्रम पाया जाता है और अन्य स्थितियाँ सन्तोषजनक होती हैं तो बड़ी अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। जब पौधे छोटे होते हैं तो रात में ठंढक का अधिक बढ़ जाना हानिकर प्रभाव डालता है। इससे पौधों का वानस्पतिक बढ़ाव रुक जाता है और वे बौने रह जाते हैं।

बढ़ाव के काल में तापक्रम के उचित होने के साथ-साथ भूमि मे नमी की उचित मात्रा की उपस्थिति आवश्यक होती है। जिन स्थानो पर भूमि में नमी की अधिक मात्रा मौजूद रहती है वहाँ बढ़वार उपयुक्त होती है किन्तु नमी का अधिक हो जाना भी बढ़वार को रोक सकता है। ऐसी स्थिति में खेत में जल-निकास का प्रबन्ध कर अनावश्यक पानी बाहर निकाल देना चाहिए। जिन स्थानों पर नमी का अभाव होता है वहाँ सिंचाई द्वारा पौधों की आवश्यकता पूरी की जाती है। वर्षा के आधार पर उगाई जाने वाली कपास को ३० से ३५ इंच की वार्षिक वर्षा उपयुक्त समझी जाती है। किन्तु इस वर्षा की मात्रा का विभाजन अधिक उपयुक्त ढंग से होना चाहिए। इसकी खेती २०" वार्षिक वर्षा वाले स्थानों से लेकर ६०" की वर्षा वाले स्थानों में की जाती है। इसे उन स्थानों पर भी उत्पन्न किया जा सकता है जहाँ वार्षिक वर्षा २०" से भी कम होती है किन्तु ऐसे स्थानों पर सिंचाई की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पौधों को आवश्यकतानुसार पानी दिया जा सके। पौधे में फलियाँ आते समय अधिक वर्षा का होना उपयुक्त नहीं होता क्योंकि इससे पौधों में लगे फूल और नई फलियाँ भूमि पर गिरने लगती हैं। पौधों की कटाई के समय वर्षा होने से रुई

का रेशा भी क्षतिग्रस्त हो जाता है। दूसरी ओर यदि सूखा पड़ जाता है और पौधे पानी की आवश्यक मात्रा नहीं प्राप्त कर पाते तो उपज कम मिलती है। पौधों के पकने के समय तापक्रम का कम होना अच्छा होता है। दिन का खुला और साफ होना तथा रात को सर्दी की स्थिति रुई की उपज में वृद्धि करती है।

कपास की उपज पर वातावरण की नमी का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। इससे धागे और बारीक बन सकते है। इसकी उपयुक्त स्थिति में बीमारियों का आक्रमण भी कम होता है। कपास को ३७° अक्षांश उत्तर से ३५° अक्षाश दक्षिण तक उत्पन्न किया जाता है। किन्तु इसमें रूस एक अपवाद है। जहाँ ४७° अक्षांश उत्तर तक उगाया जाता है। कपास की खेती विश्व के अनेक भू-भागों पर की जाती है जिससे यह अनेक प्रकार की भूमियों और जलवायु में उत्पन्न किया जाता है। इसे किसी भी देश में जहाँ निम्नतम तापक्रम ७७° फा० हो, उत्पन्न किया जा सकता है। इसके साथ ही बढ़वार के समय पाले का प्रभाव न होना धूप की अधिकता और नमी का बाहुल्य आवश्यक है।

जातियाँ और विभाजन—कपास मालवेसी (Malvaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है जिसमें पटुवा, पटसन, भिंडी आदि सम्मिलित होते हैं। इसका जीनस गासीपियम (Gossypium) है जिसमें कई किस्में आती हैं। इनमें कुछ जंगली और कुछ उगाई जाने वाली हैं। गासीपियम जीनस के विभाजन पर लोग बहुत दिनों से लगे हैं। सर जार्ज वाट ने १६०७ ई० में इस जीनस की ४२ किस्में और जातियाँ खोज निकाली थीं। इनमें कुछ जंगली और कुछ उगाई जाने वाली थीं। आधुनिकतम विभाजन इस प्रकार है।

१—नवविश्व की कपास (New world cotton)

इसमें दो किस्में अधिक प्रधान हैं जिनका नाम गासीपियम हिरसूटम (G. hirsutum) और दूसरा गासीपियम बार्बेडेन्स (G barbadense) है।

२—प्राचीन विश्व की कपास (Old world cotton)

इसमें गासीपियम अरबोरियम (G. arboreum) और दूसरा गासीपियम हरबेसियम (G. herbaceum) सम्मलित होती हैं।

आधुनिकतम गवेषणा से यह ज्ञात किया गया है कि भारतवर्ष में प्राचीन भारत की कपास की ही जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं।

गासीपियम हिरसुटम—कपास की यह किस्म नए विश्व की कपास के नाम से विख्यात है। भारतवर्ष में लोग इसे अमेरिकन कपास के नाम से पुकारते हैं। यह विश्व के अनेक भागों में उगाई जाती है। भारतवर्ष में भी इसे अनेक स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है जिसमें पंजाब, मद्रास, बम्बई, मध्यभारत और मैसूर अधिक मुख्य हैं। पंजाब में इस पर बहुत ध्यान दिया गया है और इसकी कई एक जातियाँ निकाल ली गई हैं। इन जातियों में पंजाब ४ फ, पंजाब २८५ फ, और पंजाब २८६ फ, उन्नतिशील जातियाँ हैं। आजकल ३८ फ और ४३ फ उपर्युक्त जातियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं और इनसे अच्छी उपज भी प्राप्त की गई है। मद्रास में यह कपास कम्बोडिया के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी एक प्रचलित किस्म कोयम्बटूर न० २ है जिससे यहाँ अच्छी उपज प्राप्त की जा रही है। बम्बई में यह कपास धरवार अमेरिकन कही जाती है। इससे उन्नति जातियाँ निकाली गई हैं जिनमें गदाग अधिक मुख्य है। यह कपास कुछ स्थानों पर देशी जातियों के साथ मिला दी गई और वहाँ उसी प्रकार उत्पन्न की जाती है। मध्यभारत में ऐसी ही मिश्रित जाति मलान है, जो देशी और अमेरिकन कपास से निकली है।

गासीपियम बारबेडेन्स—यह कपास सी आइलैंड कपास (Sea island cotton) के नाम से मुख्य है। इसमें अमेरिका और मिश्र की लम्बी धागे वाली जातियाँ सम्मिलित हैं। हिरसुटम की भाँति यह भी विश्व के अनेक भागों में उत्पन्न की जाती है। भारतवर्ष में यह पश्चिमोत्तर भारत में अधिक प्रचलित है जहाँ इसे मिश्री कपास के नाम से पुकारा जाता है। यह कपास धागे के विचार से सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है, क्योंकि इसके धागे १½″ से १⅚″ की लम्बाई तक के होते हैं। ये बहुत बारीक और रूप में सिल्क जैसे होते हैं।

गासीपियम अरबोरियम—कपास की यह किस्म भारतवर्ष में अधिक प्रचलित है। इसमें तीन जातियाँ सम्मिलित होती हैं। (१)—वारटीपिकम (Var. typicum) (२) वार निगलेक्टम (Var neglectium) और (३) वार सरनुअम (Var. cernuum)।

टीपिकम जाति की कपास हचिन्सन और घोष (Hutchinson and Ghose) के अनुसार फामी बेंगालेन्सिस श्रेणी में रक्खी जाती हैं, जो मुख्यतः आसाम में उत्पन्न की जाती है। फामी इन्डिका एक दूसरी श्रेणी है जो मध्यभारत, काठियावाड़ और गुजरात में उत्पन्न की जाती है। निगलेक्टम जाति

आसाम, बंगाल, पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश, राजपूताना, गंगा के मैदानी भाग, मध्यभारत, खानदेश, गुजरात, काठियावाड़ और मध्यभारत में उत्पन्न की जाती है। सिरनुअम जाति की कपास आसाम और पूर्वी बंगाल में पैदा होती है। निगलेक्टम जाति में मालवी रोजियम, मुलीसोनी, वीरुम आदि कपास की क़िस्में सम्मिलित की जाती हैं।

गासीपियम हरबेसियम—कपास की यह किस्म तीन जातियो-टीपिकम, अफ्रीकेनम, और फ्रूटीसेन्सा सम्मिलित करती है। टीपिकम जाति पश्चिमोत्तर भारत में पाई जाती है। कपास की यही जाति भारत की मौलिक ज्ञात होती है। अफ्रीकेनम जाति जैसा नाम से ही विदित है दक्षिणी अफ्रीका में उगाई जाती है। फ्रूटीसेन्सा दक्षिण भारत में, मद्रास से कूच तक उत्पन्न की जाती है। बड़ौच, उघम, लैलियो, कनवी, कुमता और वगाद स्थानीय जातियाँ कपास की इसी किस्म में सम्मिलित की जाती हैं। बड़ौच जाति की कपास के धागे ७/८ से एक इंच तक लम्बे होते हैं। यह इतने सफेद होते हैं कि इसी कारण कपास के व्यवसाय में इसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह बड़ौच और सूरत जिले में उत्पन्न की जाती है। इस कपास की एक टाइप गोगरी है जो गुजरात और अहमदाबाद में अधिकतर उत्पन्न की जाती है। इस कपास का गिन्निग प्रतिशत बहुत अधिक है। उघम कपास के धागे की लम्बाई ३/४" होती है। इसे मद्रास में कोयम्बटूर और त्रिचनापल्ली के जिलों में उगाया जाता है। लेलियों और कनवीस जातियाँ काठियावाड़ और गुजरात में अधिक प्रचलित हैं। लैलियो कपास में एक विशेषता यह होती है कि इसकी फलियाँ परिपक्व स्थिति में फूटती हैं और कपास पृथ्वी पर गिरा देती हैं। इसके धागे ५/८ से ३/४" लम्बे होते हैं। कनवी कपास से धागो की लम्बाई १/२" से ५/८" तक होती है। कुम्पता जाति की कपास बम्बई राज्य में कुम्पता धरवार डिवीजन में उत्पन्न की जाती है। इसकी दो जातियाँ जैवन्त और धरवार न० १ इस क्षेत्र में अधिक मुख्य हैं। कुम्पता कपास के धागे ३/४ से ७/८" लम्बे होते हैं।

कपास की किस्में रेशे और उनकी लम्बाई के आधार पर व्यापारिक दृष्टि से भी विभाजित की जाती हैं। भारत में इस प्रकार १३ वर्ग होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. **अमरीकन किस्म**—इसे उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, पेप्सू और हैदराबाद में उत्पन्न किया जाता है। २. **सूरती**—इसका कृषि क्षेत्र बम्बई में सूरत-

बड़ौदा और भड़ौंच के जिले हैं। ३. **बंगाल**—राजस्थान, पंजाब और उत्तर प्रदेश में यह उगायी जाती है। ४. **गऊरानी**—इसे हैदराबाद में उगाया जाता है। ५. **दक्षिणी**—इसे आंध्र प्रदेश के गन्तूर और करनूल जिले में, मैसूर के बेलारी जिले में; बम्बई के कर्नाटक क्षेत्र तथा हैदराबाद में पैदा किया जाता है। ६. **कम्बोडिया**—यह किस्म मद्रास में कोयम्बटूर, त्रिचनापल्ली, सलेम, रामनाथ पुरम आदि जिलों में उत्पन्न की जाती है। ७. **सेंट्रल इण्डिया**—यह किस्म मध्यभारत में अधिक प्रसिद्ध है। ८. **सलेम**—मद्रास के सलेम कोयम्बटूर तथा त्रिचनापली क्षेत्र में अधिक उत्पन्न होती है। ९. **धोल्लेरास**—उत्तर गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छ की यह व्यापारिक किस्म है। १०. **उमरास**—हैदराबाद, मध्य प्रदेश तथा बम्बई के खानदेश में इसका अधिक प्रचलन है। ११. **तिन्नेवली**—मद्रास प्रदेश में यह उगाई जाती है। १२. **मद्रासयूगान्डा**—मद्रास प्रदेश में और १३. **कोमिल्ला**—आसाम के पर्वतीय भागों में पैदा किया जाता है।

उन्नत जातियाँ—भारतवर्ष में कपास की उन्नत जातियाँ उत्पन्न करने
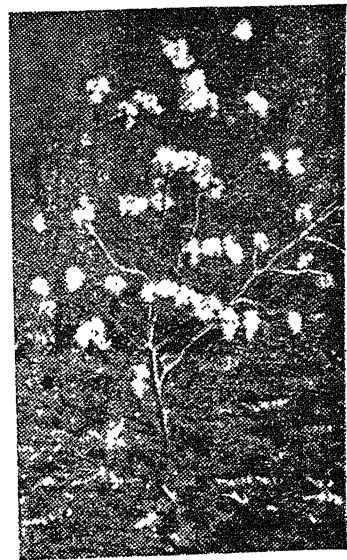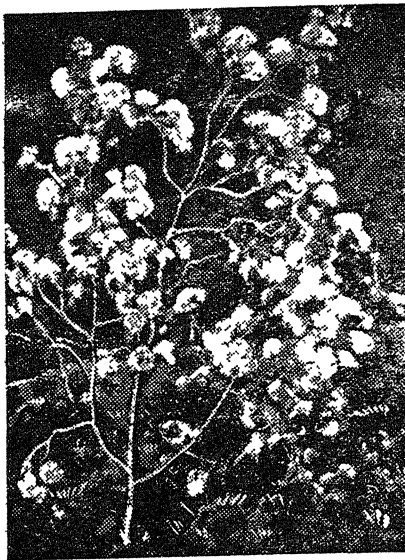
कपास की उन्नत किस्म ३२० एफ

कपास की उन्नत किस्म २१६ एफ—चित्र ३१, ३२

का प्रयत्न पिछले कुछ वर्षों से हो रहा है। इस प्रयास में भारतीय केन्द्रीय कपास समिति का अधिक योग है। इस समिति ने गत ३० वर्षों से इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है और विभिन्न राज्यों की भूमि और जलवायु के आधार पर कपास की अनेक उन्नत जातियाँ भी तैयार की हैं। इन जातियों का विवरण संक्षेप में यहाँ दिया जायगा।

३२० एफ—यह उन्नत किस्म पंजाब में अमृतसर, जलन्धर, गुरदासपुर, फीरोजपुर तथा लुधियाना के लिए अधिक उपयुक्त है। इसके रेशे २९/३२ इंच लम्बे होते हैं। इसमें रुई का प्रतिशत ३३ से ४० तक होता है। बोआई अप्रैल-मई में की जाती है। इसका चित्र पिछले पृष्ठ में दिया गया है।

२१६ एफ—यह किस्म पंजाब, मद्रास, पेप्सू और उत्तर प्रदेश में उगायी जाती है। उत्तर प्रदेश में इसे बीकानेर के नहरी भागों, एटा और अलीगढ़ में पैदा किया जाता है। इसके रेशे की लम्बाई २८/३२ से ३०/३२ इंच तक होती है। कपास में रुई का प्रतिशत ३२ से ३३ तक पाया जाता है। इसे अप्रैल-मई में बोया जाता है। चित्र पिछले पृष्ठ पर है।

कल्याण—यह किस्म अहमदाबाद और मेहसाना जिले में अधिक प्रसिद्ध है। इसके रेशे २६/३२ से २७/३२ इंच की लम्बाई के होते हैं। रुई का प्रतिशत ४० से ४३ तक पाया जाता है। इसकी बोआई का समय जुलाई-अगस्त है।

३५/१—इसे उत्तर प्रदेश के मध्यवर्ती तथा पश्चिमी जिलों में उगाया जाता है। इसकी बआई मई-जून में होती है। इसके रेशे १३/१६ इंच लम्बे होते हैं। रुई का प्रतिशत ३४ से ३५ तक पाया जाता है।

सी० ५२०—यह किस्म राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश की जलवायु के लिए उपयुक्त पड़ती है। इसे जून-जुलाई में बोते हैं। रेशे ३/८ इच लम्बे होते हैं। रुई का प्रतिशत ३५ से ३६ होता है।

एम० ए० बी०—यह किस्म मैसूर राज्य के लिए अधिक उपयोगी है। इसके रेशे की लम्बाई १ १/१६ इंच और रुई का प्रतिशत ३४ से ३५ होता है। बोआई मानसून के प्रारम्भ में होती है।

सी० १—इसे आन्ध्र के गन्तूर क्षेत्र में उगाया जाता है। इसके बोने का समय मानसून का प्रारम्भ है। रेशे की लम्बाई २२/३२ से २६/३२ इंच और रुई का प्रतिशत २८ है।
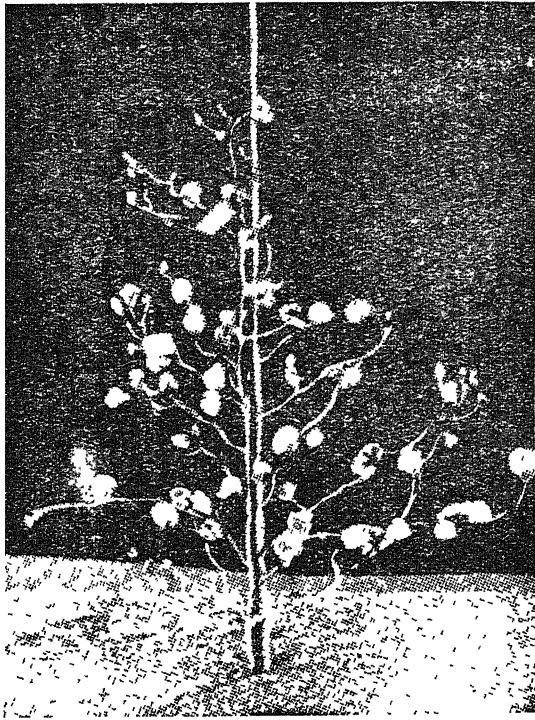
कपास का पौधा मैसूर की एम० ए० वी० किस्म—चित्र ३३

सी० २—यह किस्म आन्ध्र प्रदेश के करनूल जिले और मैसूर के बेलारी जिले में अधिक उपयुक्त पड़ती है। इसके रेशे $\frac{२२}{३२}$ से $\frac{२६}{३२}$ इंच लम्बे होते हैं। रुई का प्रतिशत ३० होता है। बोआई जून-जुलाई में करते हैं।

के० २—इसे मद्रास में मदुराई और रामनाथपुरम में उत्पन्न किया जाता है। इसकी बोआई अगस्त-दिसम्बर में करते हैं। इसके रेशे $\frac{२८}{३२}$ से $\frac{३१}{३२}$ इंच लम्बे और रुई २६ से ३०% पाई जाती है।

के० ५—यह के० २ किस्म से मिलती-जुलती है। इसके रेशे की लम्बाई और रुई प्रतिशत के० २ के समान है। इसे मद्रास के कोयम्बटूर, मदुराई, सलेम जिले तथा त्रिचनापल्ली में उत्पन्न किया जाता है।
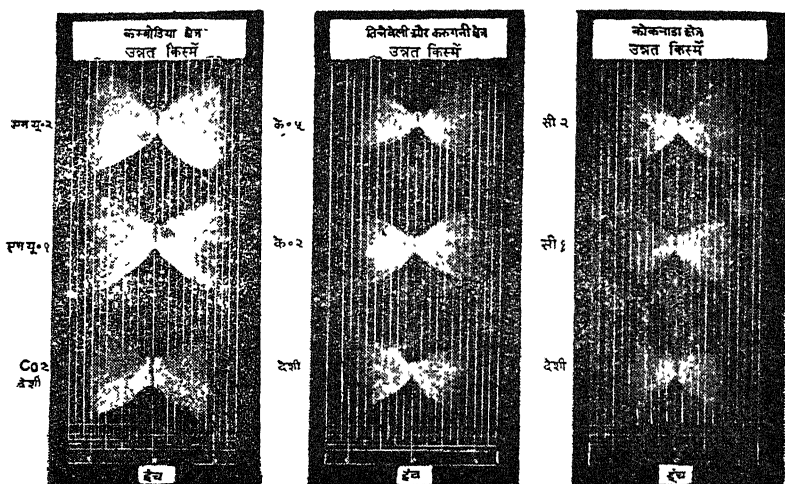
कपास की कुछ किस्मों के रेशे—चित्र ३४

सी ओ २—यह मद्रास राज्य में कोयम्बटूर, रामनाथपुरम, मदुराई, त्रिचनापल्ली, सलेम और तिरुनेवेली क्षेत्रों में उगाया जाता है। इसके रेशे ३०/३२ इंच और प्रतिशत ३४-३५ इंच होता है। बोआई का समय अगस्त-सितम्बर तथा दिसम्बर-जनवरी है।

विजय—यह किस्म बम्बई के अहमदाबाद जिले, और भड़ौंच तथा बड़ौदा में उगायी जा रही है। इसे जुलाई-अगस्त में बोते हैं। रेशे २४/३२ से २८/३२ इंच लम्बे और रुई का प्रतिशत ३७ से ४० है।

लक्ष्मी—इसे बम्बई, हैदराबाद और मैसूर में उगाते हैं। अगस्त-सितम्बर में बोआई होती है। रेशे २९/३२-३०/३२ इंच लम्बे और रुई का प्रतिशत ३४ से ३५ होता है।

प्रताप—यह किस्म सौराष्ट्र राज्य में अधिक प्रसिद्ध है। इसकी बोआई जून-जुलाई में करते हैं। रेशे की लम्बाई २९/३२ इंच और रुई का प्रतिशत ३२ से ३३ है।

वानस्पतिक विवरण—जैसा कि हमने पहले कहा है, कपास का पौधा मालवेसी अथवा मैलोकुल का सदस्य है जो अर्थशास्त्र की दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है।

कपास का पौधा झाड़ीदार, हरा और छोटे आकार का होता है। यह उगाई हुई स्थिति में वार्षिक पौधा है। किन्तु उष्ण कटिबन्ध में जंगली स्थिति में यह बहुवर्षीय भी पाया गया है। उगाई हुई स्थिति में इसे इस प्रकार बना दिया जाता है कि इसमें अधिक शाखाएँ उत्पन्न हो सकें। अतः पूरा पौधा अधिक लम्बा नहीं हो पाता। इसकी ऊँचाई २ फीट से ६ फीट तक होता है। किन्तु जंगली रूप में यह कुछ अधिक ऊँचा पाया जाता है।

कपास की जड़ सीधी टैपरुट कहलाती है। जड़ की लम्बाई पर स्थान विशेष तथा तापक्रम और भूमि में उपस्थित नमी का अधिक प्रभाव पड़ता है। साधारणतः जड़े लगभग ३ फीट लम्बी पाई जाती हैं। मुख्य जड़ में अतरिक्त जड़ें कुछ में मौजूद होती हैं। ऐसी शाखाओं की संख्या सभी जड़ों में एक-सी नहीं होती। बाल्स (Balls) के अनुसार ये सहायक जड़ें उसी समय निकलना प्रारम्भ कर देती हैं जब कि मुख्य जड़ की लम्बाई १२ से० की होती हैं। इनका बढ़ाव प्रायः पृथ्वी के समानान्तर होता है अथवा कुछ नीचे की ओर झुकी होती हैं। उर्वर भूमि में जड़ों की लम्बाई अधिक होती है क्योंकि उन्हें भूमि में अधिक गहराई में जाने में विशेष कठिनाई नहीं होती। ऐसी भूमि में सहायक जड़ें भी अधिक मात्रा में निकलती हैं।

कपास का मुख्य तना सीधा, शाखादार होता है। शाखाएँ मुख्य तने की गाँठों पर उपस्थित कलियों से निकलती हैं। मुख्य तने की ऊँचाई २½ से ४½ फीट कभी-कभी ६ फीट तक होती है। इनका बढ़ाव दिन के समय बन्द रहता है और ज्यों ही शाम होता है बढ़ाव का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। शाखाएँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम वानस्पतिक जो प्रत्येक पत्तो के आधार की कली से निकलती हैं। आधार पर उपस्थित कलियाँ कोणीय अथवा अतरिक्त कोणीय हो सकती हैं। दूसरे प्रकार की शाखाएँ फल पैदा करने वाली होती हैं जो केवल अतिरिक्त कोणीय से उत्पन्न होती हैं। ये शाखाएँ फूल पैदा करती हैं, जिनसे फलियाँ निकलती हैं। ये प्रायः मुख्य तने के ऊपरी भाग में ही निकलती हैं। निचले भाग में ये बहुत कम पाई जाती है। अतः फलवाली शाखाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु वानस्पतिक बढ़ाव वाली शाखाएँ भी कम महत्व की नहीं होतीं क्योंकि वे पूरे पौधे का आकार निश्चित करती हैं और

कार्बन विश्लेषण क्रिया में अधिक योग देती हैं। मुख्य तने की एक गाँठ पर दो भिन्न कलियों द्वारा फल वाली शाखा और वानस्पतिक बढ़ाव वाली शाखा साथ-साथ तैयार हो सकती हैं। किन्तु अधिकतर ऐसा नहीं होता। एक गाँठ पर एक कली ही निकलती है।

पत्तियाँ तने पर चक्राकार रूप में उपस्थित रहती हैं। इनकी उपस्थिति केवल वानस्पतिक बढ़ाव वाली शाखाओं पर ही होती है। फलवाली शाखाएँ पत्तियाँ नहीं उत्पन्न करतीं। पत्तियों का आकार एक दूसरे से भिन्न होता है। ये लोब्ड होती हैं। लोब की मात्रा एक पत्ती में तीन से नौ तक पाई जाती हैं और ये लोब लम्बे अथवा चौड़े हो सकते हैं। पत्तियाँ पेटियोल सहित और स्टिपुलेट होती हैं। ये स्टपुल कभी-कभी बहुत पहले गिर जाते हैं। तने पर पत्तियों की उपस्थिति का प्रबन्ध जो फिलोटैक्सी के नाम से पुकारा जाता है १/३, ३/८ या २/५ होता है। प्राचीन विश्व की कपास में यह प्रबन्ध प्रायः १/३ पाया जाता है। जिसका अर्थ यह है कि एक पत्ती जो दूसरे के ठीक ऊपर समकोण रूप में होती है, उसके बीच में तीन पत्तियाँ उपस्थित होती हैं। अमेरिकन कपास में यह प्रबन्ध ३/८ होता है। कुछ पत्तियाँ कभी-कभी एक विशेष प्रकार का आकार बना लेती है जिन्हें ग्लैंड कहते हैं। ये ग्लैंड पौधे से कुछ विशेष प्रकार के पदार्थ खींचते हैं और ग्लैंड में जमा कर देते हैं। इनकी उपस्थिति बहुधा पत्ती के निचले धरातल पर पाई जाती है। पत्तियों में अपलैंड जाति की पत्तियों का आकार बड़ा होता है। इनका रंग भी मिश्री कपास से गहरा होता है। इनकी पत्तियों का ऊपरी धरातल चिकना अथवा रोएँदार पाया जाता है।

जैसा कि हमने अभी पढ़ा है, फूल केवल फल वाली शाखाओं पर ही उत्पन्न होते हैं। एक गाँठ पर एक ही फूल रहता है। ये फूल कोणीय और अकेले हो सकते हैं। फूल में तीन ब्रम्टलेट उपस्थित होते हैं। इसी गुण के कारण अपने कुल के एक अन्य सदस्य हिबिस्कस जेन रासी पृथक किया जाता है। गासीपियम जेनरा में अन्थर स्टेमेन लगे रहते हैं अथवा स्टेमेन के नीचे उत्पन्न होते हैं। किन्तु हिबिस्कस में इनकी उत्पत्ति स्टेमेन पर होती है। फूल में पिस्टिल, स्टेमेन, पेटल, सेपल और इन्वालुक्री उपस्थित होते हैं। सेपल जिसे दलचक्र कहते हैं, बाहर की ओर पड़ता है। इनकी संख्या पाँच होती है जो आपस में जुड़े होते हैं। जुड़ने से इनका आकार प्याले की भाँति हो जाता है। दलचक्र के भीतरी ओर कुछ गाँठें पाई जाती हैं। दलचक्र का रंग हरा होता है। पेटल जो पुटचक्र के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं

संख्या में पाँच होते हैं। इनका रंग पीला होता है, जिसपर पेंदे की ओर लाल धब्बे पड़े होते हैं। पुटचक्र का रंग बहुत कुछ जाति विशेष पर निर्भर करता है। पुटचक्र आपस में दलचक्र की भाँति जुड़े होते हैं। स्टेमेन जिसे नर भाग कहते हैं, फूल का अधिक महत्वपूर्ण अंग है। यह इस प्रकार लगा रहता है कि एक कालम-सा बन जाता है जिसे स्टैमिनल कालम कहते हैं। इस कालम पर ऐन्थर बहुत अधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं। स्टैमिनल कालम से ही स्त्री अंग की उत्पत्ति होती है। स्त्री अग में कई कारपेल होते हैं, जिनकी संख्या स्टिगमा के सम्मिट पर उपस्थित लोब की मात्रा से जानी जा सकती है। फूल का पाँचवाँ अंग इनवॉलुकरी (Involucre) कहा जाता है। यह तीन या चार ब्रैक्ट के जुड़ने से बनता है। ब्रैक्ट बड़े डेन्टेट या इन्टायर हो सकते हैं। अमेरिकन कपास में ब्रैक्ट के बाहरी धरातल के आधार पर कुछ नेक्टरीज पाये जाते हैं। किन्तु ये एशियायी कपास में नहीं उपस्थित होते।

प्रकृति के नियमानुसार कपास के फूल में स्वयं सेचन (Self fertilization) होता है। परसेचन के अवसर बहुत कम होते हैं; किन्तु कृत्रिम ढंग से यदि कुछ उपाय किये जायँ तो परसेचन के अवसर बढ़ाये जा सकते हैं। प्रयोगो से ज्ञात किया गया है कि जब अगल-बगल की दो पंक्तियों में कपास की दा जातियाँ उत्पन्न की जायँ तो परसेचन ४ से २० प्रतिशत हो सकता है। किन्तु दो जातियों में पारस्परिक दूरी यदि बढ़ा दी जाती है तो परसेचन के अवसर कम हो जाते हैं। सेचन के पश्चात् फूल का निर्माण होता है। जिन्हें बॉल (Boll) कहते हैं। बीज और धागे इन्हीं बालों में बन्द रहते हैं और ज्यों ही ये फटते हैं कि धागे और बीज बाहर निकलने लगते हैं। बॉल रूप और आकार में समान नहीं होते किन्तु साधारण तौर से अन्डाकार होते हैं। सिरों पर नुकीले होते हैं। बॉल अनेक लाकुलो में जो लाक के नाम से पुकारे जाते हैं, बँटे होते हैं। ये बाल पूरे फल को कई विभागों में विभाजित करते हैं। जिन्हें फल के फटने के पश्चात् सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। बाल के फटने पर लाकुली अपने मध्य धुरी से अलग हो जाते हैं। उस समय एक लाकुली से दूसरे को अलग करने वाली पंक्ति जिसे सूचर कहते हैं, भी फट जाती है। एक लाक में बीज की मात्रा ६ होती है और इस प्रकार सम्पूर्ण बाल इनकी संख्या २० और दत्त के अनुसार २४ से ५० तक पाई जाती है। एक पौधे पर कितने बॉल होते हैं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसपर जलवायु, भूमि, खेती के ढंग और जाति विशेष का प्रभाव पड़ता है। बीज अण्डाकार होते हैं। कभी-कभी ये कोणीय आकार के

होते हैं। इनका रंग सफेद भूरे से लेकर, भूरे काले तक होता है। इन बीजों पर बॉल होते हैं जो लम्बे या छोटे हो सकते हैं। बीजों का अंकुरण १२ से ४०° सें० पर होता है।

बॉल के भीतर बीजों सहित धागा (Fibre) उपस्थित होता है, जो बीज के बाहरी पर्दे की इपिडर गलसेल की उपज है जो बढ़ जाने पर धागे का आकार ग्रहण कर लेती है। यह धागा १" की लम्बाई तक बढ़ता जाता है और कभी-कभी इससे भी अधिक हो जाता है। इन धागों से स्टैपुल या लिन्ट (Staple or Lint) बनते हैं जो व्यवसाय में अधिक महत्वपूर्ण हैं। धागों का आकार छोटा-बड़ा हो सकता है। छोटा होने पर बाजारों में इनकी माँग अधिक नहीं रहती और मूल्य भी घट जाता है। ये धागे फज (Fuzz) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। यह बीज में ही लिपटे होते हैं किन्तु कुछ बीज ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें किसी प्रकार के धागे नहीं होते। ऐसे बीज नंगे कहे जाते हैं क्योंकि जब इनकी **ओटाई** की जाती है तो ये पूर्णतः साफ हो जाते हैं। धागे प्रारम्भ में गोलाकार होते हैं। किन्तु पकने पर इनका आकार बदल जाता है। पकने पर ये चौड़े हो जाते हैं। यदि इन्हें हाथ से पकड़ कर दबाया जाय तो चक्राकार आकृति बना लेते हैं। एक धागे में कितनी गाँठें हैं यह जातियों के अनुसार बदलता रहता है। १" में जितनी ही अधिक गाँठें होती हैं, वह रुई उतनी ही अच्छी समझी जाती है। देशी कपास में ये गाँठें प्रति इंच में १५० होती हैं। जब कि अमेरिका की उन्नतिशील जातियों में ३०० तक उपस्थित होती हैं।

धागे के गुण—कपास के धागे के गुण को निश्चित करने के लिए अनेक बातें उत्तरदायी होती हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

१ धागे की लम्बाई।
२. गाँठों की संख्या।
३. धागे की दृढ़ता।
४. धागे की समानता।
५. बारीकी।
६. रंग।
७. काउन्टस।
८. गिन्निग (बिनौला) प्रतिशत।

६. धागे की मोटाई।

धागे की लम्बाई—बाजारों में लम्बे धागे वाली रुई को अधिक प्राथमिकता दी जाती है और लोग इनकी माँग भी अधिक करते हैं। धागे की लम्बाई स्टैपुल की लम्बाई से ज्ञात की जाती है जो भिन्न जातियों में भिन्न होती हैं। स्टैपुल जितना लम्बा होगा उनकी उपयोगिता भी उतनी ही अधिक होगी। कताई में ये अधिक उपयुक्त होंगे। देशी कपास में स्टैपुल की लम्बाई बहुत कम होती है। यही कारण है कि अमेरिकन कपास के सामने ये होड़ नहीं ले पातीं। अमेरिकन कपास मिश्र की कपास के सामने समान रूप से नहीं आती; क्योंकि मिश्री कपास के धागे अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं। देशी कपास को छोटे स्टैपुल अमेरिकन को मध्यम और मिश्री कपास को लम्बा कहते हैं, जिनकी लम्बाई इस प्रकार है।

छोटे स्टेपुल वाले	७/८″ से अधिक।
मध्यम स्टेपुल	१″ तक।
लम्बी	१″ से अधिक।

गाँठों की संख्या—एक धागे में अनेक गाँठें होती हैं। यदि इनमें से प्रत्येक समान होती है तो सूत अधिक मजबूत होता है। प्रति इंच औसत गाँठें १५० देशी कपास में पाई जाती हैं और सर्वश्रेष्ठ जाति में इनकी संख्या ३०० तक पहुँच जाती है।

धागे की दृढ़ता—धागे का यह गुण जाति विशेष का प्रतीक होता है। इसकी जाँच के लिए एक सूत लिया जाता है और इसमें काउन्ट की मात्रा देखी जाती है। यह मात्रा लगभग १६ से २० होती है। धागा जितना ही बारीक होगा उसमें काउन्ट भी उतने ही अधिक होंगे। काउन्ट उन लच्छियों की मात्रा है जो मिलकर एक पौंड के बराबर होती हैं। एक लच्छी में ८४० सूत होता है। देशी कपास में लगभग २२ काउन्ट होते हैं। किन्तु कपास की अच्छी जाति में काउन्ट की यह मात्रा ८० से ४०० तक पाई जाती है। धागे के इस गुण की परख के लिए चन्दलर बन्डिल विधि अधिकतर प्रयोग होती है, जिसमें एक पेन्डुलम प्रयोग किया जाता है। १९४२ ई० में प्रेसले (Pressley) ने एक अन्य यन्त्र निकाला जिसकी सहायता से धागे की दृढ़ता अधिक सरलतापूर्वक परखी जा सकती है। यह यन्त्र प्रेसले बेकर के नाम से विख्यात है।

धागे की समानता—धागे का समान होना उसका एक विशेष गुण है। जो धागा समान मोटाई का होता है उससे व्यापारी को कम से कम हानि होती है। कपड़े बनाने में सभी लग जाते हैं।

बारीकी—धागे की बारीकी कोष्ठक दीवाल (Cell wall) की मोटाई पर निर्भर करती है। भारतीय कपास की दीवाल मोटी होती है। किन्तु अमेरिकन कपास में ऐसी बात नहीं होती। उसकी दीवाल पतली होती है और उसमें एक सिल्की परदा होता है जिसके कारण उसे बारीक कपास कहा जाता है। मोटी दीवाल को वजह से देशी कपास भद्दी कही जाती है। धागा जितना ही बारीक होगा उसका सूत भी उतना ही बारीक होता है। बारीकी की जाँच प्रति इकाई तौल में नापी जाती है जो जातियों के अनुसार पृथक्-पृथक् होती है। नीचे इसका कुछ उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जातियाँ	प्रति इंच धागे की तौल (१०-६ औंस में)
बरुसस	·१७० से ·१६१
जैवन्त	·१४० से ·१६७
कम्बोडिया	·१२२ से ·१५०
पीवी अमेरिकन २८६ फ	·०७५ से ·१५२

रंग—धागे का रंग यदि अधिक आकर्षक होता है तो अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। बाजारों में रंग भी रुई का मूल्य निधारण करन में सहायक होता है। बढ़िया किस्म का धागा चमकीलापन लिये हुए धवल रंग का होता है। ऐसे धागे वाली कपास का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक होता है। खाकी रंग एक ऐसा रंग है जो परसेचन द्वारा प्राप्त रुई से मिलता है। रूस के वैज्ञानिकों ने भूरे और हरे-भूरे रंग की कपास का सूत्रपात किया है।

काउन्ट्स—जैसा कि हमने अभी पढ़ा है, काउन्ट लच्छियों की वह मात्रा है जो मिलकर एक पौंड की तौल के बराबर होती है। धागे के काउन्ट द्वारा कपास का गुण ज्ञात किया जाता है। सूत जितना ही बारीक होगा काउन्ट की मात्रा उतनी ही अधिक होगी।

गिन्निंग (बिनौला) प्रतिशत—यह प्रतिशत प्रकट करता है कि कपास में १०० भाग बिनौले में लीन्ट का अनुपात कितना है। जिस जाति में यह प्रतिशत

जितना ही अधिक होगा वह उतनी ही अच्छी कपास मानी जायगी। यह प्रतिशत कपास की प्रति एकड़ उपज का एक निर्देश भी है। क्योंकि प्रति पौंड बीज में लिन्ट जितना ही अधिक होगा उतना ही प्रति एकड़ लिन्ट की उपज अधिक होगी। कपास के बीज जिसे बिनौला कहा जाता है, उसपर भी धागे का गुण निर्भर करता है। बिनौला जितना ही बड़ा होगा कपास उतना ही अधिक गुण वाला समझा जायगा। किन्तु गिन्निग प्रतिशत में उस स्थिति में कमी आ जाती है जबकि बीज की तौल अधिक होती है। हम यहाँ कपास की कुछ जातियों का उदाहरण प्रस्तुत करते है जो मैसूर में बबौर फार्म पर उगाई गई थीं।

जातियाँ	गिन्निग प्रतिशत
गेरोहिल	४८ ”
बोकदा	३८ ”
लांग स्टार (अमेरिकन अपलैंड)	३४·३ ”
सी आई लैंड	३१·१ ”
सौराठी	२६·५ ”
नदर्न	२१·५ ”

कुछ अन्य जातियों के गिन्निग प्रतिशत

मालवी	२५ प्रतिशत
मालवी ६	३३ ”
रोजियम	४० ”
बीरम	३० ”
मोलिसोनि	४० ”
कुम्पता	२६ ”
कुप्पम	२५ ”
गोगरी	४० ”
वगाध	३२ से ३५ ”
मी ५२०	३८ ”
सी ४०२	३६ ”
परसो अमेरिकन	३२ ”

धागे की मोटाई—इसे नेपीनेस (Neppiness) के नाम से पुकारते हैं।

यह एक अवगुण है जो उस समय हो जाता है जब कि एक धागा मोटा नहीं हो पाता। इस अवगुण से धागे का आकार टेढ़ा हो जाता है और उसमें ऐसी गाँठें पड़ जाती हैं जिनसे बढ़िया सूत नहीं तैयार हो पाता।

खेत की तैयारी—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया है, भारत में कपास की खेती मुख्यतः दो प्रकार की भूमियों—कपास की काली भूमि और अलूवियल भूमि में की जाती है। काली भूमि वाले क्षेत्र हैं—बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मध्य-भारत और बरार। अलूवियल भूमि वाला क्षेत्र उत्तर भारत में आता है। इसमें सम्पूर्ण गंगा-सिन्धु का मैदान सम्मिलित है। इन उक्त दोनों प्रकार की भूमियों में कपास के खेत की तैयारी भिन्न-भिन्न ढंग से की जाती है। काली भूमि में खेत की जुताई के लिए बक्खर का प्रयोग किया जाता है। यह ऐसा हल है जो भूमि को केवल चीरता है। इससे खेत की गर्मी की जुताई की जाती है। गर्मियों में भूमि कई बार जोत दी जाती है और इसी समय आवश्यकतानुसार खाद भी छोड़ दी जाती है। खाद के छोड़ने का समय मई का महीना उपयुक्त होता है। वर्षा के शुरू होने पर जब भूमि को एक दो वर्षा मिल जाती है तो बक्खर द्वारा भूमि की जुताई कर देते हैं। मिट्टी भुरभुरी करने के लिए समय-समय पर पटेले का भी प्रयोग किया जाता है।

अलूवियल भूमि में काली भूमि की भाँति बक्खर का प्रयोग नहीं होता। यहाँ देशी हल अथवा उन्नतिशील हलों की सहायता से खेत की जुताई कई बार करते हैं। भूमि भुरभुरी बनाने तथा खेत को समतल करने के लिए पाटा भी प्रयोग किया जाता है। जब खेत पूर्णरूपेण जुत कर तैयार हो जाता है तो उस समय खेत में बीज की बुआई करना शुरू कर देते हैं।

बोआई—खेत की तैयारी हो जाने पर बोआई प्रारम्भ कर दी जाती है। दक्षिण भारत की काली भूमि में बोआई पंक्तियों में की जाती है। ये पंक्तियाँ दो कोल्टर वाले ड्रिल की सहायता से बनाई जाती हैं। पंक्तियों के बीज की दूरी कपास की जाति और भूमि की उर्वरता पर निर्भर करती है किन्तु प्रायः दो पंक्तियों के बीच में १४ से २२ इंच का अन्तर रक्खा जाता है। उत्तर भारत में पंक्ति में बोआई की विधि सर्वत्र प्रचलित नहीं है। यहाँ इसे छिटकवाँ ढंग से ही बोते हैं। किन्तु इसमें बोआई वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो पाती। बीजों के आपस की दूरी समान नहीं पड़ पाती और इस कारण बीज की मात्रा अधिक लग जाती है। अतः किसानों को चाहिए कि वे इस ढंग के स्थान पर पंक्तियों की बोआई की विधि का प्रयोग करें। कपास के बोने

का समय दक्षिण भारत में अगस्त से अक्टूबर तक मद्रास में की जाती है। किन्तु उत्तर भारत में यह समय उचित नहीं पड़ता। यहाँ इसे खरीफ के मौसम में बोते हैं। पञ्जाब में इसे अप्रैल के महीने में बो देते हैं। उत्तर प्रदेश में इसके बोने का समय मई, जून का महीना है। उत्तर भारत में जब इसकी बोआई पंक्तियों में की जाती है तो देशी कपास के लिए पंक्ति से पंक्ति की दूर २ फीट और अमेरिकन कपास के लिए ३ फीट रक्खी जाती है।

बोआई के पूर्व बीज, गोबर अथवा कीचड़ के साथ एक-दूसरे से रगड़ा जाता है ताकि बिनौले में लगे रेशे अलग हो जायँ। रेशे के हट जाने से बीज का बाहरी छिलका भूमि में उपस्थित नमी से सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है और इससे अंकुरण के अधिक अवसर होते हैं। कभी-कभी गोबर को गोला करके राख मिला देते हैं और तत्पश्चात् उसकी सहायता से बिनौले के रेशे छुड़ाते है। बीज की मात्रा प्रति एकड़ १० से २० पौंड लगती है। कभी-कभी कपास को अकेले न बोकर कुछ अन्य फसलों के साथ भी बोते हैं। मद्रास मे इसे घोड़चना इटैलियन मिलेट और धनियाँ के साथ मिश्रित रूप में बोया जाता है। पञ्जाब में इसे चारे की फसलों जैसे सेंजी, सताल, और बरसीम के साथ उगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में इसे अरहर, ज्वार आदि के साथ उगाते है। जब इसकी बोआई मिश्रित रूप में होती है तो बीज का मात्रा कम लगती है और पौधों की पारस्परिक दूरी भी अधिक होती है।

खाद—भारतवर्ष में कपास की फसल को उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक कहीं भी जोरों की खाद नहीं दी जाती है। जहाँ कहीं इसका प्रयोग होता है वहाँ बहुत हल्के रूप में और कभी-कभी लोग इसे फसल-चक्र के सिद्धान्त पर ही उत्पन्न करते हैं, जिससे यह अपने पूर्ववर्ती फसल में दी गई खाद के बचे भाग का उपभोग कर सके। साधारणतः यह गन्ने अथवा ज्वार के खेत में बोये जाती है जो अधिक खाद चाहने वाली फसलें हैं। भारतवर्ष में कई स्थानों पर कपास की फसल को नाइट्रोजन की विशेष आवश्यकता होती है। कुछ स्थानो पर इसे फासफोरस और पोटाश की भी आवश्यकता होती है और ऐसे समय इन तत्वों को पा जाने पर उपज पर बहुत लाभप्रद प्रभाव पड़ता है। मध्यप्रदेश में कपास की प्रत्येक स्थिति मे नाइट्रोजन का प्रभाव लाभप्रद पाया गया। ३० पौं० नाइट्रोजन प्रति एकड़ के हिसाब से दो जातियों—३९४ और न० ९१ को देकर अच्छा परिणाम पाया गया। ४० पौं० नाइट्रोजन देकर भी उचित परिणाम निकाले गये हैं। मैसूर में मिश्री कपास पर

प्रयोग किये गये जिनसे ज्ञात हुआ कि नाइट्रोजन के प्रयोग से फसल में फूल लाने की क्षमता पर प्रारम्भ अवस्था में बाद की अवस्था से कम प्रभाव पड़ता है। नाइट्रोजन की उपस्थिति और अनुपस्थिति में शीघ्र और देर में बोई जाने वाली जातियों पर फूल के कलियों में बदलने के प्रतिशत पर भी विचार किया गया और मालूम किया गया कि यह प्रतिशत देर में बोई जाने वाली जातियों में शीघ्र बोई जाने वाली जातियों की अपेक्षा कम रहा। इस बात का भी पता चला कि फली के बनने में नाइट्रोजन के प्रयोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फसल को नाइट्रोजन देने के लिए जैविक और रासायनिक दोनों खादों का प्रयोग किया जा सकता है। गोबर की खाद की १२५ मन प्रति एकड़ की मात्रा अमोनियम सल्फेट की ३०० पौंड प्रति एकड़ की मात्रा से अच्छी सिद्ध होती है। फसल पर कम्पोस्ट, पोटाश वाली खादें और मूंग-फली की खाद का अच्छा प्रभाव पड़ता है। फासफोरस के अकेले प्रयोग से भी कपास की उपज में २५% की वृद्धि पाई गई। मध्यप्रदेश में नाइट्रोजन देने के लिए हरी खाद का प्रयोग किया गया जिससे गोबर की खाद और अमोनियम सल्फेट से अच्छी उपज प्राप्त की गई। हरी खाद के लिए सनई अथवा उर्द का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। सी आइलैंड कपास पर मद्रास में एक प्रयोग किया गया और ज्ञात किया गया कि तीन टन गोबर की खाद ५० पौं० पोटैशिक सल्फेट, ३० पौं० फासफोरस (सुपर फासफेट) और ४० पौंड नाइट्रोजन (अमोनियम सल्फेट) सर्व-श्रेष्ठ उपज देती है।

सिंचाई—जिस स्थान पर कपास की खेती वर्षा के आधार पर की जाती है वहाँ इसकी सिंचाई करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। केवल उन्हीं दिनों आवश्यकता समझ कर सिंचाई कर दी जाती है जबकि वर्षा होने का कोई लक्षण नहीं होता और फसल सूखने लगती है। दक्षिण भारत में कपास की फसल वर्षा के अधार पर ही ली जाती है। अतः सिंचाई नहीं की जाती। उत्तर भारत में पहली सिंचाई बोआई के पूर्व की जाती है। क्योंकि मई और जून के महीने में इसे वर्षा के पूर्व ही बो देते हैं। बोआई के पश्चात् यदि अंकुरण अच्छा नहीं होता तो सिंचाई कर दी जाती है। यह सिंचाई अंकुरण की स्थिति देखकर बोआई के सात या दस दिन पश्चात् करना चाहिए। पौधों के बढ़ाव के समय यदि वर्षा हो रही हो तो सिचाई की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु वर्षा के न होने पर २०-२१ दिनों के अन्तर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। पंजाब में कपास की फसल सिंचाई के अधार पर ही ली

जाती है। वहाँ देशी कपास को ३ से ५ सिंचाइयाँ और अमेरिकन को ४ से ६ सिंचाई की जाती है।

गुड़ाई और निराई—कपास की फसल में गुड़ाई की क्रिया उस समय से प्रारम्भ हो जाती है जब कि पौधा ४ इञ्च की ऊँचाई का होता है। दक्षिण भारत में गुड़ाई के लिए बैलों द्वारा चलाये जाने वाले हो का प्रयोग किया जाता है। इसमें एक बैल और एक आदमी की आवश्यकता होती है जिससे एक दिन में चार एकड़ खेत की गुड़ाई कर सकते हैं। बढ़ाव काल में कुल गुड़ाई दो से चार तक की जाती है। इस गुड़ाई में खेत की भूमि खुली हो जाती है और उसमें उपस्थित घास-पात भी विनष्ट हो जाते हैं। बम्बई राज्य में सितम्बर-अक्टूबर के महीने में जबकि वर्षाऋतु खत्म होती रहती है, कपास की दो पक्तियो के बीच इस यंत्र की एक जुताई करते हैं। इससे भूमि में दरारें फटने नहीं पातीं जो कि काली मिट्टी में बहुधा पाया जाता है। उत्तर भारत में हर सिंचाई के पश्चात गुड़ाई की क्रिया की जाती है। इस गुड़ाई में खेत में उगे घास-पात निकाल दिये जाते हैं और मिट्टी भुरभुरी और खुली बना दी जाती है। निराई-गुड़ाई के लिए खुर्पी का प्रयोग किया जाता है। किन्तु जब फसल पंक्तियों में बोई गई रहती है तो कल्टीवेटर का प्रयोग करते हैं जो बैलों द्वारा चलाया जाता है। अंकुरण के पश्चात् जिन स्थानों पर पौधे घने होते हैं वहाँ उन्हें उखाड़कर पारस्परिक दूरी १२ से २४ इञ्च रक्खी जाती है। पौधों की आपस की दूरी भी ठीक कर दी जाती है। इस समय यदि कुछ ऐसे पौधे उग आए हों जो किसी दूसरी जाति के हों तो खेत में बोई गई जाति को विशुद्ध बनाने के लिये उन्हें उखाड़ कर बाहर कर देना चाहिए।

कटाई—कटाई का समय दक्षिण भारत और उत्तर भारत में पृथक-पृथक है। मध्य भारत में कपास की चुनाई अक्टूबर से प्रारम्भ होकर दिसम्बर तक चलता है। किन्तु चुनाई की यह अवधि उसी क्षेत्र के लिए है जहाँ कपास वर्षा के आधार पर उगाई जाती है। सिंचित क्षेत्र में यह क्रिया मार्च तक जारी रहती है। मद्रास में कपास की चुनाई का कार्य फरवरी से प्रारम्भ होता है और लगभग जुलाई तक चलता रहता है। बम्बई प्रदेश के दक्षिणी भाग में चुनाई का कार्य मार्च से मई तक, उत्तरी भाग में जनवरी से अप्रैल-मई तक तथा मध्य भाग में अक्टूबर से दिसम्बर तक होना है। पंजाब में चुनाई की क्रिया अक्टूबर के महीने से प्रारम्भ होती है और उस समय तक चलती रहती है जब कि पौधे पाले के प्रभाव से मर न जायँ। उत्तर प्रदेश में चुनाई अक्टूबर से प्रारम्भ होकर दिसम्बर में समाप्त हो जाती है।

फसल के रोग—कपास की फसल पर कई भयंकर रोगो का अक्रमण होता है, जो किसानों को अधिक हानिकर सिद्ध होते हैं। इन रोगों में अधिक भयंकर कपास का उकठा और जड़ का सड़ना है। ये दोनों रोग फफूँदी द्वारा उत्पन्न होते हैं। कपास का उकठा काली मिट्टी में और जड़ का सड़ना अलूवियल मिट्टी में अधिकांशतः पाया जाता है।

कपास का उकठा (ootton wilt)—(Fusarium vas infectum)—यह रोग जैसा नाम से ही विदित है पौधों के उकठने से पहचाना जा सकता है। उकठने के पहले पौधा मुरझाने लगना है और धीरे-धीरे सूखने लगता है। पौधे का सूखना नीचे की ओर से प्रारम्भ होता है। ऊपर की पत्तियाँ मुरझाने लगती हैं, उनका रंग हरा से पाला और फिर भूरा हो जाता है। तने पर किसी प्रकार का धब्बा या दाग नहीं आता। किन्तु प्रभावित पौधे को जड़ सहित उखाड़ने पर उसे तोड़कर उसके अन्दर की लकड़ी का कालापन देखा जा सकता है। यह कालापन भीतर ही भीतर जड़ से लेकर ऊपरी शाखाओं तक पहुँच जाता है; रोग का प्रभाव सम्पूर्ण पौधे पर न पड़कर पौधे की एक विशेष डाल पर ही पड़ सकता है। प्रभावित शाखा मुरझाने और सूखने लगती हैं। इस रोग का प्रभाव बीज द्वारा होता है और अंकुरण के दो सप्ताह पश्चात् लक्षण दिखलाई देने लगता है। जिस खेत में इस रोग का आक्रमण हो जाता है उस खेत की मिट्टी रोग के कीटाणुओं से भर जाती है। ये कीटाणु थोड़े क्षेत्र से फैलकर बड़ा क्षेत्र ढक लेते हैं। खेत में किसी वर्ष यदि एक पौधा भी रोग से प्रभावित होता है और उसका समुचित निदान न हुआ तो रोग बढ़कर अधिक क्षेत्रफल ढँक लेता है जिसका प्रभाव दूसरे वर्ष ज्ञात होता है। यति खेत रोग से बुरी तरह प्रभावित है तो उसमें कपास के पौधों का बढ़ना रुक जाता है और सन्तोषप्रद उपज नहां प्राप्त हो पाती।

यह रोग इतना भयंकर है कि इसके लक्षण ज्ञात होते ही निदान करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। खेत में वैसे ही बीजों का प्रयोग करना चाहिए जिनपर इस रोग का प्रभाव न पड़ा हो। क्योकि ऐसे बीज जो रोग से प्रभावित हों खेत में पुनः रोग उत्पन्न कर सकते हैं। यदि खेत की भूमि में रोग के कीटाणु फैल गये हों तो ऐसे जाति के बीज बोने चाहिए जिन पर रोग का कोई प्रभाव न पड़ सके। गवेषणा से ज्ञात किया गया है कि देशी जाति के बीज इस रोग से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। अमेरिकन जाति के बीज पर इस रोग का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता किन्तु यह

स्थिति केवल भारतवर्ष तक ही सीमित है। अमेरिका में अमेरिकन जाति की कपास पर इस रोग का प्रभाव अधिक पड़ता है और देशी कपास पर यह रोग कोई प्रभाव नहीं डाल पाता। अतः भारतीय किसानों को चाहिए कि वे इस रोग से बचने के लिए अमेरिकन जाति की कपास का प्रयोग करें।

जड़ का सड़ना (Root-rot—Rhizoctonia Species)—जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इस रोग का प्रभाव अधिकांशतः अलूवियल भूमि वाले क्षेत्र में पड़ता है। इस प्रकार पंजाब और उत्तर प्रदेश के राज्य के किसान इस रोग से अधिक क्षति उठाते हैं। यह रोग एक प्रकार के फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है जिसे राइजोक्टोनिया सोलानी (Rhizoctonia Solani) कहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस फफूँदी के साथ इस रोग के आक्रमण करने में एक अन्य फफूँदी भी साथ देती है जिसे राइजोक्टोनिया बटाटिकोला (Rhizoctonia bataticolo) कहते हैं। इस रोग के प्रभाव से पौधा अचानक मुर्झाना प्रारम्भ कर देता है। एक ही रात में वृक्ष की सम्पूर्ण पत्तियाँ प्रभावित हो जाती हैं। पौधे रोग से प्रभावित होने पर भूमि से सरलता पूर्वक उखाडे जा सकते हैं क्योंकि जड़ की सभी सहायक शाखाएँ सूख गई रहती हैं। जड़ के छिलके कहीं-कहीं फट गये होते हैं। सहायक जड़ों के सिरे नम और लसदार हो जाते हैं और यदि उन्हें हाथ पर रगड़ा जाता है तो वे पीले रंग के दाग छोड देते हैं। यद्यपि इस रोग का प्रभाव अंकुरण के समय ही हो जाता है। किन्तु रोग के लक्षण बहुत दिन पश्चात् दिखलाई पड़ते हैं। पत्तियों का मुरझाना या सूखना ये बहुत बाद के लक्षण हैं जब कि रोग पर अधिकार पाना बहुत कठिन-सा हो जाता है। कभी-कभी परिपक्व पौधे भी इस रोग से प्रभावित होते देखे जाते हैं। इस रोग के फफूँदी भी उकठा रोग की भाँति भूमि में रहते हैं अतः कोई तत्काल निदान नहीं हो सकता। रोग के फफूँदी अनेक वर्षों तक भूमि में विद्यमान रहते हैं। इसकी रोक-थाम कुछ सीमा तक फसल चक्र द्वारा की जा सकती है। किन्तु फसल चक्र में मूंगफली और लोबिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये फफूँदी इन फसलों पर भी अपना प्रभाव जमा बैठते हैं।

इन रोगों के अतिरिक्त कपास पर मिलड्यू, रस्ट, ऐनथ्रायकनोज तथा लीक स्पाट रोगों का प्रभाव पड़ता है किन्तु यह रोग उतने भयंकर नहीं हैं जितना उकठा और जड़ का सड़ाव। मिलड्यू रोग का प्रभाव बम्बई राज्य में कभी-कभी देखा जाता है। यह एक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है जो आयोडियम स्पेसीज (Oidium

Species) के नाम से पुकारी जाता है। रस्ट रोग जिसे गिरवी के नाम से पुकारते हैं एक प्रकार के फफूँदी क्यूनोला डिस्मियम (Kuehneola desmium) द्वारा उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण भारत में कुछ न कुछ मात्रा में पाया जाता है। ऐन्थ्राइकनोज रोग को पैदा करने वाली फफूँदी कोलेटो ट्राइकम स्पेसीज (Colletoricum Species) है। इसका प्रभाव सर्व प्रथम ब्रेक्ट पर होता है और उस पर गोले-गोले धब्बे उत्पन्न हो जाते हैं। बाद में ये धब्बे फलियों पर भी लग जाते हैं जिससे वे गिरना प्रारम्भ कर देती हैं। इस रोग का प्रभाव मद्रास और मध्यप्रदेश में देखा जाता है। लीफ स्पाट माईको स्फेरिला गासीपिना (Mycosphaerella gossypina) नामक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है जिसका प्रभाव अनेक स्थानों पर पाया जाता है।
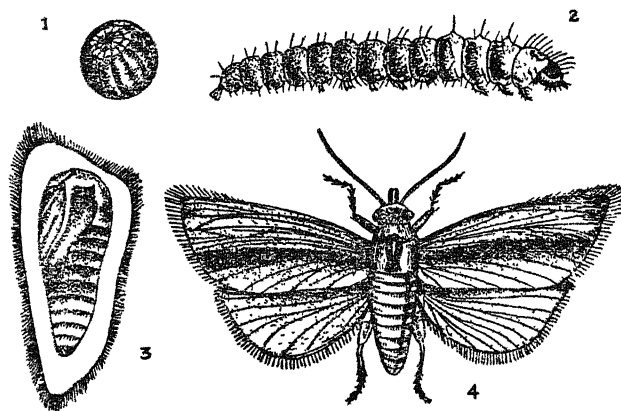
चित्र ३५—धब्बेदार कीड़ा—१. अंडा २. गिड़ार ३. प्यूपा और ४. प्रौढ़

कपास की व्याधियाँ--रोग की भाँति अनेक कीड़े भी कपास पर आक्रमण करते हैं और उन्हें हानि पहुँचाते हैं। इन कीड़ों में धब्बेदार कीड़े, गुलाबी कीड़े, कपास की सफेद मक्खी, जैसिड, कपास का घुन आदि अधिक मुख्य हैं।

धब्बेदार कीड़े (Spotted boll-warm)—इस कीड़े की कोटि में आकार और रूप में मिलते जुलते दो कीड़े पाये जाते हैं जिन्हें इरियास फेबिया (Earias fabia Stoll) और इरियास इन्सुलेना (Earias insulana Boisd) के नाम से पुकारा जाता है। ये दोनों कीड़े कपास की फसल पर आक्रमण करते हैं और फसल

को एक प्रकार की क्षति पहुँचाते हैं। ये लार्वा स्थिति में ही फसल को विनष्ट करते हैं जिनकी लम्बाई लगभग २/३″ होती है। ये केंचुये की भाँति अनेक भागों (Segments) से मिलकर बने होते हैं। प्रत्येक भाग में बालयुक्त एक ट्यूबरकिल (tubercles) रहते हैं। लार्वा का रंग कुछ हरापन लिए हुये सफेद होता है जिसपर काले और संतरे के रंग के धब्बे पड़े होते हैं। इन्हीं धब्बों से इन्हें पहचानने में सरलता होती है। लार्वा सर्वप्रथम पत्तियों को खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं और बाद में फलियों (bolls) में प्रवेश कर उनके बीजों को अपना आहार बनाते हैं। जब ये बड़े हो जाते हैं तो लार्वा से माथ (moth) के रूप में बदल जाते हैं। माथ का रंग गहरा भूरा होता है। पंखों पर हरे रंग की एक धारी पड़ी होती है जो पंख के आधार से सिरे तक जाती है।

कीड़ों पर नियंत्रण पाने के लिए भिंडी (Hibiscus esculentus) का पौधा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि खेत में इसकी उपस्थिति से इन कीड़ों का आक्रमण नहीं होने पाता। जिस फसल पर कीड़े आक्रमण कर दें उसकी प्रभावित पत्तियाँ, फलियाँ आदि तोड़ कर विनष्ट कर देना चाहिए ताकि उनके साथ ये भी बर्बाद हो जायँ।

गुलाबी कीड़े (Pink boll-worm)—यह गुलाबी रंग का एक कीड़ा
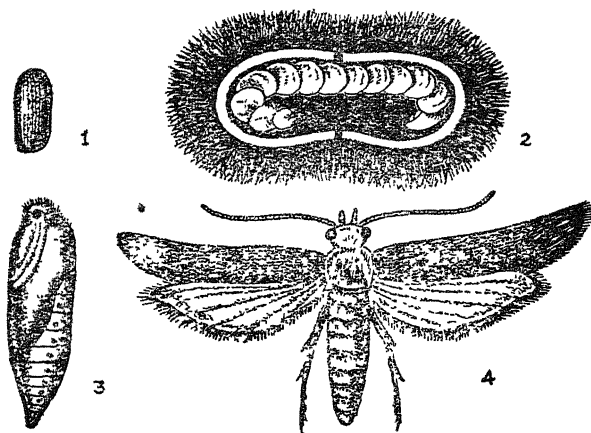
चित्र ३६—गुलाबी कीड़ा—१. अंडा, २. गिड़ार, ३. प्यूपा और ४. प्रौढ़

होता है। किशोर अवस्था में इसका रंग सफेद होता है, केवल सिर ही काले रंग का होता है। इस अवस्था में यह पत्तियों या फलियों के बाहरी भागों को खाकर जीवन-निर्वाह करता है। कुछ दिनों पश्चात् यह फलियों में छेद कर देता है और उनमें प्रवेश कर बीजो को खाना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार जीवन निर्वाह करते हुए यह प्रौढ़ावस्था में मर जाता है। प्रौढ़ावस्था में इसका रंग सफेद से गुलाबी हो जाता है। चमकीले गुलाबी रग के धब्बों से पूरा शरीर भर जाता है। इसी स्थिति में यह प्यूपा स्थिति में प्रवेश करता है और माथ बन जाता है। माथ बनने पर इसका रंग गहरा भूरा हो जाता है। माथ दिन भर तो छिपा बैठा रहता है किन्तु गोधूली बेला होने पर फुदकने लगता है और रात भर इधर-उधर उड़ता रहता है। इसको प्लैटिड्रा गासीपीला (Platydra Gossypiella) कहते हैं। यह पंजाब और उत्तर-प्रदेश में प्रायः देखा जाता है।

इनकी रोक-थाम के लिए कार्बन बाइ सल्फाइड बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। कपास के बीज इस रसायन के साथ मिलाने के पश्चात् बोने चाहिए। बोने के पहले बीज को कड़ी धूप में भली-भाँति सुखा लेने से भी इनकी वृद्धि का भय नहीं रहता। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि १४०° फा० के तापक्रम पर कुछ मिनट के लिए बीजों को रख देने से कीड़ों का प्रभाव जाता रहता है। कीड़ों के लग जाने पर प्रभावित फलियों और बीजों को जितना शीघ्र हो सके विनष्ट कर देना चाहिए अन्यथा कीड़ों के फैलने का भय बना रहता है। इस कीड़े में प्रकाश की ओर आकर्षित होने की एक विशेष रुचि होती है जिससे रात को प्रकाश जलाकर जालियों द्वारा इन्हें पकड़ा जा सकता है।

कपास की सफेद मक्खी (Cotton white fly)—इस मक्खी का नाम बेमिसिया गासीपिपरडा (Bemisia gossypiperda M. and L.) है। पंजाब राज्य में इसका आक्रमण अधिक भयंकर होता है और अनुभव से ज्ञात किया गया है कि यह देशी जातियों की अपेक्षा अमेरिकन जातियो पर अधिक प्रभाव डालता है। इसकी प्रौढ़ मक्खी लगभग १/२४" लम्बी होती है। शरीर का रंग पीला और पंख सफेद होते हैं। मक्खी के लार्वा जीवन के प्रथम चरण प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम इधर-उधर घूमते हैं और तत्पश्चात् पत्ती की निचली सतह पर चिपक जाते हैं। पत्तियों पर कभी-कभी ये इतने परिमाण में इकट्ठे होते हैं कि एक वर्ग इंच के क्षेत्रफल में इनकी संख्या २५० तक पहुँच जाती है। ये लार्वा पत्तियों से रस चूसते हैं और इस प्रकार

अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। पंखदार हो जाने पर ये एक पौधे से दूसरे पौधे तक उड़ते रहते हैं। ये मक्खियाँ केवल कपास के पौधे पर ही आक्रमण नहीं करतीं अपितु

चित्र ३७—काटन लीफ रोलर

भिण्डी, सरसो, तम्बाकू, पातगोभी तथा अन्य फसलों पर भी आक्रमण करती हैं। इन फसलों के अतिरिक्त ये कुछ घास पात पर भी आक्रमण करती हैं जिससे इनका पूर्ण निराकरण करना कुछ कठिन कार्य है।
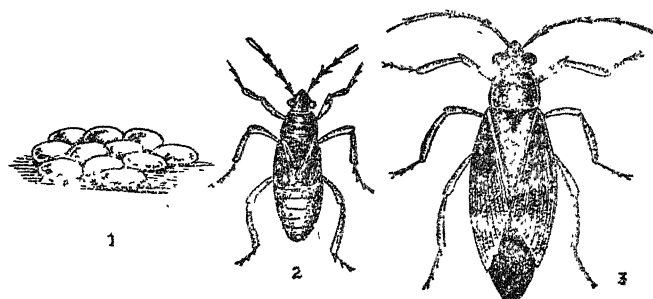
चित्र ३८—कपास का लाल कीड़ा—१. अंडे, २. शिशु, ३. प्रौढ़

इन्हें विनष्ट करने के लिए अभी तक कोई महत्वपूर्ण उपाय नहीं निकाला जा सका है। जिन पौधों पर इनका आक्रमण हो उन्हें बाहर निकाल कर जला देना चाहिए। घास-पात भी बर्बाद कर देना चाहिए। साफ ढग से खेती करने से भी इस मक्खी का निदान किया जा सकता है।

उपर्युक्त व्याधियों के अतिरिक्त कपास की फसल पर कुछ अन्य व्याधियों का

भी प्रभाव पड़ता है किन्तु ये कुछ कम महत्व की हैं। इन व्याधियों में जैसिड मुख्य है जो कुछ जातियों में लीफ कर्ल (leaf curl) पैदा कर देता है। इससे पत्तियाँ मुड़ जाती हैं और समुचित ढंग से कार्बन संश्लेषण नहीं कर पातीं। जैसिड को इम्पोस गासिपाई (Emposue gossypii) नाम से पुकारते हैं। इन्हें पकड़ कर मार डालना चाहिए। कपास के तने का घुन (Pempheres sp.), तना छेदक कीड़ा (Sphenoptera gossypii), ऊली माइट (woolly mite—Eriophyes gossypii), लीफ रोलर (leaf roller—Sylepta derogata) कपास का लाल कीड़ा (Dysdercus cirgulatus) आदि भी फसल को हानि पहुँचाते हैं।

कपास की पेड़ी (Ratooning in Cotton)—गन्ने की भाँति कपास की भी पेड़ी रखी जाती है। पेड़ी का अर्थ होता है—फसल को काटने के पश्चात् बिना बोये पुरानी फसल से ही खाद-पानी आदि देकर पुनः एक फसल तैयार करना। उत्तर-प्रदेश और मद्रास में कपास की पेड़ी पर कई प्रयोग किये गये जिनमें अधिक सफलता मिली। मद्रास में कम्बोडिया और सी आइलैंड जाति की संकर किस्म की पेड़ी रखी गई और अच्छा परिणाम प्राप्त किया गया। उत्तर-प्रदेश के हवलबाग में सी आइलैंड जाति के कपास की पेड़ी रखी गई। यहाँ ज्ञात किया गया कि इससे अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि सिंचाई आदि का व्यय अधिक पड़ता है किन्तु फिर भी उपज इतनी अधिक मिलती है कि लेखा-जोखा अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से ठीक पड़ता है। कपास की फसल पर छँटाई (Pruning) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि छँटी कपास और बिना छँटी कपास की उपज में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

अध्याय ६

मूंगफली

(Groundnut Arachis hypogaea)

मूंगफली भारतवर्ष के तेल वाली और अन्न वाली फसलों में प्रमुख स्थान रखती है। यद्यपि यहाँ इसकी खेती बहुत थोड़े ही समय से प्रारम्भ की गई है फिर भी भारतवर्ष में मूंगफली का उत्पादन विश्व के अन्य मूंगफली पैदा करने वाले सभी देशों से अधिक है। धीरे-धीरे इसका महत्व इतना बढ़ गया है कि यह लोगों की दृष्टि में अधिक लोकप्रिय बन गई है। दुनिया में वनस्पति तेल का स्रोत यहीं है जिससे इसकी माँग विश्व के बाजारों में बहुत अधिक है। दाल वाली फसलों की कोटि में आने से यह भूमि को उर्वरा-शक्ति प्रदान करती है। प्रायः उस समय जब कि भूमि में कोई फसल नहीं होती और भूमि-क्षरण से मिट्टी के कटने का भय रहता है तो उस स्थिति में यह भूमि ढकने में सफल सिद्ध होती है। मूंगफली की पत्तियाँ और डंठल पशुओं के उत्तम चारे हैं, इन्हें हरी खाद के भी काम में लाया जा सकता है।

मूल स्थान—मूंगफली भारत की फसल नहीं है। इसे विदेशों से लाकर उगाया जा रहा है। इसका उद्गम स्थान "ब्राजील" जो दक्षिणी अमेरिका में है, बतलाया जाता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि अन्य देशों में यह पुर्तगाली यात्रियों द्वारा पहुँचाया गया। भारतवर्ष में यह फिलिप्पाइन से दक्षिणी अमेरिका लाया गया क्योंकि वहाँ इसका नाम मानिला कोटाई है जो फिलिप्पाइन में भी प्रयोग होता है। कुछ लोग इस मत के समर्थक हैं कि मूगफली चीन से बंगाल लाई गई और इसीलिए उसका नाम बंगाल में चीनाबदाम कहा जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उपर्युक्त दोनों मतों के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि यह पश्चिम भारत में सीधे ब्राजील से लाई गई। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि मूंगफली की खेती उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होने पर दक्षिण भारत में शुरू हुई और तब से उसकी खेती तेजी से बढ़ रही है।

वितरण—संसार में मूँगफली का उत्पादन लगभग १६८ लाख एकड़ भूमि में होता है जिसमें भारतवर्ष में ही अधिक क्षेत्रफल निहित है। इसकी खेती करने

वाले भारत के अतिरिक्त अन्य अनेक देश हैं जिसमें चीन, फ्रान्सीसी पश्चिमी अफ्रीका, संयुक्त राज्य अमेरिका अधिक प्रमुख हैं। इनका व्यौरेवार क्षेत्रफल नीचे दिया जा रहा है।

चीन	३२ लाख एकड़
संयुक्त राज्य अमेरिका	३० "
फ्रान्सीसी पश्चिमी अफ्रीका	१६ "
भारतवर्ष	६१ "

जैसा कि ऊपर के व्यौरे से प्रकट है, विश्व की मूंगफली के कुल क्षेत्र का लगभल आधा क्षेत्रफल भारतवर्ष में ही है। उपज के भी विचार से भारत में मूंगफली लगभग ३५ लाख टन उत्पन्न होती है जब कि विश्व में इसकी वार्षिक उपज छिलके सहित ७१ लाख टन है। भारतवर्ष में इसकी खेती मद्रास, बम्बई और हैदराबाद में अधिक परिमाण में की जाती है। इसके अतिरिक्त मैसूर, मध्यप्रदेश, पंजाब, उड़ीसा आदि कुछ अन्य राज्यों में भी यह उगायी जाती है। मद्रास भारतवर्ष का सबसे अधिक मूंगफली उत्पादन करने वाला राज्य है। १९३३-३४ ई० में यहाँ भारतवर्ष के मूंगफली की कुल उपज का लगभग ४८.२% उत्पन्न किया गया था। १९३७-३८ में यहाँ इसका क्षेत्रफल ४,६५८ हजार एकड़ और उपज २,०,००,५६ थी जब कि बम्बई में क्षेत्रफल केवल १,२१४ हजार एकड़ और उपज ४६२ हजार टन रही। १९४४-४१ में मद्रास में मूँगफली का क्षेत्रफल कुछ घट गया जो ३,९२२ हजार एकड़ है। क्षेत्रफल के घटने से उपज भी घटी जो १९२४ हजार टन मिली। आजकल इसकी उपज राज्यों के अनुसार नीचे दी जा रही है।

मद्रास	१,६१८ हजार टन
बम्बई	७७४ "
हैदराबाद	८०६ "
अन्य राज्य	३१७ "
योग	३,५१८ हजार टन

उत्तर प्रदेश में मूंगफली साधारण रूप में उत्पन्न की जाती है। उसका क्षेत्रफल और उपज ऐसी है कि यहाँ उगाई जाने वाली अन्य फसलों में इसका कोई महत्व नहीं।

मिट्टी—मूंगफली के लिए हलकी भूमि जिसमें जीवांश की मात्रा अधिक हो और अधिक रूप में खाद्य दी गई हो, अच्छी पड़ती है। इसे दोमट काली मिट्टी आदि में सफलतापूर्वक उगाया जाता है। हलकी और भारी मिट्टियों में उगायी गई मूंगफली छिलकों के रंग और उनकी मोटाई से पहचानी जा सकती है। हलकी मिट्टी में इनका रंग फीका और छिल्का पतला होता है। किन्तु भारी मिट्टी में ऐसा नहीं होता। वहाँ ठीक इसके विपरीत मूंगफली का रंग काला और छिलका मोटा होता है। बलुई भूमि यदि जल निकास उत्तम हो तो मूँगफली की खेती सफलतापूर्वक ली जा सकती है। मटियार दोमट भूमि इसके लिए अच्छी पड़ती है किन्तु कड़ी और भारी मटियार भूमि मूंगफली के खेती के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त समझी जाती है। मद्रास और बम्बई में इसके लिए कपास वाली काली भूमि ही अच्छी समझी जाती है। दक्षिण भारत की लाल भूमि में भी इसे कुछ मात्रा में उगाया जाता है। सिन्ध और गंगा के मैदान की अलूवियल मिट्टी में भी इसका बढ़ाव अच्छा होता है और उपज भी संतोषजनक मिलती है।

जलवायु—मूंगफली एक उष्ण कटिबन्धीय फसल है। अतः इसके लिए गरम और लम्बी ऋतु आवश्यक होती है। जहाँ तापक्रम ६०° फा० और ८०° फा० के बीच रहता है। वहाँ इसकी फसल अच्छी ली जा सकती है। फसल के पकने के समय लगभग एक माह तक मौसम का सूखा और गरम रहना जरूरी होता है। उन स्थानों पर जहाँ पर तापक्रम अधिक नीचे चला जाता है वहाँ उसकी फसल नहीं ली जा सकती। अधिक सूखा की स्थिति भी फसल के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। जिन स्थानों की भूमि पानी से बराबर भरी होती है वहाँ मूंगफली की खेती नहीं की जा सकती। भारतवर्ष में फसल के उगने के मौसम में २५″ से ५०″ तक वर्षा होने वाले स्थान इस फसल के लिए अच्छे समझे जाते हैं। यदि वर्षा फसल के बोवाई के समय होती है तो बीजों का जमाव और उनकी बढ़वार तेजी से होती है। उचित वर्षा का फसल के बढ़ाव, फूलों की संख्या और मूंगफलियों के आकार पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह वर्षा जैसा कि ऊपर कहा गया है फसल के पकने के समय हानिकर सिद्ध होती है। क्योंकि फसल की खुदाई के समय वर्षा होने से फलियाँ भली भाँति सूखने नहीं पातीं।

नम फलियों में फफूँदी लगने का भय रहता है और यदि इनका आक्रमण हो जाता है तो मूंगफली का रंग असुन्दर बन जाता है और बाजार में इनका मूल्य

घट जाता है। जिन स्थानों पर वर्षा अधिक और लगातार होती रहती है, वहाँ फसल मे अच्छी उपज नहीं मिल पाती। अधिक वर्षा से पौधों का बढ़ाव तो अधिक होता है; किन्तु फसल देर में पकती है। देर में पकने से रोगों और व्याधियों के लगने का भय रहता है। मूंगफली की खेती समुद्र तट से ३,५०० फीट के ऊँचे स्थानो पर सफलतापूर्वक की जाती है।

भारतवर्ष मे मूंगफली की खेती खरीफ की फसल के रूप मे की जाती है। इसके बोने और कटने का समय वर्षा के अनुसार ही होता है, किन्तु यह नियम सर्वत्र नहा लागू होता। कुछ स्थानों पर इसे रबी की फसल के रूप मे भी उत्पन्न किया जाता है। मद्रास में कोरामडल जाति की मूंगफली फरवरी-मार्च में बोकर जून-जुलाई में काटी जाती है। यहाँ छोटी (पीनट) मूंगफली दिसम्बर और मार्च में बोई जाती है और इसकी कटाई अप्रैल-जून में की जाती है। रबी के रूप में उगाई जाने वाली जातियाँ सिंचाई के आधार पर ही ली जा सकती हैं, क्योंकि इस ऋतु मे वर्षा की आशा नहीं रहती।

वानस्पतिक विवरण—मूंगफली दाल वाली फसलों की लेगुमिनेसी कुल का सदस्य है। इसे वैज्ञानिक भाषा में **अरैकिश हाइपोजिया** (Arachis hypogea) कहते हैं। यह वार्षिक पौधा है। इसके मध्य में एक सीधा तना होता है जिससे अनेक शाखाएँ निकल कर इधर-उधर फैल जाती हैं। शाखाएँ बहुधा भूमि पर रेंग कर चलती है किन्तु कुछ किस्मों में यह सीधी भी होती हैं। इनकी लम्बाई १½ से २ फीट तक होती है। मध्य तना इन शाखाओं से कुछ अधिक ऊँचा होता है। मूंगफली की जड़ें टैपरूट या मूसला जड़ होती हैं। जड़ों का विकास अधिक नही हुआ रहता है। तने और शाखाओं से पत्तियाँ निकलती हैं जो अडाकार पत्तियों के दो जोड़ों से मिलकर बनी होती हैं। पत्तियाँ पिनेट कम्पान्ड होती हैं। फूल-पत्तियो के कोने से निकलते हैं। ये फूल भूमि के ऊपर और नीचे निकलते हुए देखे जाते हैं। भूमि के नीचे फूल उसी समय निकलते हैं, जब तक पौधे की कोई शाखा मिट्टी से दब जाती है। फल पूर्ण होते हैं जिनका पुट चक्र (Corolla) नारंगी पीले रंग का होता है। इससे उसकी पहचान की जा सकती है। फल के निर्माण के लिए फूल के स्त्री भाग का अत्यधिक होना आवश्यक है, अन्यथा फूल से फल नहीं बन सकता। फसल में सेचन क्रिया प्रायः स्वयं सेंचन होती है किन्तु कभी-कभी परसेचन भी होता है। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री भाग का डंटल बढ़ता है, झुकने के पश्चात् यह स्त्री भाग

भूमि में जाने को धक्का देता है जिससे फलियाँ मिट्टी में ही बनती हैं और बढ़ती हैं। फलियों के निर्माण में स्त्री भाग का यह कार्य अधिक अपेक्षित है। मूँगफली की फलियाँ अंडाकार रूप में पीले रंग की होती हैं। फलियों का आकार सदैव एक-सा नहीं होता बल्कि यह पौधे की किस्म, भूमि, सिंचाई, खाद, गुड़ाई, रोग और व्याधियाँ अनेक बातों पर निर्भर होता है। फलियों में ऊपर एक मोटा छिलका होता है जिसके भीतर एक या अधिक बीज होते हैं। फलियों का मोटा छिलका पेरोकार्प कहलाता है और जिस पर्त से फलियों के भीतर के बीज ढँके होते हैं, टेस्टा (Testa) कहा जाता है। इस टेस्टा का रंग किस्मों के अनुसार ईंट के रंग के जैसा लाल, हल्का टैन आदि होता है। बीज नट कहा जाता है जिसमें दो दालें होती हैं। इन्हीं दालों में खाद्य पदार्थ और वनस्पति तेल उपस्थित रहता है।

विभाजन—मूंगफली प्रायः दो वर्गों में विभाजित की जाती है—प्रथम सीधी और दूसरी फैलने वाली। वेल्ड्रान के अनुसार सीधी टाइप की मूंगफली का मूल अरैकिश पुस्टिला (Arachis Pustilla) और फैलने वाली टाइप अरैकिश प्रोस्ट्रेटा (A. Prostrata) से है। उसमें प्यू और दत्त के शब्दों में सीधी टाइप को सब इस्पेसीज टस्टीजियटा (tastigiata) और फैलने या रेंग कर चलने वाली टाइप को प्रोकम्बेस (procumbaes) के नाम से पुकारा जाता है। इन दोनों किस्मों का आपस में सम्भोग किराया गया और संकर (Hybrid) प्राप्त किया गया और जो संकर प्राप्त किया गया वह दोनों टाइप से भिन्न था।

जातियाँ—भारतवर्ष में मूंगफली की अनेक जातियाँ प्रचलित है, जिनमें ४ किस्में अधिक महत्वपूर्ण हैं—कोरामंडल, बम्बई की मोटी मूंगफली (बम्बई बोल्ड), स्पेन की छोटी मूंगफली और बड़ी नैटाल।

कोरामंडल—मूंगफली की यह किस्म मोजम्बिक, पांडीचेरी और मारीशस के नाम से भी पुकारी जाती है। प्रारम्भ में इसका नाम मोजम्बिक था। इसे बाहर से मँगाया जाता था। अब इसका कोरामंडल नाम अधिक प्रचलित है। यह फैलने वाली किस्म है जिसके पकने में लगभग साढ़े चार महीने लगते हैं। इसका छिल्का मशीन की सहायता से उतारा जाता है। छिल्का उतराने के पश्चात् इसमें गिरी की मात्रा लगभग ७७% मिलती है और गिरी में तेल की मात्रा ४५ से ५०% तक होती है। कोरामडल किस्म की मूंगफली मद्रास तथा बम्बई में अधिकता से उगायी जाती है। हैदराबाद और मैसूर भी इसे उगाने में प्रसिद्ध हैं।

बम्बई की मोटी मूंगफली—यह किस्म बम्बई बोल्ड के नाम से विख्यात है। कुछ स्थानों पर इसे बड़ी जापानी भी कहते हैं। इसकी फलियाँ कोरामंडल की अपेक्षा आकार में बड़ी होती हैं। छिल्का उतारने के पश्चात् पतले और लाल रंग

चित्र ३९—बम्बई की मोटी मूंगफली (छिल्के सहित)

चित्र ४०—बम्बई की मोटी मूंगफली (छिल्के रहित)

की गिरी मिलती है, जिसमें तेल की मात्रा ४३ से ४७% तक पाई जाती है इसे शोलापुर, बारसी, लटूर, कोल्हापुर, गुजरात, काठियावाड़ आदि स्थानों पर अधिकता से उगाते हैं। राज्यों में बम्बई, हैदराबाद और मध्यप्रदेश मुख्य हैं।

चित्र ४१—स्पेन की छोटी मूंगफली (छिल्के रहित)
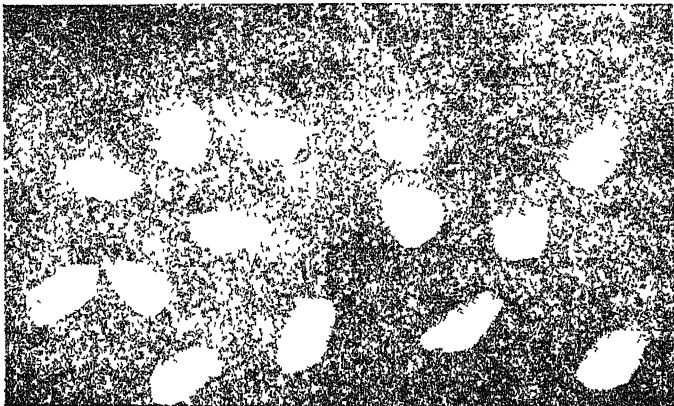
चित्र ४२—स्पेन की छोटी मूंगफली (छिल्के रहित)

स्पेन की छोटी मूंगफली—यह किस्म नैटाल या खानदेश की छोटी मूंगफली

के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे यह नाम प्रायः तभी दिया जाता है जबकि उन्हीं स्थानों से मँगाई जाती है। प्रारम्भ में यह किस्म स्पेन से मँगाई गई थी, इसीलिए इसे स्पेन के नाम से पुकारते हैं। यह किस्म अब स्पेन से न मँगाकर अमेरिका से मँगाई जाती है। यह गुच्छेवाली किस्म है जिसकी फलियाँ कोरामंडल की अपेक्षा छोटी होती हैं। इसकी फसल के तैयार होने में ३½ महीने का समय लगता है। इनकी गिरी पतले गुलाबी रंग के छिल्के से ढँकी होती है जो अधिक समय तक रखने पर काला पड़ जाता है। छिल्का उतारने के पश्चात् इस किस्म में गिरी लगभग ७८% मिलती है और गिरी से तेल ५० से ५४% प्राप्त होता है। इसे बम्बई, मद्रास और मध्यभारत में अधिकता से उगाया जाता है। मद्रास में इसे रबी की फसल के रूप में उत्पन्न किया जाता है। किन्तु ऐसा उन्हीं क्षेत्रों में होता है जहाँ सिंचाई की सुविधा होती है। वर्षा के आधार पर इसे खरीफ की फसल के रूप में उगाया जाता है।
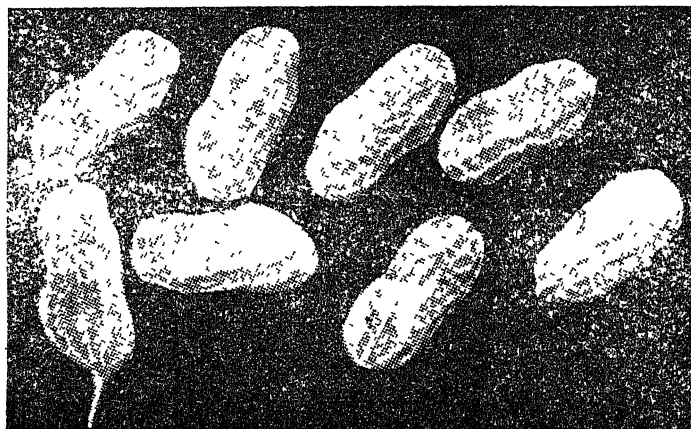
चित्र ४३—लाल नैटाल किस्म की मूंगफली (छिल्के सहित)

लाल नैटाल—यह किस्म इस नाम के अतिरिक्त छोटी जापानी लाल बोरिया, लाल कोनानी और लालवाना नाम से भी सम्बोधित की जाती है। यह लगभग तीन महीने और पाँच दिनों में तैयार होती है। इसकी गिरी गहरे लाल रंग के छिल्के से घिरी होती है। गिरी में तेल की मात्रा लगभग ४६ से ५०% तक पाई जाती है। इस किस्म को मद्रास, बम्बई और मध्य प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है।
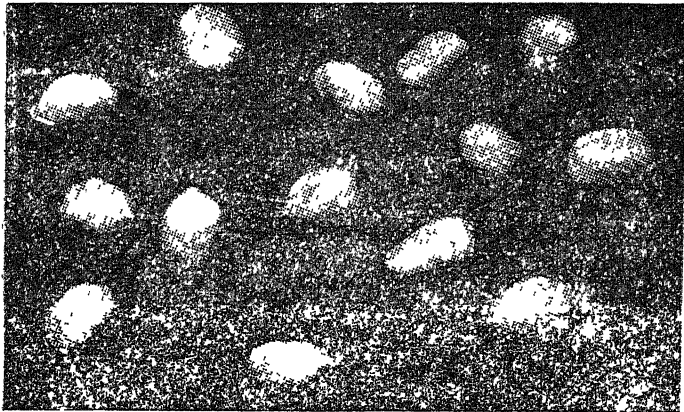
चित्र ४४—लाल नैटाल किस्म की मूंगफली (छिलके रहित)

उपर्युक्त किस्मों के अतिरिक्त मूंगफली की कुछ उन्नत किस्में भी तैयार की गई हैं जो भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए उचित पड़ती हैं।

राज्य	किस्म	विशेषता	उपज
मद्रास	टी० एम० वी० १ (ए० एच २५)	यह फैलने वाली किस्म है सूखा-सहन करने वाली फलियाँ पौधों में ही लगी रहती हैं। उपज २५% अधिक।	१,४५० पौंड
	टी० एम० वी० २ (ए० एच० ३२)	गुच्छे वाली किस्म अल्पकालिक फसल उपज २०% अधिक	१,००० पौंड
	टी० एम० वी० ३ (ए० एच ६६८)	फैलने वाली किस्म, गिरी अधिक भारी मात्रा अधिक उपज २५% अधिक	१,५०० पौंड
	(ए० एच २२४)	सिंचित फसल उपज २४% अधिक	३,५०० पौंड
बम्बई	स्पेनिश (उन्नत)	अधिक सूखासहन करने वाली, पत्तियों के धब्बों के रोग से कम प्रभावित, तेल ७% उपज १२% अधिक	२,०२५ पौंड

राज्य	किस्म	विशेषता	उपज
	स्पेनिश ५	अल्पकालिक, तेल की मात्रा ७% अधिक उपज १२% अधिक	१,६१२ पौंड
	पांडेचेरी	अल्पकालिक, तेल ४% अधिक उपज ३% अधिक	१,५६१ पौंड
	कोपर गाँव १	फैलने वाली किस्म	१,२०० पौंड
	कोपर गाँव ३	सीधी उगने वाली गुच्छे वाली	१,२०० पौंड
मैसूर	एच० जी० १	गुच्छे वाली, सूखा सहन करने वाली पत्तियों के धब्बों के रोग से कम प्रभावित गिरी की मात्रा ७४%	७७५ पौंड
	एच० जी० ३	गुच्छे वाली, प्रतिकूल मौसम सहन करने वाली,	६२० पौंड
पञ्जाब	सामाला देशी	अधिक उपज देने वाली, फैलने वाली किस्म	१,६०० पौंड
मध्यप्रदेश	ए० के० १० (मुट)	दीर्घकालिक, सीधी उगने वाली	१,५२३ पौंड
	एच० के० १२-२४	छोटी जापानी और स्पेनिश से उत्तम, मध्यम और भारी मिट्टी में अच्छी तेल की मात्रा अधिक	१,०८१ पौंड
	उन्नत छोटी जापानी	अल्पकालिक, हल्की-मध्यम भूमि के लिए, अच्छी खोदने में सुगम	६१६ पौंड
	उन्नत स्पेनिश	गुच्छे वाली अति अल्पकालिक, अधिक तेल वाली, हल्की मिट्टी में अच्छी	६४८ पौंड
उत्तरप्रदेश	टी० २५	दीर्घकालिक फैलने वाली अधिक उपज देने वाली	१,५०० पौंड

भूमि की तैयारी—जैसा कि हमने ऊपर पढ़ा है, मूंगफली की खेती प्रायः खरीफ के फसल के रूप की होती है, केवल कुछ ही स्थान ऐसे हैं, जहाँ इसे खरीफ के फसल के रूप में उगाया जाता है। भूमि की तैयारी में ऋतु का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। मद्रास में जहाँ इसे रबी की फसल के रूप में उत्पन्न किया जाता है, भूमि की तैयारी साधारण ढंग से की जाती है। यदि खेत से खरीफ के समय भी मूंगफली की फसल ली गई होती है तो रबी की तैयारी में जुताइयों की संख्या कम कर दी जाती है, क्योंकि भूमि की एक गहरी जुताई उसी समय हो जाती है जबकि पिछली फसल की खुदाई की गई थी। खरीफ के रूप में मूंगफली उगाने के लिए भूमि की तैयारी उसी समय से प्रारम्भ कर दी जाती है, जबकि रबी की फसल खेत मे कट जाय। भूमि को देशी हल की सहायता से पाँच-छः बार जोतना अच्छा पड़ता है। यदि लोहे के उन्नत हल प्रयोग किये जायँ जो भूमि को गहरा जोतें और जोतकर मिट्टी को पलट भी दें, तो जुताई की संख्या में कमी की जा सकती है। दक्षिण भारत की काली मिट्टी में पहली मानसून के पश्चात् गुन्तक से भूमि की जुताई की जाती है। शुष्क प्रदेश में जुताई कम की जाती है। वहाँ देशी हल या लोहे के हल की एक या दो जुताई के पश्चात् गुन्तक और बखर का प्रयोग किया जाता है। गुन्तक और बखर भूमि को शीघ्र तैयार करने में बहुत अधिक सहायता देते हैं। कुछ स्थानों पर खाद का प्रयोग भूमि की तैयारी के समय ही किया जाता है। यह खाद बोआई से कुछ दिन पूर्व खेत में छोड़ दी जाती है जिससे वह जुताई करते समय भूमि में भली-भाँति मिल जाय। खेत की जुताई करते समय बीच-बीच में पटेला का प्रयोग करते रहना चाहिए। ऐसा करने से खेत में ढेले नहीं बन पाते बल्कि वे बारीक होकर भूमि का टेक्सचर अच्छा बनाने में सहायता करते हैं।

बीज और बोआई—भूमि की तैयारी हो जाने के पश्चात् बीज का चुनाव किया जाता है। बोई जाने वाली मूंगफलियाँ प्रायः उसी समय चुन ली जाती है जब कि भली-भाँति पकी हुई फसल की खुदाई होती है। ऐसी फसल की खुदाई उसी समय की जाती है जबकि मौसम अच्छा हो और आकाश साफ हो। खुदाई के पश्चात् फलियाँ लगभग सात-आठ दिन तक कड़े धूप में पड़ी छोड़ दी जाती हैं जिससे वे अच्छी तरह सूखकर कड़ी हो जायँ। सुखाने की इस अवधि में समय-समय पर बीजों की पलटाई करते रहना चाहिए और इस बात से काफी सतर्क रहना चाहिए कि फलियाँ क्षतिग्रस्त न हों। जब पेड़ भली भाँति सूख जायँ तो इनमें से स्वस्थ निरोग

और अच्छी फलियाँ चुन लेनी चाहिए और उन्हें छिलके सहित भण्डार गृह में रख देना चाहिए। मूंगफलियों के भंडार के लिए बोरियाँ, मिट्टी के बर्तन, लकड़ी की बोरियाँ आदि प्रचलित हैं। किन्तु इन विधियों में आवश्यकतानुसार किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है। ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि नमी का प्रभाव फलियों तक न पहुँच सके। नमी के अतिरिक्त मूंगफली पर आक्रमण करने वाले कीड़ों से भी बचना चाहिए। बर्तन का मुँह मिट्टी और गोबर की सहायता से अच्छी तरह बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार रक्खे गये बीज अगले वर्ष बोये जा सकते हैं। बीजों की बोआई के समय इस बात की जाँच अवश्य कर लेनी चाहिए कि उनकी जीवन शक्ति खुदाई के पश्चात् कितने दिनों तक स्थिर रहती है। फैलने वाली किस्मों के बीज खुदाई के पश्चात् दो-तीन महीनों तक बोने के योग्य नहीं होते क्योंकि इस अवधि में ये सुसुप्तावस्था में होते हैं। गुच्छे वाली किस्में इसके विपरीत गुण रखती हैं। उन्हें खुदाई के दस-पन्द्रह दिन पश्चात् ही बोया जा सकता है। मूंगफली के बीज बोने के समय छिलके रहित कर दिये जाते हैं। कुछ किस्में ऐसी भी होती हैं जिसे छिलके सहित बोया जाता है। जब छिलके-सहित फलियाँ बोने के काम में लाई जाती हैं तो ऐसी ही फलियाँ चुनी जाती हैं जिनके छिलके में एक ही बीज उपस्थित होता है। इन फलियों के छिलके बोआई के समय सावधानी से तोड़ने चाहिए कि बीज क्षतिग्रस्त न हो और छिलका भी उसमें लगा रहे किन्तु छिलका-युक्त बोवाई किंचित ही की जाती है। बोवाई की प्रचलित विधि छिल्के उतरे बीजों की ही है। छिल्का उतारने का काम हाथ से किया जाता है और उसी समय प्रारम्भ किया जाता है जब कि भूमि बोवाई के लिए तैयार हो जाती है। निरीक्षण से ऐसा ज्ञात किया गया है कि बीज जिनके छिल्के उतार दिये गये होते हैं, वे छिल्के सहित बीजों की अपेक्षा शीघ्र उगते हैं। छिल्के सहित बीज उगाने में काफी समय लेते हैं। ये अधिकतर उन्हीं स्थानों के लिए उपयुक्त होते हैं जहाँ कि भूमि में अधिक नमी की उपस्थिति होती है और नमी के कारण खेत उपयुक्त समय पर तैयार नहीं हो पाते। छिल्के सहित बीजों की बोवाई में बीज सहित कलियों पर व्यय अधिक पड़ता है।

बोवाई की विधि—मूंगफली की बोवाई सर्वत्र एक-सी नहीं है। कुछ स्थानों पर देशी हलके पीछे कूँड़ों में रोपने की प्रथा है तो कुछ स्थानों पर बोवाई की मशीन का प्रयोग किया जाता है। देशी हल के पीछे कूँड़ों में बोवाई करने की विधि अधिक

सामान्य है। इस विधि में देशी हलों द्वारा कूँड़ बना लिये जाते हैं और उन्हा कूँड़ों में निश्चित् अन्तर पर बीज डाल दिये जाते हैं। बोवाई के पश्चात् खेत में पाटा चला दिया जाता है। मूंगफली की बोवाई के पश्चात् पाटा चलाना अत्यन्त आवश्यक होता हैं, क्योंकि बीजों के खुले रहने से पक्षी अथवा विभिन्न प्रकार के जानवर खा सकते हैं। बोवाई करने वाले यत्र प्रायः वहीं प्रयोग किये जाते हैं जहाँ ये सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकें। मूंगफली की बोवाई में ३ से ६ तक खूँटियां वाले यंत्र काम में लाये जाते हैं। ये खूँटियाँ यंत्र में ९½" से ११" के अन्तर पर लगी होती हैं। खूँटियों की आपस की दूरी में हेर-फेर किया जा सकता है और यह हेर-फेर पक्तियों की पारस्परिक दूरियों पर निर्भर करता है। दो पंक्तियों के बीच की दूरी लगभग १२" तक रक्खी जाती है। बम्बई में पक्तियों के बीच एक फुट और पौधे के बीच ९" की दूरी रखने की सिफारिश को गई है, किन्तु यह दूरी उन्हीं स्थानों के लिए है जहाँ वर्षा अधिक होती हो और भूमि काफी उर्वर हो। सिंचाई वाले क्षेत्रों के लिए पक्तियों के बीच का अन्तर १ फुट से १½ फीट तक रक्खा जाना चाहिए। मूंगफली की फैलने वाली किस्मों में पंक्तियों का पारस्परिक अन्तर ९" से १ फुट तक रक्खा जाता है। गुच्छे वाली मूंगफली की किस्मों में यह अन्तर घट कर केवल ६" से ९" तक रह जाता है। मूंगफली की फसल जब अन्य फसलों के साथ मिश्रण रूप में बोई जाती है तो पंक्तियों और पौधों के मध्य की दूरी पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, परन्तु यह बात मस्तिष्क में आवश्यक रक्खी जाती है कि पौधे अधिक घने न हो जायँ क्योंकि ऐसा होने से फसल के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

मूंगफली की बोवाई में बीज की मात्रा का भी अधिक महत्व है किन्तु यह मूंगफली की किस्म और स्थान विशेष की जलवायु तथा भूमि की स्थिति से अधिक गहरा सम्बन्ध रखती है। मद्रास में मारीशस किस्म का बीज एक एकड़ में ३० से ४० पौंड लगता है। गुच्छे वाली किस्मों की बोवाई में बीज की मात्रा लगभग ८० पौंड लगती है। जब ये बीज शुष्क क्षेत्र में उगाये जाते हैं तो मात्रा १०० से १२० पौंड तक आवश्यक होती है। ऐसे क्षेत्रों में फैलने वाली किस्मों से ८० से १०० पौंड छिले बीज पर्याप्त होते हैं। सिंचाई की सुविधा वाले स्थानों पर बीज की मात्रा शुष्क क्षेत्र की अपेक्षा कम लगती है।

मिश्रण—मूंगफली की फसल प्रायः अन्य फसलों के साथ मिश्रण रूप में उगायी जाती है। इन फसलों में ज्वार, बाजरा, काकुन, अरहर, सेम, अंडी, कुसुम,

तिल, रामतिल, कपास आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। मद्रास जो भारतवर्ष का सबसे अधिक मूंगफली पैदा करने वाला राज्य है, वहाँ मूंगफली प्रायः बाजरा, रागी, अलसी आदि फसलों के साथ मिश्रण रूप में उगायी जाती है। अरहर, कपास, ज्वार और अंडी की फसले भी मूंगफली को मिश्रण रूप में उगाने में अधिक समर्थ हैं। मद्रास में प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि मूंगफली की मिश्रित फसलों से शुद्ध फसल की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त की जा सकती है।

कपास और अरहर की फसलें जब मूंगफली के साथ मिश्रण रूप में उत्पन्न की जाती है तो अधिक लाभ होता है। उत्तर प्रदेश में अरहर की कतारों के बीच में मूँगफली की फसल से अधिक लाभ प्राप्त किया गया है। मूंगफली की फसल जब ज्वार, बाजरा, काकुन जैसी खाद्यान्न फसलों के साथ मिश्रण रूप में बोई जाती है तो खाद्यान्न फसलें तो पहले कतारों में बो दी जाती हैं और उसके पश्चात् मूंगफली बीच के खाली स्थानों में कूँड़ की विधि द्वारा पंक्तियों में बो दी जाती है। कभी-कभी मूंगफली की बोआई खाद्यान्न फसलों के साथ की जाती है। मूंगफली मिश्रणों के साथ छिटक कर भी बोई जाती है किन्तु कतारों में बोने वाली विधि इससे अधिक-लाभकर होती है। अरहर और कपास के साथ इसे कतारों में बोना अच्छा होता है। कपास के साथ जब मूंगफली की बोआई की जाती है तो मूंगफली और कपास का मिश्रण ८ : १ रक्खा जाता है। मद्रास में इसे रागी की फसल के साथ मिश्रण रूप में उत्पन्न किया जाता है। रागी की खड़ी फसल में मूंगफली के छिले हुए दाने हाथ से दबा दिये जाते हैं बीजों के दबाने का यह कार्य रागी की फसल में पहली निराई के समय किया जाता है। रागी की फसल के कट जाने के पश्चात् मूंगफली के पौधों पर मिट्टी चढ़ा दी जाती है।

सिंचाई—मूंगफली की उन्हीं फसलों में सिंचाई करने की आवश्यकता होती है जहाँ इसे सिंचाई के अवलम्ब पर उगाया जाता है। मद्रास और बम्बई राज्यों में इसे प्रायः सिंचित फसल के रूप में उगाया जाता है। इसके लिए खेत में कूड़ें बना ली जाती हैं। कूँड़े पंक्तियों के मध्य में ही होनी चाहिए। पानी मुख्य नालियों से इनमें पहुँचा दिया जाता है और पूरे खेत की सिंचाई कर दी जाती है। यदि खेत में बोआई से पूर्व ही भूमि की तैयारी के लिए सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है तो इन कूड़ों की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि लम्बी-चौड़ी क्यारियाँ बना ली जाती हैं और भूमि को नम बना दिया जाता है। बोआई के पश्चात् सिंचाइयाँ पन्द्रह दिनों के

अन्तर पर की जाती है। लेकिन पौधों में कलियाँ बनने के समय दो सिंचाइयों के बीच कम अन्तर रक्खा जाता है और सिंचाइयाँ भी गहरे रूप में की जाती हैं ।

निराई-गुड़ाई—जब मूंगफली की फसल कतारों में बोई जाती है तो निराई-गुड़ाई करने के लिए बैलो द्वारा संचालित हो (निरायक) प्रयोग किये जा सकते हैं। कुछ स्थानों पर इस कार्य के लिए बखर भी प्रयोग किये जाते हैं। निराई-गुड़ाई से खेत में उगे घास-पातें दूर हो जाती हैं और भूमि भुरभुरी और खुली बन जाती हैं। मूंगफली जब मिश्रण रूप में बोई जाती है तो निराई-गुड़ाई की क्रिया हाथ से की जाती है। साधारणतया मूंगफली की फसल में दो बार निराई-गुड़ाई की क्रिया की जाती है। पहली बोआई के लगभग १५ दिन पश्चात् और दूसरी बोआई के लगभग डेढ़ माह पश्चात्। मूंगफली की फसल में फूल आने और फलियों के लगने के समय के पश्चात् निराई-गुड़ाई की क्रिया नहीं की जाती। कारण यह होता है कि फलियों के बढ़ने और उनकी शाखाओं को मिट्टी में जाने में अड़चन उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में यदि निराई अधिक आवश्यक हो तो घास-पात सावधानी से हाथ द्वारा निकाल लेना चाहिए। गुच्छे वाली किस्मों में ऐसा अनुभव किया गया है कि पौधों पर मिट्टी चढ़ाने के लिए जुताई करने से फलियाँ अधिक लगती हैं।

खाद—मूंगफली की फसल में प्रायः खाद की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि एक दाल वाली फसल है। किन्तु फिर भी मद्रास और बम्बई में इसकी फसल में खाद दी जाती है। इन खादों में गोबर की खाद या राख अधिक प्रचलित है। बम्बई में गोबर और कूड़े की खाद २० से २५ गाड़ी की मात्रा में प्रति एकड़ के हिसाब से डाली जाती है।

जिन स्थानों की भूमि बलुवार है, वहाँ भूमि को उपयुक्त बनाने के लिए अधिक खाद दी जाती है। साधारण रूप में गोबर की खाद मूंगफली के खेत में प्रति एकड़ के हिसाब से ५ से १० गाड़ी तक डाली जा सकती है। कुछ स्थानों पर गोबर की खाद के स्थान पर तालाबों या नालों की मिट्टी मिलाने की प्रथा है। खाद का प्रयोग प्रायः बोआई के कुछ दिन पूर्व किया जाता है। इन खादों के अतिरिक्त उर्वरक भी जिसमें पोटाश आदि सम्मिलित होते हैं, प्रयोग किये जा सकते हैं। मद्रास और बम्बई में उन खेतों में जिनमें मूंगफली प्रति वर्ष उगाई जाती है। पोटाश का प्रयोग किया जाता है। मध्य प्रदेश में प्रयोग द्वारा यह विदित किया गया है कि मूंगफली के लिए पोटेशियम सल्फेट अधिक लाभप्रद उर्वरक है। मूंगफली के लिए

नाइट्रोजनीय उर्वरकों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। जिन स्थानों की मिट्टियों में चूने का अभाव है उनमें इसका प्रयोग आवश्यक है। चूने की मात्रा प्रति एकड़ दो गाड़ी के हिसाब से पर्याप्त होती है। कुछ स्थानों पर अमोनियम सल्फेट और सुपर फास्फेट का भी प्रयोग किया जाता है।

खुदाई—मूंगफली की फसल की खुदाई उस समय करनी चाहिए जब कि वह पक कर पूर्ण रूपेण तैयार हो जाय। यदि कभी फसल की खुदाई फसल के पकने के कुछ समय पूर्व ही कर दी जाय तो फलियों में तेल की उतनी मात्रा नहीं बन पाती जितनी कि पूर्ण पकी फलियों में बनती है। यदि फसल की खुदाई पूर्ण रूपेण पकने की अवस्था से एक सप्ताह पूर्व हो जाय तो ज्ञात किया गया है कि फलियों की तेल की मात्रा में लगभग ५% की कमी हो जाती है। इसका कारण यह होता है कि फलियों में फैटी एसिड (Fatty acid) जिससे तेल बनता है, अधिक परिमाण में उपस्थित रहता है। अतः यह आवश्यक है कि फसल की कटाई के समय उसके पूर्ण रूप से पकने की पहचान कर ली जाय। फसल के पक जाने पर नीचे की पत्तियाँ पीली हो कर मुर्झाने लगती हैं। फलियाँ गहरे रंग की हो जाती हैं और कुछ शुष्क सी लगती हैं। फलियों के छिलकों में नमी उपस्थित नहीं होनी चाहिए। इसकी पहचान के लिए फलियों के छिलकों को दबाना चाहिए और जब वे चटक कर टूट जायँ तो उनको पूर्ण रूप से पका समझना चाहिए। पके हुए छिलकों का भीतरी भाग काला हो जाता है और गिरी कुछ अधिक साफ हो जाती है।

मूंगफली की खुदाई अनेक प्रकार से की जाती है। खुदाई की विधि भूमि की किस्म और स्थान विशेष पर निर्भर करती है। हल्की और नम भूमि में बोई गई गुच्छे वाली किस्में हाथ से पकड़कर भूमि से उखाड़ ली जाती हैं। यदि भूमि कड़ी हो जाती है तो हल्की सिंचाई करके उसे पोली बना लेते हैं। उन स्थानों पर जहाँ कि भूमि कड़ी होती है, वहाँ बखर अथवा देशी हल की सहायता से खुदाई की क्रिया की जाती है। मद्रास राज्य में कुछ स्थानों पर खुदाई का कार्य देशी हल से किया जाता है, जिसके पीछे एक फावड़ा जिसे दक्षिण भारत में मामती कहते हैं, लगा रहता है। इसकी सहायता से फसल वाली भूमि जोत दी जाती है और तत्पश्चात् पौधे तथा फलियाँ हाथ द्वारा इकट्ठी कर ली जाती हैं। खाली भूमि में खुदाई के पूर्व पौधों को हँसिया से काट लेते हैं और जुताई करके फलियाँ निकाल लेते है। इस प्रकार निकाले गये पौधे या फलियाँ खलिहान में लाई जाती हैं। पौधे से फलियाँ तोड़ ली जाती हैं और

उन्हें सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। पौधे और पत्तियाँ पशुओं को खिला दी जाती हैं। खलिहान में फैलाई गई फलियाँ जब भली भाँति सूख जाती हैं तो उन्हें डण्डों से पीट कर अलग कर लिया जाता है।

उपज—मूँगफली की उपज पर मिट्टी का किस्म, खाद, जलवायु, कृषि-विधि तथा उसकी किस्मों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, अतः सभी स्थानों पर इसकी उपज एक-सी नहीं होती। साधारणतः देखा जाता है कि भूमि तथा जलवायु के उपयुक्त होने पर भी यदि कृषि-विधि वैज्ञानिक नहीं है अथवा किस्में कम उपज देने वाली हैं, तो उपज बहुत कम मिलती है। जिन स्थानों पर खेतों की वैज्ञानिक विधियाँ प्रयुक्त होती है, वहाँ कृषक अधिक उपज प्राप्त करते हैं, यही कारण है कि मारीशस में मूंगफली की उपज जहाँ २,२३० पौंड प्रति एकड़ प्राप्त की जाती है वहाँ भारतवर्ष में मद्रास में केवल ६३१ पौंड मिल पाती है। किस्मों में भी फैलने वाली किस्में गुच्छे वाली फसलों से अधिक फसल देती हैं। मूंगफली की उपज पर सिंचाई का भी प्रभाव देखा जाता है। सिंचित फसलें असिंचित फसल की अपेक्षा लगभग दूनी उपज देती हैं। विश्व की मूंगफली की औसत उपज ६०० पौंड प्रति एकड़ हैं। चीन, सूडान और मारीशस संसार के मूंगफली उत्पन्न करने वाले देशों में अधिक उपज देने वाले हैं जहाँ क्रमशः १,६३० पौंड, २,००० पौंड और २,२३० पौं० प्रति एकड़ उपज प्राप्त की जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मूंगफली की प्रति एकड़ उपज ७१४ पौंड है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न राज्यों में इसकी उपज इस प्रकार है।

राज्यों के नाम	फलियों की प्रति एकड़ उपज
उत्तर प्रदेश	१०३५ पौंड
मद्रास	६३१ "
उड़ीसा	८६१ "
बम्बई	७६४ "
हैदराबाद	७२२ "
मध्य प्रदेश	६२७ "
मैसूर	५४६ "
बड़ौदा	५४४ "
पंजाब	५२२ "

खाद्य-अंश तथा उपयोग—मूंगफली भारतवर्ष की तेल वाली फसलों में

से एक है। यद्यपि उत्तर प्रदेश इस फसल के उत्पादन में मद्रास, बम्बई आदि राज्यों की समता में बहुत पीछे रह जाता है तथापि इसका क्षेत्रफल दिनोदिन इस राज्य में भी बढ़ रहा है। पिछले १० वर्ष की अवधि में इसके क्षेत्रफल में लगभग ५०% की वृद्धि हुई है। तेल के अतिरिक्त मूंगफली में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन बी आदि भी उपस्थित होते हैं जिनका प्रतिशत यहाँ दिया जा रहा है।

प्रोटीन	२६.७%
कार्बोहाइड्रेट	२०.७%
चर्बी या तेल	५०.०%
कैल्शियम	०.०५%
फास्फोरस	०.३६%
लोहा	१.६%
विटामिन बी—थायोमिन B	९०० (माइक्रोग्राम प्रति १०० ग्राम पर प्रतिशत में)
रिबोफ्लेविन	३००
निकोटिनिक एसिड	१४.१

विटामिन बी के अतिरिक्त मूंगफली में विटामिन ई भी पाया जाता है। लेसीथिन जिसे अंडपीत कहा जाता है, इसमें अधिक मात्रा में उपस्थित रहता है। केवल मूंगफली की गिरी में ही इसकी मात्रा ०.५ से ०.७ प्रतिशत तक पाई जाती है। अंडपीत खाद्य के दृष्टिकोण से एक बहुमूल्य पदार्थ है जिसमें शक्तिवर्धक गुण मौजूद होते हैं।

मूंगफली अपने उपयोगों के कारण अति लोकप्रिय फसल है। इसकी उपज का अधिक अंश तेल था। हाइड्रोजिनेटेड (Hydrogeneted) तेल के रूप में इसका प्रयोग होता है। केवल थोड़ा-सा भाग कच्चा या भून कर खाया जाता है। मूंगफली से निकाला तेल प्रायः भोजन की सामग्री के रूप में प्रयोग किया जाता है। भारत में जितना मूंगफली का तेल पैदा होता है उसमें से १.३ लाख टन वनस्पति घी तैयार करने में प्रयोग किया जाता है जो सम्पूर्ण तेल का एक बहुत बड़ा भाग है। जैसा कि हमने कहा है, भारतवर्ष मूंगफली उत्पादन में विश्व में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है यहाँ से प्रतिवर्ष लगभग ३०,००० टन मूंगफली विदेशों को भेजी जाती है। अमेरिका में इससे अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ बनाये जाते हैं। इनका बनावटी मक्खन

(मार्गारिन) तथा मिठाइयाँ प्रसिद्ध हैं। भारतवर्ष में भी इससे मिठाइयाँ तैयार की जाती हैं। अमेरिका में इसे आग बुझाने वाले द्रव के स्थान पर प्रयोग किया जाता है और यह अच्छा काम भी देती है। इसके तेल से रेचक पदार्थ निर्मित होते हैं। चमड़े को मुलायम बनाने का भी गुण इसमें पाया जाता है। इसकी सहायता से पशु रोग में काम आने वाली अनेक औषधियाँ तैयार की जाती हैं। मशीनों में इसे चिकनाने (Lubrication) के काम में लाया जाता है। १:१ के रूप में इसे मिट्टी के तेल में मिलाकर प्रकाश करने के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। मूंगफली के तेल से विटामिन ए, मलहम, लेप आदि मिश्रण बनाये जाते हैं। अनुसंधानों द्वारा मूंगफली से दूध तथा दही निकालने की विधि भी निकाल ली गई है और यह भी ज्ञात किया गया है कि पोषक तत्वों के विचार से ये गाय-भैंस के दूध-दही से बढ़िया नहीं हैं, इनका स्वाद भी अच्छा होता है। मूंगफली के प्रोटीन चेपक, प्लाइडवड तथा 'अर्दिल' नामक कपड़े के रेशे तैयार करने के काम आते हैं। इसकी खली के चूरे को आइसक्रीम तथा नानबाई आदि मिठाइयों के तैयार करते समय प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह आटे के साथ बिल्कुल मिल जाता है। कृषि के दृष्टिकोण से इसकी खली का विशेष महत्व है। कारण यह है कि यह अन्य खलियों की अपेक्षा अधिक पौष्टिक और सस्ती पड़ती है। इसकी खली नाइट्रोजन का एक अच्छा स्रोत है। इसमें नाइट्रोजन ७-८% पाया जाता है। पोटाश तथा फास्फोरस की मात्रा क्रमशः १.२ तथा १.५ उपस्थित होता है। इसकी खली धान, गन्ना तथा तरकारियों की फसलों में अच्छा प्रभाव दिखाता है। इसकी खली यदि घानी की विधि से निकाली जाय तो इसे पशुओं को भी खिलाया जा सकता है, शर्त यह है कि खली में किसी प्रकार की दुर्गन्ध न होनी चाहिए और न ही तेल की अधिक मात्रा। सावधानी से बनाई गई खली दूध देने वाले तथा काम करने वाले दोनों प्रकार के पशुओं को खिलाई जा सकती है। इसकी दैनिक मात्रा ½ पौं० से २ पौं० तक रखी जा सकती है। प्रोटीन की अधिक मात्रा उपस्थित होने के कारण यह पशुओं के लिए अधिक उपयोगी समझी जाती है। खली में इसको मात्रा ४६% तक मौजूद होती है जबकि कार्बोहाइड्रेट २३.२% तथा चिकनाई ७.५% पाये जाते हैं।

मूंगफली के छिलके, डंठल तथा पत्तियाँ पशुओं को खिलाने के काम आती हैं। सूखे पौधे भी बेकार नहीं जाते। उन्हें पशुओं को खिलाने या खाद बनाने के काम में लाया जाता है। छिलके अधिक कड़े होने पर ईंधन के रूप में प्रयोग किये

जाते हैं। मूंगफली की फसल चूँकि दाल वाली फसल है, अतः इसमें वायुमंडल से नाइट्रोजन प्राप्त कर भूमि को प्रदान करने का गुण होता है। इससे भूमि उर्वरा हो जाती है। यदि इसकी हरी फसल को सनई की भाँति हरी-खाद के रूप में प्रयोग किया जाय तो इससे बहुत अच्छी खाद मिल सकती है। इस खाद में ०.६% नाइट्रोजन उपस्थित होता है। इसके सूखे चारे में कार्बोहाइड्रेट ४७.०% प्रोटीन ११.२%, रेश २२.१%, चिकनाई १.८%, राख १७.०% तथा नमी ५.६% पाई जाती है। छिल्के में कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन दोनों ही इतने कम परिमाण में उपस्थित होते हैं। चिकनाई तथा रेशे क्रमशः ३.०% तथा ५६.७% पाये जाते हैं।

संचय—यदि खुदाई के पश्चात् बाजार की स्थिति सन्तोषजनक न हो तो उसे कुछ समय के लिए भण्डार घर में सुरक्षित रखा जाता है। भण्डार घर में इसके रखने की अवधि अधिक से अधिक दो-तीन महीने हैं। मूंगफली का सचय छिलके-सहित किया जाता है क्योंकि इस स्थिति में इसके नमी आदि से अधिक प्रभावित होने का कम भय रहता है। नमी से बचने के लिए इसे धूप में भली-भाँति सुखा लेना चाहिए। भण्डार में रखते समय गिरी के लिए ५% से अधिक नमी नहीं होनी चाहिए और ढेर में टूटी गिरियों की मात्रा भी जहाँ तक हो सके कम रखनी चाहिए। भण्डार घर खुला, हवादार और स्वच्छ होना चाहिए। उसमें खिड़कियों का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि कमरे में प्रर्याप्त प्रकाश आ सके; किन्तु नमी के प्रभाव पड़ने की आशंका न हो। फर्श पक्का होना चाहिए और उस पर बिछाने के लिए नरम बिछौना काम में लाना चाहिए। मूंगफली बोरों में भरकर या फर्श पर खुले रूप में रखी जाती है। बोरों में रखते समय बोरों की छल्लियाँ अधिक ऊँची नहीं रखी जातीं। अधिक से अधिक १० बोरों की छल्लियाँ लगाई जा सकती हैं। खुले रूप में भी रखने पर मूंगफली की ढेर अधिक ऊँची नहीं की जाती और उसे ऊपर से ढका भी नहीं जाता। कम परिमाण में संचय करने पर मूंगफलियाँ कनस्तरों में रखी जाती है। ऐसा देखा गया है कि वर्षा के आधार पर उत्पन्न की गई फसल का संचय अपेक्षाकृत अधिक समय तक किया जा सकता है।

मूंगफली को जब खुदाई के शीघ्र पश्चात् अथवा तीन चार हफ्ते की अवधि में ही बेचना होता है तो उसके संचय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसे खलिहान की फर्श पर ही खुला छोड़ देते हैं अथवा बोरों में भर कर रख देते हैं। यदि मूंगफली

का निर्यात करना होता है तो एक सप्ताह पूर्व छिल्के गिरी से पृथक कर लिये जाते हैं। तेल निकालने के लिए भी फलियों को छिल्कारहित बना लिया जाता है।

मूंगफली का रोग—मूंगफली की फसल पर अनेक प्रकार के रोग तथा कीड़े आक्रमण करते हैं जिनसे प्रतिवर्ष उत्पादकों को अधिक हानि उठानी पड़ती है। रोगों में पत्तियों में धब्बे पड़ना, उकठा तथा कलँगी प्रमुख हैं। कीड़ों में लाल बालों वाली गिड़ार, पत्ती छेदक कीड़े, भुनगियाँ चमकदार भृङ्ग अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं। इन कीड़ों के अतिरिक्त माहू, दीमक आदि भी फलियों या फसल पर अधिक हानि करते हैं।

पत्तियों पर धब्बे पड़ना या टिक्का रोग—यह रोग टिक्का रोग के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार की फफूँदी से उत्पन्न होता है जिसे सरकोस्पोरा पर्सोनेटा (Cercospora personata) अथवा सेप्टोग्लोइयम अरैकिडिस (Septogloeum arachidis) कहते हैं। यह फफूँदी पौधों की पत्तियो पर आक्रमण करती है और उन पर भूरे रंग के धब्बे बना देती है। धीरे-धीरे ये धब्बे बढ़ने लगते हैं और फिर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। धब्बों के प्रभाव से पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं और अन्त में मुरझा कर गिर जाती हैं। रोग के प्रभाव से फलियाँ पक नहीं पातीं और जब इसका प्रभाव अधिक भयंकर होता है तो खोल में फलियाँ बन ही नहीं पातीं। नमी के बढ़ने पर रोग अधिक गम्भीर हो जाता है। इसकी रोक-थाम के लिए औषधियों का छिड़काव अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होता क्योंकि फँफूदी पत्तियों के निचले सतह पर होते हैं। यदि सम्भव हो तो बोर्डो मिश्रण ($\frac{3}{8}$%) का छिड़काव अथवा गन्धक के चूर्ण का भुरकाव (१५ पौं० प्रति एकड़ के हिसाब से) किया जा सकता है। ऐसी किस्में, जिन पर इस रोग का कोई प्रभाव न पड़े, बोकर रोग का भय कम कर देना चाहिए। यदि रोग से प्रभावित बीज का ही प्रयोग करना हो तो उसे फार्मेलिन के घोल में डुबा लेना चाहिए। फार्मेलिन का घोल १ पौं० की मात्रा में ४० गैलन पानी में घोल कर तैयार किया जाता है।

उकठा रोग (Root Rot)—उकठा रोग राइजोक्टोनिया डिस्ट्रुयेन्स (Rhizoctinia destruens) नामक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। रोग से प्रभावित पौधों की पत्तियाँ और टहनियाँ सब से पहले मुर्झाना प्रारम्भ करती हैं और फिर सूख जाती हैं। इस रोग का प्रभाव मूंगफली की उस किस्म में पाया जाता है जो गर्मी

के दिनों में सिंचाई की सहायता से उगाई जाती है। इसकी रोक-थाम के लिए पोटाश अथवा गोबर की खाद का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है।

गुच्छेदार कलंगी—यह रोग एक प्रकार के कीड़े से एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलता है। जिस पौधे पर इस रोग का प्रभाव पड़ता है, उसकी पत्तियाँ तथा टहनियाँ छोटी रह जाती हैं क्योंकि पूरे पौधे का बढ़ाव ही रुक जाता है और पत्तियों तथा टहनियों के छोटी रह जाने से पौधों का ऊपरी भाग एक गुच्छे के रूप में दिखलाई पड़ता है। पौधे की ऐसी बनावट के आधार पर ही इस रोग को गुच्छेदार कलंगी के नाम से पुकारते हैं।

मूंगफली पर आक्रमण करने वाले कीड़े—मूंगफली पर आक्रमण करने वाले कीड़ों में लाल बालों की गिड़ार उल्लेखनीय है। इस कीड़े के अतिरिक्त भी कुछ अन्य ऐसे कीड़े हैं जो अपने प्रभाव से फसल की क्षति करते हैं किन्तु इसकी संख्या बहुत कम है। इन कीड़ों में पत्ती छेदक कीड़े, चमकदार भृङ्ग, भुनगियाँ तथा मूंगफली नाशक कीड़े अधिक भयंकर हैं।

लाल बालों वाली गिड़ार (Red hairy caterpillar)—ये कीड़े दक्षिणी-पश्चिमी मानसून से प्रारम्भ होते हैं और अपना जीवन इतिहास नये सिरे से प्रारम्भ कर देते हैं। भारी वर्षा होने पर पृथ्वी से इनके पतगे निकलना प्रारम्भ कर देते हैं और मूंगफली के साथ-साथ अन्य फसलों की पत्तियों पर बैठ कर अण्डा देने लगते हैं। कुछ दिनों पश्चात इन अण्डों से गिड़ारें निकल आती हैं जो लाल बाल वालो होती हैं। ये गिड़ारें अण्डों से बाहर आते ही फसल की पत्तियों पर आक्रमण कर देती हैं और उन्हें बुरी तरह खाना प्रारम्भ कर देती हैं। पत्तियों की हानि से पौधे पत्ते-रहित हो जाते हैं और फसल पूरी तरह से क्षतिग्रस्त हो जाती है। इस कीड़े का प्रभाव मैसूर तथा हैदराबाद में अधिक पड़ता है। इसकी रोक-थाम के लिए निम्न-लिखित उपाय का प्रयोग करना चाहिए :—

(१) गर्मी के दिनों में मिट्टी पलटने वाले हल से खेत की अच्छी जुताई कर देना चाहिए। ऐसा करने से खेत की मिट्टी नाचे से ऊपर आ जाती है और पतंगों सहित मिट्टी भी ऊपर आकर सूख जाती है।

(२) उन स्थानों पर जहाँ खेत की जुताई न हो सकती हो, वहाँ भूमि में रहने वाले इन पतंगों को फावड़ा या कुदाली की सहायता से खोद कर बाहर कर देना चाहिए।

(३) मानसून के दिनों में भारी वर्षा के पश्चात् पतंगों का झुंड ज्योंही बाहर निकले, उन्हें हाथ से पकड़कर मार डालना चाहिए।

(४) पतंगे जिस स्थान पर अंडे देना प्रारम्भ करें उस स्थान की मिट्टी अंडे सहित जला देनी चाहिए अथवा यदि केवल अंडे एकत्रित हो सके तो उन्हीं को विनष्ट कर देना चाहिए।

(५) यदि उपर्युक्त विधियों से ये कीड़े न रोके जा सकें और फसल पर उनका आक्रमण हो ही जाय तो उनकी रोक-थाम के लिए खेत के चारों ओर गहरी खाईं बना देनी चाहिए। इस खाईं से गिड़ारें एक खेत से दूसरे खेत को नहीं जाने पातीं और बीच में खाईं ही में गिर कर मर जाती हैं।

पत्ती छेदने वाले कीड़े—ये कीड़े बहुत शीघ्र बढ़ते हैं और एक मौसम में ही चार जीवन-चक्र पूरा कर लेते हैं। भारी वर्षा में इनकी वृद्धि नहीं हो पाती बल्कि ये बुरी तरह नष्ट हो जाते हैं। सूखा मौसम इनकी वृद्धि के लिए अत्यन्त अनुकूल होता है। जिन स्थानों पर मानसून में वर्षा होने का कोई क्रम नहीं होता और पानी अनियमित रूप में बरसता है, वहाँ ये कीड़े भयंकर रूप से आक्रमण करते हैं। गिड़ारों की भाँति इनके पतंगे भी फसल की पत्तियों पर अंडे देती हैं। पतंगे भूरे रंग के और चौड़े आकार के होते हैं। अंडों से निकले हुए शिशु हल्का पीलापन लिये होते हैं। ये पत्तियों में घुस जाते हैं और जाला बना कर वहीं रहने लगते हैं और पत्तियों के हरे पदार्थ को खाना प्रारम्भ कर देते हैं। पत्तियों को इस पदार्थ के नष्ट हो जाने से अधिक हानि होती है। इनमें भोजन संस्थापन करने की शक्ति नहीं रह जाती और पौधे शुष्क दृष्टिगोचर होते हैं। इन कीड़ों की रोक-थाम के लिए डी० डी० टी० ५% अधिक लाभप्रद होता है। इस कीड़े के पतगे प्रकाश की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। इन्हें प्रकाश जाल द्वारा विनष्ट किया जाता है। एक प्रकाश जाल लगभग ५० गज व्यास के वृत्त के कीड़ों को एक बार में मार सकती है।

चमकदार भृङ्ग—इस प्रकार के कीड़े सिंचाई की सहायता से उगाई गई फसलों पर अधिक भयंकर रूप से पड़ते हैं। इनके पतगे पौधों के तनों में घुसे रहते हैं और उपयुक्त समय पर अपना काम प्रारम्भ कर पौधे को क्रियाशून्य बना देते हैं।

भुनगियाँ—पत्ती छेदक कीड़ों की भाँति भुनगियाँ शुष्क मौसम में फसल को अधिक हानि पहुँचाते हैं, किन्तु लगातार वर्षा होने पर इनका प्रभाव कम हो जाता

है और ये विनष्ट होने लगते हैं। इनकी रोक-थाम के लिए गैमेक्सीन का प्रयोग करना चाहिए। तम्बाकू के गाढ़े का छिड़काव भी उपयोगी सिद्ध होता है।

मूंगफली नाशक कीड़े—इस प्रकार के कीड़े बम्बई क्षेत्र की फसल पर पाये गये हैं। वहाँ ये फसल पर आक्रमण कर फलियों की काफी क्षति करते हैं। ये फलियों पर आक्रमण कर उनके भीतर घुस जाते हैं और गिरी के सारे तेल चूस कर पी लेते हैं। खेतों के अतिरिक्त इनका प्रभाव कभी-कभी खलिहानों और भण्डार घरों में भी होता है। भंडारो में आक्रमण करने पर इन्हें अधिक प्रकाश तथा सफाई रख कर दूर किया जा सकता है।

इन कीड़ों के अतिरिक्त दीमक, माहू, पक्षी, शृगाल, जंगली सुअर आदि भी फसल पर आक्रमण करते हैं। इनसे बचने के लिए देख-भाल की आवश्यकता पड़ती है।

मूगफली से तेल निकालना—मूंगफली से तेल निकालने के लिए फलियों से छिल्का उतारना आवश्यक होता है। छिल्का उतारने का काम छिल्का उतारने वाले यंत्रों अथवा हाथ से लिया जाता है। जब छिल्के हाथ से उतारे जाते हैं तो फलियाँ खलिहान की फर्श पर मोटी पर्त्तों में फैला दी जाती हैं। फलियों के फैलाने में इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि फलियाँ पूरी सूखी न हों। पूरी सूखी फलियाँ पीटने पर चूर-चूर हो जाती हैं और इनकी गिरी अच्छी नहीं मिल पाती। अतः आधी सूखी फलियाँ ही इस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त समझी जाती हैं। यदि फलियाँ अधिक सूखी रहें तो उन्हें पानी से नम बना लेना चाहिए। ये फर्श पर फैला लेने के पश्चात् डंडे से पीटी जाती हैं। फलियों की अच्छी पिटाई करने के लिए उन्हें बीच-बीच में पलट देना चाहिए।

इस विधि से जो गिरी प्राप्त की जाती हैं उनमें नमी का अंश अधिक होता है और ऐसा होने से इनके शीघ्र सड़ाव का भय रहता है। यंत्रों द्वारा छिल्का उतारने के लिए दो प्रकार के यंत्र प्रयोग किये जाते हैं। इनमें प्रथम फलियों को पीटकर छिल्का उतारने वाला होता है और दूसरा रगड़ कर छिल्का उतारने वाला। इन यंत्रों में भी जब फलियाँ अधिक शुष्क रहती हैं तो गिरी अधिक टूटती है। अतः इस हानि से बचने के लिए छिल्के उतारने के कुछ समय पूर्व फलियाँ पानी में भिगो ली जाती हैं।

उपर्युक्त विधियों में किसी विधि से मूंगफली का छिल्का उतार कर गिरी से तेल

निकालना प्रारम्भ किया जाता है। तेल निकालने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं—घानी, शिकंजा घानी, पेचदार घानी और शक्ति चालित घानी।

बैलों से चलायी जाने वाली घानी—यह विधि भारतवर्ष में लगभग प्रत्येक स्थान पर प्रचलित है। इसमें बैल जोते जाते हैं। साधारणतः एक साथ एक ही बैल काम करता है। बैल जुए द्वारा कोल्हू से सम्बन्धित होता है और एक निश्चित परिधि पर घूमता रहता है। यह विधि कोल्हू विधि कही जाती है। इसमें मूसल और ओखली लगे होते हैं जिससे दबाव उत्पन्न कर तेल की पेराई की जाती है। इस विधि से तैयार किया गया तेल अन्य विधियों की अपेक्षा बढ़िया होता है। इसमें गिरी से ३५-३६% तक तेल पैदा हो जाता है।

शिकंजा घानी—इस विधि में शिकजे के आकार का लकड़ी का ढाँचा होता है जिसमें फली लगे हुए तख्ते जुड़े होते हैं। तख्ते आपस में इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं कि उनमें गिरी से भरे थैले रक्खे जा सकें। ऐसे थैले रखने के पश्चात् तख्तों की फलियों पर हथौड़ा की चोट मारी जाती है। इस चोट से गिरी पर दबाव पड़ता है और तेल निकलना प्रारम्भ हो जाता है।

पेंचदार घानी—यह विधि एक पेंच या लीवर की सहायता से काम करती है। उसमें लोहे की कुछ प्लेटें एक कतार में एक सिरे से दूसरे सिरे तक समान अन्तर पर लगी होती है। इन्हीं प्लेटों के बीच बीज रख दिये जाते हैं। बीजों से तेल सरलतापूर्वक निकालने के लिए कभी-कभी इन्हें पेराई के पूर्व गरम भी कर लिया जाता है। यदि यह प्रबन्ध नहीं हो पाता तो घानी के नीचे पेराई के समय ही आग रख देते हैं। इस विधि में तेल काले रंग का निकलता है और परिश्रम भी अधिक लगता है।

बिजली की घानी—आजकल विज्ञान के युग में तेल निकालने का कार्य बैलों आदि से न लेकर यंत्रों द्वारा किया जाता है। ये यंत्र बिजली अथवा तेल से चलाये जाते हैं। इनसे पिसाई का काम कम समय में और अल्प व्यय में ही हो जाता है। कुछ स्थानों पर हाइड्रोलिक द्वारा भी तेल की पेराई की जाती है। इस बात की भी खोज कर ली गई है कि खलियों से तेल अधिक से अधिक अंश में प्राप्त किये जा सकें। इसके लिए कुछ घोल के पदार्थ प्रयोग किये जाते हैं जिनमें कार्बन टेट्रा क्लोराइड, एसीटोन, बेञ्जोल डाइ सल्फाइड अधिक प्रचलित हैं।

अध्याय ७

तम्बाकू

(Nicotiana tobacum & N. rustica)

तम्बाकू को विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। अंग्रेजी में इसे टुबैको (Tobacco) कहते हैं जबकि यह तामिल में पोगाई लाई, तेलगू में पोगाकू, मलयालम में पोगाइला और हिन्दुस्तानी में तम्बाकू के नाम से विख्यात है। यह एक प्रसिद्ध द्रव्य उत्पादक फसल (money crop) है जिसे लगभग सम्पूर्ण विश्व में उगाया जाता है। इसे इसकी पत्तियों के लिए उत्पन्न करते हैं जो रचाई (curing) के पश्चात् प्रयोग की जाती है। इसके सेवन करने से मनुष्य की नसों (nerves) पर एक हल्का विषाक्त प्रभाव पड़ता है जो उसे उत्तेजित कर देता है। विश्व के लगभग सभी जातियों के लोग किसी न किसी रूप में इसका आनन्द लेते हैं। इसकी पत्तियाँ अनेक रूपों में तैयार की जाती हैं और उसी रूप में इसकी खपत भी होती है। सिगार, सिगरेट, बीड़ी, हुक्का पाइप आदि के रूप में इसका धूम्र-पान किया जाता है। कुछ लोग इसे चूसते हैं और कुछ इसको सुंघनी (snuff) रूप में प्रयोग करते हैं। तम्बाकू का प्रचार अभी हाल में ही हुआ है किन्तु यह इस द्रुतगति से बढ़ा है कि समाज में लगभग सभी स्तर के लोग, स्त्री-पुरुष, युवक-वृद्ध इसका प्रयोग करने लगे हैं। इसके सेवन से कुछ लोग इस प्रकार आदी बन बैठते हैं कि बिना इसके प्रयोग किये उन्हे चैन नहीं मिलतो। इसीलिए डा० विरर इलविन का कथन है कि कुछ लोग ऐसा कहने से अपने को वंचित नहीं रखते कि तम्बाकू और पत्नी में कोई अन्तर नहीं है, हम लोग उन्हें समानतः प्यार करते हैं।

भारतवर्ष में व्यापारिक स्तर पर तम्बाकू की खेती करने के लिए सरकार से लाइसेन्स लेना आवश्यक है। लाइसेन्स देने का कार्य एक्साइज विभाग (Excise department) का है। बिना लाइसेन्स लिये इसकी खेती नहीं की जा सकती।

मूलस्थान और इतिहास—तम्बाकू का मूल स्थान दक्षिणी अमेरिका माना जाता है। यहाँ से यह यूरोपवासियों द्वारा यूरोप लाया गया और वहाँ से सम्पूर्ण

विश्व में फैल गया। यूरोप वालों को इसका ज्ञान कोलम्बस के नई दुनिया की खोज कर लेने के पश्चात् ही हुआ। स्पेन में इसका बीज सर्वप्रथम सन् १५५६ में लाया गया। पुर्तगाल में इसे १५५८ ई० में उगाया गया और वहाँ से लगभग १५६० ई० में यह फ्रांस पहुँचा। तम्बाकू का वानस्पतिक नाम निकोशियाना है जो जीन निकाट (Gean Nicat) नामक एक व्यक्ति के नाम पर पड़ा है। जीन निकाट पुर्तगाल में फ्रांसीसी राजदूत था जिसने १५६० ई० में इसे पुर्तगाल से लाकर फ्रांस में उगाया। सम्भवतः तम्बाकू का विषाक्त पदार्थ जिसे निकोटीन (Nicotine) कहते हैं, उसी व्यक्ति के नाम की उत्पत्ति है। इंगलैंड में इसके प्रचार का श्रेय सर वाल्टर-रेलिंग को है। मिश्र और अरब में यह सत्रहवीं शताब्दी में लाया गया।

भारतवर्ष में, लोगों का ऐसा विश्वास है कि यह पुर्तगालियों द्वारा लाया गया। किन्तु सभी लोग इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि तम्बाकू को भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से उगाया जा रहा है। हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। पटेल के अनुसार (१९५६ ई०) तम्बाकू भारत की एक प्राचीन फसल है और इसे यहाँ बहुत प्राचीनकाल से उगाया जा रहा है। प्रथम मत के समर्थक इसका खण्डन करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि तम्बाकू भारतवर्ष में यूरोप से लाया गया और सन् १६०५ ई० में मुगल सम्राट के दरबार में एक उपहार के रूप में पेश किया गया। उसी समय से यहाँ इसका प्रसार हुआ। इन दोनों मतों का निष्कर्ष इस प्रकार दिया जा सकता है कि तम्बाकू का मूलस्थान पहले दक्षिणी अमेरिका है और दूसरे भारतवर्ष क्योंकि इन दोनो स्थानों पर इसकी जंगली किस्में पाई जाती हैं जिनके फूल गुलाबी या धवल रंग के होते हैं।

वितरण—तम्बाकू उष्ण कटिबन्ध से लेकर शीत कटिबन्ध तक में उत्पन्न किया जाता है। इसे संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी भागों, कनाडा, मध्य अमेरिका, मैक्सिको, ब्राजील; दक्षिणी अमेरिका, उत्तरी तथा पश्चिमी स्वतंत्र राज्य, फिलिपाइन, जावा, बोर्नियो, सुमात्रा, हिन्दचीन, पूर्वी द्वीप समूह के कुछ भाग, जापान, चीन, फारस, एशिया माइनर, दक्षिणी रूस, तुर्की, आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, स्पेन, हालैंड, मिश्र, रोडेशिया और अफ्रीका के अन्य भागों में उगाया जाता है। भारत में तम्बाकू केवल कुछ ही भागों को छोड़कर प्रत्येक स्थान पर उत्पन्न किया जाता है। तम्बाकू की लगभग ५० जातियाँ हैं जिनमें दो निकोशियाना टेबैकम और नि० रस्टिका (Nioatiana tobacum & N. rustica)

अधिक मुख्य हैं और इन्हें अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता है। भारतवर्ष में तम्बाकू की ये ही दो जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। रस्टिका के लिए ठंडी जलवायु की आवश्यकता होती है, अतः इसे ठंडे स्थानों पर उत्तरी तथा पूर्वोत्तर भारत में उगाते हैं जबकि टेबैकम जाति पूरे देश में उगायी जाती है। पूरे भारतवर्ष में इसका वितरण इस प्रकार है—

भारतवर्ष में तम्बाकू का तृतीय अनुमान १९५६-६७

(राज्यों और जातियों के अनुसार)

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९३७-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्र प्रदेश				
निकोशियाना रस्टिका	२	२	१	१
नि० टेबैकम १. वर्जिनिया	१९५	२०२	५६	६०
२. अन्य	१९३	१९१	७०	६७
योग	३९०	३९५	१३०	१२८
डण्ठल और तने	—	—	१२२	११०
आसाम नि० टेबैकम	२३	२३	७	७
बिहार नि० रस्टिका	२०	१५	५	३
नि० टेबैकम	१९	१४	४	३
योग	३९	२९	९	६
बम्बई नि० रस्टिका	१	१	ख	ख
नि० टेबैकम	२४५	२४५	६४	६०
योग	२४६	२४६	६४	६०
केरल नि० टेबैकम	१	१	१	१
मध्य प्र० नि० टेबैकम	१६	१६	४	४
मद्रास नि० रस्टिका	३५	५१	२१	२९
नि० टेबै० १. वर्जि०	६	६	२	२
२. अन्य	२८	१०	१५	५
योग	६९	६७	३८	३६

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
डण्ठल और तने	—	—	३	३
उड़ीसा नि० टेब्रैकम	११	११	३	२
पंजाब नि० रस्टिका	१	२	१	ख
नि० टेब्रैकम १.वर्जि०	१	२	ख	ख
१. अन्य	५	३	१	१
योग	७	७	२	१
डण्ठल और तने	—	—	२	१
उत्तर प्र० नि० रस्टिका	१८	१८	५	५
नि० टेब्रैकम	८	६	३	२
योग	२६	२४	८	७
प० बं० नि० रस्टिका	२३	२४	६	७
नि० टेबै० १. वर्जि०	क	क	ख	ख
२. अन्य	१६	१६	४	५
योग	३९	४०	१०	१२
मैसूर नि० रस्टिका	२	क	१	ख
नि० टेब्रैकम १.वर्जि०	१	१	१	ख
२. अन्य	१०७	१०७	१६	१७
योग	१०	१०८	१८	१७
राजस्थान नि० टेबैकम	११७	१७	५	४
दिल्ली ,,	६	६	१	१
हिमाचल प्र० ,,	२	२	ख	ख
त्रिपुरा नि० रस्टिका	१	१	ख	ख
नि० टेब्रैकम	१	१	ख	ख
योग	२	२	ख	ख
कुल योग नि० रस्टिका	१०३	११४	४०	४५
नि० टेबैकम	६०४	८८३	२६०	२४२
योग	१००७	९९७	३००	२८७
डंठल और तने	—	—	११७	११४

नोट— क = ५०० एकड़ से कम   ख = ५०० टन से कम

टेबैकम जाति का तम्बाकू, सिगरेट, सिगार, चुरुट, बीड़ी, हुक्का, और सुंघनी (Snuff) के प्रयोजन में आता है किन्तु रस्टिका केवल हुक्का, और सूंघने के लिए प्रयोग होता है। भारतवर्ष में तम्बाकू उपर्युक्त सभी अर्थों के लिए उत्पन्न किया जाता है किन्तु इनके क्षेत्र पृथक-पृथक हैं। सिगरेट के लिए इसे मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है। चुरुट और चबाने के लिए दक्षिणी मद्रास, हुक्का और चबाने के लिए उत्तरी बिहार और पश्चिमी बंगाल, बीड़ी के लिए बम्बई, पंजाब और उत्तरप्रदेश हुक्का और सुंघनी के लिए प्रसिद्ध हैं।

भारतवर्ष के विभाजन के पूर्व तम्बाकू का पूर्ण क्षेत्रफल लगभग १०,००,००० एकड़ था किन्तु विभाजन के पश्चात् लगभग २,००,००० एकड़ क्षेत्र पाकिस्तान में पड़ गया जिसका अधिक भाग पूर्वी बंगाल में था। इस समय यह क्षेत्रफल अकेले भारतवर्ष में ही १०,००,००० एकड़ पहुँच गया है। भारत में तम्बाकू का कुल उत्पादन लगभग ७० करोड़ पौंड वार्षिक है जिसका मूल्य लगभग ५३½ करोड़ रुपये हैं। इस मूल्य में से उत्पादन निकालने के पश्चात् २४ करोड़ रु० लाभ के बचते हैं। इस लाभ में उत्पादकों द्वारा अपने प्रयोग के लिए रखा गया तम्बाकू भी सम्मिलित है जिसका मूल्य अनुमानतः १ करोड़ के लगभग है। इसे सम्मिलित कर लेने पर उत्पादकों का कुल लाभ २५ करोड़ रु० तक पहुँच जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तम्बाकू की फसल से उत्पादकों को बहुत लाभ है। यह लाभ केवल उत्पादकों तक ही सीमित नहीं है अपितु सरकार को भी इससे अधिक धन एक्साइज ड्यूटी (Excise Duty) के रूप में प्राप्त हो जाता है। इन बातों से तम्बाकू की खेती का प्रयोग राष्ट्रीय-आय में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भूमि—तम्बाकू के लिए हल्की दोमट भूमि, अलूवियल भूमि, बलुवार-दोमट और लाल, हल्की और राख रंग की दोमट भूमियाँ अच्छी पड़ती हैं किन्तु इसका बढ़ाव उसी भूमि में उत्तम पाया जाता है जहाँ कि भूमि की सजावट जड़ों की वृद्धि के लिए अधिक खुली हुई हो, जैसा अधिकतर हल्की भूमियों में ही पाया जाता है। जल-निकास वाली भूमि तम्बाकू के लिए आवश्यक समझी जाती है क्योंकि तम्बाकू की जड़ें अति वृष्टि अथवा अधिक सिंचाई के प्रतिकूल प्रभाव को सहन करने की क्षमता नहीं रखतीं। अतः उन स्थानों पर जहाँ साधारणतः अति वृष्टि हुआ करती हो अथवा जहाँ अधिक सिंचाई के अवसर हों वहाँ भूमि की अधः तल का सरंध्र (Porous) होना आवश्यक है। ऐसी भूमि में अधिक पानी स्वतः नीचे की ओर रिस जाता है किन्तु

सर्वत्र ऐसी भूमि नहीं पाई जाती। जहाँ ऐसी भूमियों का अभाव होता है, वहाँ प्रकृति पर निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि कृत्रिम ढंग पर जल-निकास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। तम्बाकू की जड़ें अधिक गहराई तक जाती हैं, अतः गहरी भूमि ही विशेष अच्छी समझी जाती है जिसका मृदा-विन्यास अच्छा हो, जिसमें कंकड़-पत्थर आदि अनुपस्थित हो और जिसमें कृषि-कार्य सरलता पूर्वक हो सकता हो। यद्यपि तम्बाकू के लिए हल्की भूमि उत्तम समझी जाती है तथापि इसे दक्षिणी बम्बई और मद्रास के गुन्टूर जिले की कपास की काली मिट्टी और अन्य भारी भूमियों में भी सफलतापूर्वक उगाया जाता है। विदेशों में जब इसे भारी भूमियों में उगाया जाता है तो पत्तियों की खाद या अन्य ऐसी वस्तुएँ मिला दी जाती हैं जिनसे भूमि का भारीपन कम हो जाता है। उर्वर और भारी भूमि में उत्पन्न तम्बाकू की पत्तियाँ बड़ी, मोटी और भद्दी किस्म की होती हैं और रचाने पर उनका रंग अधिक भूरा या लाल भूरा होता है जब कि हल्की भूमि में उत्पन्न पत्तियों का रंग चमकीलापन लिये पीला होता है। भारी भूमियों की पत्तियों से बनी सिगरेट का धुवाँ भी अच्छा नहीं समझा जाता, जिससे इनका बाजार-मूल्य भी घट जाता है। भारी भूमियाँ जिनमें जैविक पदार्थ (organic matter) और नत्रजन दोनों का प्रतिशत अधिक होता है, उपज बहुत अधिक देती हैं क्योंकि इनमें वानस्पतिक बढ़ाव बहुत अधिक होता है किन्तु इनका गुण अच्छा नहीं होता। तम्बाकू को बलुवार भूमि में भी उगाया जाता है और ऐसा देखा गया है कि इन भूमियों में उगायी गई फसल चूसने के अर्थ से अधिक अच्छी समझी जाती है। पश्चिमी घाट पर दक्षिणी कनारा और मलाबार में ऐसी ही भूमि में इसे सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जाता है। थोड़ी-बहुत अम्लीय भूमि में तम्बाकू की फसल अच्छी उपज देती है किन्तु क्षारीय भूमि का पौधों के बढ़ाव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके लिए मैसूर की लाल भूमि अधिक श्रेष्ठ समझी जाती है जहाँ बहुत अच्छी उपज प्राप्त होती है। तम्बाकू के लिए फास्फोरस और पोटाश अधिक आवश्यक तत्व हैं। नाइट्रोजन या ह्यूमस बहुत थोड़ी मात्रा में ही पर्याप्त समझे जाते हैं। लोहा की उपस्थिति का भी फसल के बढ़ाव पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

तम्बाकू की खेती भूमियों की उपयुक्तता के अनुसार ही करना चाहिए। जिस स्थान की भूमि जिस योग्य हो, वहाँ तम्बाकू की वही जाति बोनी चाहिए जो अच्छे गुण वाली तम्बाकू की अधिक मात्रा में उपज दे सके। हल्की दोमट या बलुवार भूमि जिसमें उर्वरा शक्ति अधिक नहीं होती सिगरेट के लिए उपयुक्त होती है; क्योंकि

इस भूमि में उत्पन्न तम्बाकू की पत्तियाँ पतली और चमकीले पीले रंग की होती हैं जिससे उनका बाजार में अच्छा मूल्य मिलता है। सिगार रैपर (Wrapper) और पाइप तम्बाकू के लिए भी यह भूमि अच्छी पड़ती है। भारी और अधिक उर्वर भूमि सिगार, पाइप और चूसने वाली तम्बाकू के लिए उपयुक्त होती है क्योंकि इनके लिए बड़ी और भारी किस्म की पत्तियों की आवश्यकता होती है। भूमि की उपयुक्तता की भाँति किसी विशेष जाति के तम्बाकू के उत्पादन के लिए पानी के स्रोत का प्रभाव पड़ता है।

जलवायु—जैसा कि हमने ऊपर प्रकाश डाला है तम्बाकू की रस्टिका जाति शीत जलवायु में उत्पन्न होती है, अतः इसे वहीं उगाते हैं जहाँ ऐसी जलवायु उपलब्ध होती है। तम्बाकू को शीत कटिबन्ध से सम शीतोष्ण कटिबंधीय जलवायु तक में तैयार किया जाता है। पौधों के बढ़ाव के काल में निम्नतम तापक्रम ६०° फा० और उच्चतम १००°—१०५° फा० वांछनीय होता है। रचाई के समय मौसम सूखा होना चाहिए। इस समय तापक्रम का ऊँचा होना भी जरूरी होता है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि ऊँचे तापक्रम में पत्तियों की रचाई अच्छी होती है उनमें निकोटिन का अंश अधिक होता है और अच्छा रंग आ पाता है। इसे जब वर्षा के आधार पर बोया जाता है तो साधारण वर्षा लगभग २०″ पर्याप्त होती है। वर्षा की मात्रा पौधों के बढ़ाव के समय ही मिलनी चाहिए अतः इसका विभाजन उपयुक्त होना जरूरी है। इसे ४०″ से अधिक वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर नहीं उत्पन्न किया जा सकता क्योंकि इसमें अधिक पानी सहन करने की शक्ति नहीं रहती है। यही कारण है कि इसे अधिक वर्षा होने वाले स्थानों पर मानसून में नहीं उगाते। पौधों के बढ़ाव काल में वातावरण में अधिक आर्द्रता का होना हानिकर होता है क्योंकि इससे बढ़ाव रुक जाता है। इस काल में ८० प्रतिशत से अधिक आर्द्रता नहीं होनी चाहिए। तम्बाकू की खेती जब सिंचाई के आधार पर की जाती है तो वार्षिक वृष्टि पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता क्योंकि फसल की जल की आवश्यकता सिंचाइयों द्वारा पूरी कर दी जाती है। तम्बाकू की खेती समुद्र के धरातल से लेकर लगभग ३,००० फीट की ऊँचाई तक की जाती है। मालाबार में, जो समुद्र की धरातल पर स्थित है, इसे सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार मैसूर का पठार जो लगभग ३,००० फी० की ऊँचाई पर अवस्थित है, तम्बाकू की अच्छी उपज देता है। भारत के बाहर अफगानिस्तान तथा सीमावर्ती देशों में इसे लगभग ६,००० फी० की ऊँचाई पर उगाया जाता है।

वानस्पतिक विवरण—तम्बाकू का पौधा सोलेनेसी कुल' (Solonaceae) से सम्बन्ध रखता है। इसका जीनस निकोशियाना (Nicotiana) है जिसमें तीन स्पेसीज सम्मिलित होती हैं। प्रथम है—निकोशियाना टेबैकम (N.tabacum) जो विश्व में अन्य स्पेसीज की अपेक्षा अधिक क्षेत्रफल में उत्पन्न किया जाता है। दूसरी है—निकोशियाना रस्टिका (N. rustica) है जिसे यूरोप और भारत के उत्तरी भागों में बोया जाता है। इससे सिगार और हुक्का का तम्बाकू तैयार किया जाता है। तीसरी स्पेसीज निकोशियाना पर्सिका (N. persica) है जो फारस में अधिक प्रचलित है। इन स्पेसीज के अतिरिक्त तम्बाकू की और भी किस्में हैं किन्तु उनका महत्व बहुत कम है। तम्बाकू का पौधा हरा और वार्षिक होता है किन्तु निकोशियाना रस्टिका का पौधा कभी-कभी बहुवार्षिक भी बतलाया जाता है। तम्बाकू की उगायी जाने वाली जाति का पौधा सीधा होता है और ३′ से ५′ की ऊंचाई तक पाया जाता है। कभी-कभी पौधे की ऊँचाई ६ से ८ फीट तक भी पाई जाती है किन्तु ऐसा बहुत कम ही देखा जाता है। तना बेलनाकार होता है और भीतर की ओर से पिथ से भरा होता है जो सूखने पर खोखला हो जाता है। तना शाखादार और पोरदार होता है। पोरों की लम्बाई सभी किस्मों में समान नहीं होती बल्कि २ सें० मी० से लेकर ५ सें० मी० और कभी-कभी इससे भी अधिक होती है। कभी-कभी तनों के आधार से शाखाएँ निकलती हैं जिन्हें पुत्तियाँ (Suckers) कहते हैं। ये पुत्तियाँ पौधों से निकाल दी जाती हैं क्योंकि ये पत्तियों के गुणों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। जड़ें मूसला होती हैं जो भूमि में शाखाओं और प्रशाखाओं सहित २′ से २½′ की गहराई तक चली जाती हैं। शाखाएँ मुख्य जड़ से पृथ्वी के समानान्तर निकलती हैं और अधिक दूरी तक फैल जाती हैं। इसीलिए इन्हें स्थानान्तरण के समय पर्याप्त दूरी पर रोपते है ताकि जड़ों में जीवन के लिए संघर्ष न होने लगे।

पत्तियाँ रूप-रंग और आकार में भिन्न होती हैं किन्तु सभी साधारण और चिकने किनारे वाली होती हैं। ये लम्बी, सँकरी होती हैं तथा डंठल की ओर पतली होती जाती हैं। इनमें डंठल की उपस्थिति आवश्यक नहीं है। निकोशियाना टेबैकम में डन्ठल कभी पाये जाते हैं और कभी नहीं पाये जाते किन्तु रस्टिका में ये अवश्य उपस्थित रहते हैं। इनका रूप तलवार के आकार का (lanceolate) या आवेट (ovate) होता है। पत्तियों का आकार पौधों के निचले भागों में बड़ा होता है परन्तु ज्यों-ज्यों सिरे की ओर जाते हैं इनका आकार छोटा होता जाता है। पत्तियों

की मात्रा सभी पौधों में समान नहीं रहती। जब ये अधिक संख्या में होती हैं तो पौधा झाड़ीनुमा दिखलाई पड़ता है। इनका रंग हरा और घना हरा होता है, मुख्य नस (mid rib) अधिक विकसित होती है। बनावट के आधार पर भी टेबैकम और रस्टिका किस्मों की पत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। प्रथम किस्म की पत्तियाँ अधिक बारीक होती हैं जबकि दूसरे किस्म की पत्तियाँ मोटी और भद्दी होती हैं। पत्तियाँ तने से कोण भी पृथक-पृथक बनाती हैं। प्रायः आधार के निकट पत्तियाँ पृथवी के समानान्तर होती हैं जबकि ऊपर की पत्तियाँ कुछ खड़ी पाई जाती हैं। तने पर ये एक के बाद दूसरे के क्रम से निकलती हैं।

फूल के गुच्छे शिरस्थ पैनिकिल (Terminal panicle) होते हैं जो मुख्य तने के सिरे पर से निकलते हैं अथवा शाखाओं के निकलने पर सिरे की पत्ती के कोण से फूल अकेले न होकर गुच्छे में होते हैं। इनका रंग हलका लाल, गुलाबी, पीला या सफेद होता है। फूलों के रंग के आधार पर टेबैकम और रस्टिका की जातियों को कई प्रकार से पृथक किया जा सकता है क्योंकि टेबैकम जाति के फूल साधारणतः गुलाबी और रस्टिका के सफेद या पीले होते हैं। पर्सिका के फूल सफेद रंग के होते हैं। फूलों की लम्बाई २″ पाई जाती है किन्तु टेबैकम जाति के फूल सदैव एक लम्बाई के नहीं रहते। तम्बाकू की कुछ ऐसी जातियाँ भी पाई जाती हैं जिनके फूल कई रंग के और सुगन्ध वाले होते हैं। फूल में नरभाग ५ की संख्या में होते हैं जो पंखुड़ियों से आधार पर जुड़े होते हैं। फूल बाइसेक्सुवल (bisexual) होते हैं। ओवरी (ovary) दो कोष (two celled) वाली होती है। तम्बाकू के पौधों में स्वयं सेचन ही प्रायः पाया जाता है किन्तु कभी-कभी पर सेचन भी होता है। परसेचन उसी दशा में होता है जब कि पौधे अधिक निकट लगे रहते हैं। फल कैपसुल (capsule) होते हैं और जब पक जाते हैं तो दो भागों में फटकर बीज बाहर कर देते हैं। बीज अधिक बारीक होते हैं और एक फल में इनकी सख्या बहुत अधिक होती है।

विभाजन—निकोशियाना जीनस की लगभग ५० स्पेसीज पाई जाती हैं किन्तु इनमें केवल दो निकोशियाना टेबैकम और रस्टिका ही अधिक प्रचलित हैं। भारतवर्ष में ये ही दो किस्में उत्पन्न की जाती हैं जिनका वितरण इस प्रकार है—

(१) निकोशियाना टेबैकम—इसके पौधे लम्बे और बड़ी पत्तियों वाले होते हैं। पत्तियों में डन्ठल पाया जा सकता है और नहीं भी पाया जा सकता है। इनके

फूल गुलाबी रंग के होते हैं। इन्हें पूरे भारतवर्ष में उगाया जाता है। इसे सिगरेट, चुरुट, बीड़ी, हुक्का, चूसने और सूँघने में प्रयोग किया जाता है।

(२) **नि० रस्टिका**—इस किस्म की पत्तियाँ डन्ठलदार होती हैं। पत्तियों का आकार ओवेट (ovate) होता है। फूल पीले या सफेद रंग के होते हैं। यह किस्म भारत के उत्तरी तथा पूर्वी भागों की ठंडी जलवायु में उत्पन्न की जाती है। यह किस्म केवल हुक्का, चूसने और सूँघने में काम आती है।

हावर्ड ने भारत में उगायी जानेवाली इन दोनों किस्मों का आगे विभाजन किया और नि० टेबैकम की ३१ तथा नि० रस्टिका की २० किस्में निकालीं। बाद में शा और काशी राम ने और किस्में खोज निकालीं और हावर्ड की किस्मों की संख्या में १८ और जोड़ दीं।

उन्नत जातियाँ—तम्बाकू की अनेक उन्नत जातियाँ तैयार की गई हैं जो उपयोग के अनुसार उपयुक्त होती हैं। सिगरेट के लिए जो उन्नत जातियाँ निकाली गई हैं वे इसी अर्थ के लिए प्रयोग की जा सकती हैं, बीड़ी और हुक्का आदि के लिए। इसी प्रकार बीड़ी अथवा हुक्का की उन्नत जाति इन्हीं अर्थों के लिए अच्छी पड़ सकती है।

सिगरेट की जातियाँ—सिगरेट के लिए **हरिशन स्पेशल** (Harrison स्पेशल) नामक उन्नत जाति आजकल अधिक प्रचलित है और भारत में सिगरेट के कुल क्षेत्रफल में लगभग यही जाति उत्पन्न की जाती है; इसका बीज सर्वप्रथम अमेरिका से लाया गया। भारत में इसे इडियन लीफ टुबैको डेवेलपमेंट कम्पनी लिमिटेड चिरल (Chirala) और आंध्र के कृषि विभाग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस जाति की और कई किस्में (Strains) निकाली गई हैं जिन्हें केन्द्रीय तम्बाकू अनुसन्धान विद्यालय राजामुन्द्री में शोधित किया गया है और वे शुद्ध अवस्था में वहाँ से प्राप्त की जा सकती हैं।

चैथम—सिगरेट की एक नई उन्नत जाति है जो अभी हाल में परीक्षणों द्वारा तैयार की गई है। यह जाति हरीशन स्पेशल से गुण और उपज में अच्छी पड़ती है। चैथम की एक किस्म चैथम जी २।३३ अधिक अच्छी हुई है। इन जातियों के अतिरिक्त सिगरेट की **बाटा स्पेशल** और **येलो स्पेशल** अन्य उन्नत जातियाँ हैं।

बीड़ी की जातियाँ—बीड़ी तम्बाकू के दो क्षेत्र चरोतर और निपानी है जहाँ अच्छी तम्बाकू और अधिक उपज के लिए उन्नत जातियाँ तैयार की गई हैं। इन

जातियों में केल्यू (Keliu) अधिक प्रसिद्ध है किन्तु इसकी प्रसिद्धि चरोतर तक ही सीमित है। इस उन्नत जाति की अनेक किस्में निकाली गई हैं जिनमें K. ४९ अधिक मुख्य है। के केल्यू के लिए प्रयोग होता है। यह जाति अच्छे किस्म की

चित्र ४५
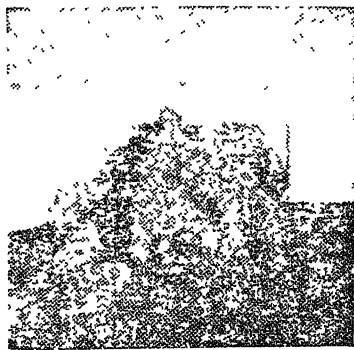
बीड़ी तम्बाकू एस० २० का एक पौधा

चित्र ४६

बीड़ी तम्बाकू के० ४९ का एक पौधा

तम्बाकू उत्पन्न करने के साथ-साथ उपज भी अधिक देती है। इस किस्म में एक विशेषता यह होती है कि इसके पौधे एक ही साथ तैयार होने हैं जिससे पत्तियों की कटाई और उनकी दँवाई में सुविधा होती है। बीड़ी की एक दूसरी उन्नत जाति सुरती है जो निपानी में अधिक प्रचलित है। केल्यू की भाँति इसकी भी कई किस्में निकाली गई हैं जिनमें S. २० (S. = सूरती) अधिक मुख्य है। इस जाति को उत्पन्न करने की सिफारिश की गई है क्योंकि यह अन्य जातियों की अपेक्षा १० से १२% अधिक उपज देती है और अच्छे किस्म की तम्बाकू भी उत्पन्न करती है। इनके अतिरिक्त S. ५७ और S. १२ अन्य उन्नत जातियाँ हैं।

चेरूट तम्बाकू की जातियाँ—इस तम्बाकू की दो अधिक प्रसिद्ध जातियाँ हैं—बुसिकाप्पल और वत्तिकाप्पल। इन जातियों की पत्तियाँ मोटी और काले रंग की होती हैं। इन्हें बाँधने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इनकी गन्ध अधिक आनन्ददायक होती है।

चूसने वाली तम्बाकू की जातियाँ—इस अर्थ के लिए टेबैकम और

रस्टिका दोनों स्पेसीज के तम्बाकू प्रयोग किये जाते हैं। टेबैकम स्पेसीज में कोयम्बटूर में नीमाम पलायम, बिहार में बोरी, पश्चिमी बंगाल में जती, मदुरा में मोन्नाई और चरोतर में पिल्यू जातियाँ प्रसिद्धि प्राप्त कर रही हैं। एन० पी० ७० एक बोरी की उन्नत किस्म है। चरोतर में पिल्यू की किस्मों पर भी प्रयोग जारी हैं। मदुराई में
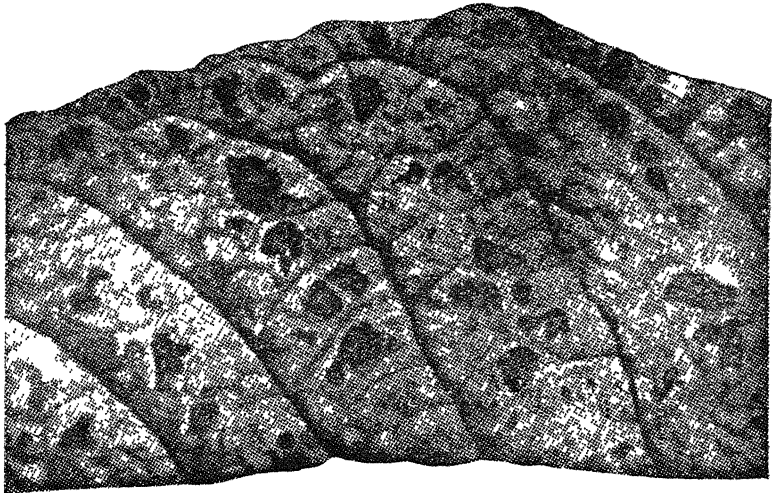
चित्र ४७—बीड़ी तम्बाकू की पत्ती

वेदासन्दूर चेरूट और चूसने के तम्बाकू अनुसन्धान केन्द्र में इस तम्बाकू पर परीक्षण हो रहे हैं। रस्टिका को उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में चूसने के लिए उत्पन्न किया जाता है। इस स्पेसीज की उन्नत जातियाँ उत्तर प्रदेश में कलकतिया, बिहार में बिलायती और पश्चिमी बंगाल में मोतिहारी हैं। बिहार में इस स्पेसीज की एक अन्य उन्नत किस्म एन० पी० १८ अधिक प्रचलित है।

हुक्का तम्बाकू की जातियाँ—चूसने वाली तम्बाकू की भाँति हुक्का के लिए भी टेबैकम और रस्टिका दोनों को उत्पन्न किया जाता है। टेबैकम की उन्नत जाति 'नोकी' अधिक प्रसिद्ध है जिसकी पत्तियाँ नुकीली होती हैं। इस तम्बाकू का उप-केन्द्र फीरोजपूर में है। इस तम्बाकू की कई किस्में तैयार की गई हैं जो स्थानीय जातियों से उत्तम पड़ती हैं। रस्टिका की **कलकतिया** और **गोभी** उन्नत जातियाँ हैं जिनमें

कलकतिया के पौधे गोभी से बड़े होते हैं और इसकी उपज भी अपेक्षाकृत अधिक मिलती है।

खेत की तैयारी—तम्बाकू एक रोपुआ फसल है जिसे सर्वप्रथम बीयड़ में बोया जाता है और जब पौधे एक निश्चित ऊँचाई के हो जाते हैं तो उन्हें तम्बाकू के खेत में स्थानान्तरित कर दिया जाता है, इस प्रकार तम्बाकू की खेती के लिए बीयड़ और खेत दोनों की तैयारी की आवश्यकता होती है।

बीयड़ की तैयारी—बीयड़ की भूमि वहां चुननी चाहिए जो कुछ ऊँची हो और जहाँ जल-निकास की पूरी सुविधा हो। जिन स्थानों पर जल-निकास की व्यवस्था न हो वहाँ प्रथम तो बीयड़ बनाना ही न चाहिए अथवा बनाने पर उन्हें धरातल से ४-६" ऊपर कर देना चाहिए। ऐसा करना उस समय और भी आवश्यक हो जाता है जबकि भूमि भारी होती है। बीयड़ की भूमि से घास-पात निकाल कर उसे बोआई से बहुत पूर्व ही जोत देना चाहिए। ऐसा करने से घास-पातों के भूमि में गिरे बीज जम जाते हैं। जमने के बाद फिर उन्हें उखाड़कर भूमि से पृथक किया जा सकता है, जिससे उन्हें तम्बाकू के बीजों के साथ जमने का अवसर न मिल सके। बीयड़ जोतकर उसकी मिट्टी भुरभुरी कर देनी चाहिए। मिट्टी को उर्वर बनाने के लिए पर्याप्त खाद देनी चाहिए। इसमें जैविक खादों और उर्वरकों दोनों का प्रयोग किया जा सकता है। जैविक खादों में पूर्ण रूप से सड़ी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट १५ से २० गाड़ी प्रति एकड़ के हिसाब से देना चाहिए। इनके अतिरिक्त भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए उर्वरकों का भी प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु चूँकि इनकी खड़ी फसल में देने की प्रथा है, अतः ये बीयड़ की तैयारी के साथ नहीं दी जातीं बल्कि बीजों के अंकुरण के पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर दी जाती हैं। जैविक खादों को भूमि में छोड़ने के पश्चात् अच्छी तरह मिलाते हैं ताकि भूमि की उर्वरा शक्ति पर सामान्य रूप से प्रभाव पड़े। जब बीयड़ की भूमि अच्छी तरह तैयार हो जाती है तो उसे छोटी-छोटी क्यारियों में बाँट लेते हैं क्योंकि इससे बीयड़ की सिंचाई, निराई-गुड़ाई आदि कार्यों में सुविधा होती है। साधारणतः क्यारियों की चौड़ाई ४' रखी जाती है क्योंकि इतनी चौड़ाई होने से मजदूर सरलतापूर्वक एक किनारे से क्यारी के मध्य तक पहुँच सकते हैं। क्यारियों की लम्बाई कोई निश्चित नहीं है। प्रत्येक दो क्यारियों के मध्य १½' का चौड़ा रास्ता छोड़ा जाता है, इससे क्यारियों का अधिक पानी निकालने तथा क्यारियों में आने-जाने की सुविधा होती

है और क्यारियों के पौधे पैरों से कुचलने से बच जाते हैं। ये नालियाँ ४-६" अधिक गहरी नहीं होनी चाहिए। इनको बनाने में ढाल का ध्यान रखना चाहिए ताकि पानी सरलतापूर्वक बाहर निकल जाय। साधारणतः बीयड़ को १०' की चौड़ाई में बाँट लेते हैं और प्रत्येक ऐसे विभाजन को पुनः ४' चौड़े ऐसे दो उपविभाजन करते हैं कि उनके मध्य १½-२' चौड़ा स्थान छूट जाय जो जल-निकास की नालियाँ और आने-जाने के रास्ते का कार्य कर सकें। क्यारियों के निर्माण में एक बात और ध्यान देने की यह है कि इन्हें केन्द्र से किनारों की ओर थोड़ा ढालवाँ बनाना चाहिए जिससे वर्षा का अनावश्यक जल सरलतापूर्वक बह कर नालियों में आ जाय और इस प्रकार वह पौधों को हानि न पहुँचा सके।

बोने के पूर्व बीज को भली-भाँति साफ कर लिया जाता है ताकि घास-पात या अन्य फसलों के बीज पृथक हो जायँ। तम्बाकू का बीज चूँकि बहुत छोटे आकार का होता है इसलिए उसके समान वितरण के लिए राख मिट्टी, कम्पोस्ट या गोबर की खाद बराबर मात्रा में मिलाते हैं। किन्तु बीज को इनमें मिलाने के पूर्व किसी इन्सेक्टीसाइड (Insecticide) से उपचारित कर लेना आवश्यक होता है। ऐसा करने से बीज के साथ लपटे कीड़े मकोड़े या उनके अण्डे विनष्ट हो जाते हैं। इन्सेक्टीसाइड में एल्ड्रिन या डाइएल्ड्रिन (Aldrin or dieldrin) के प्रयोग करने की सिफारिश की गई है। इनके स्थान पर बी० एच० सी० भी प्रयोग किया जा सकता है। इन औषधियों का उपचार बोआई के दो-तीन दिन पूर्व ही कर लेना चाहिए। बीज की बोआई के लिए उन्हें फिलर (Filler) पदार्थों के साथ भली-भाँति मिला लेना चाहिए और मिलाने के पश्चात् उन्हें क्यारियों की संख्या के आधार पर हिसाब लगाकर अलग कर लेना चाहिए। यदि प्रत्येक क्यारी के लिए बीज अलग से लगाये जाते हैं तो दियासलाई का एक डिब्बा बीज ५० वर्ग गज क्षेत्रफल की क्यारी के लिए पर्याप्त समझा जाता है। बीज की बोआई छिटकवाँ ढंग से की जाती है। बोआई के पश्चात् बीज को मिट्टी में मिला देने के लिए रेक या ब्रश प्रयोग किये जाते हैं। उत्तरप्रदेश में बोआई के पश्चात् राख या बारीक मिट्टी छिड़क दी जाती है, अथवा बबूल की काँटेदार डाल से ब्रश कर दिया जाता है। ऐसा करने के बाद बीयड़ को एक हल्के बेलन से दबा दिया जाता है जिससे बीज के अगल-बगल की मिट्टी दब जाती है और मिट्टी समान धरातल की हो जाती है। मिट्टी के दबने से नमी अधिक दिनों तक बनी रहती है। कुछ स्थानों पर इस कार्य

के लिए लोग पैरों की सहायता लेते हैं, किन्तु इससे मिट्टी अधिक दब जाती है, और बीजों का अंकुरण देर में हो पाता है। बेलन देने के शीघ्र पश्चात् एक बर्तन की सहायता से बीयड़ की क्यारियों की एक हल्की सिंचाई कर दी जाती है। इस सिंचाई में हजारे अच्छा काम देते हैं। किन्तु ऐसा करना उसी समय लाभप्रद होता है जबकि बीयड में नमी का अभाव हो। अधिक नमी की उपस्थिति में इस सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। बीजों के उपयुक्त अंकुरण के लिए साफ पुवाल की एक हल्की परत बीयड़ की क्यारियों में बिछा देनी चाहिए और अंकुरण के शीघ्र पश्चात् इन्हें हटा लेना चाहिए।

तम्बाकू के बीज की मात्रा सदैव समान नहीं होती। यह तम्बाकू की जातियों के अनुसार कम-अधिक हुआ करती है, किन्तु साधारणतः $\frac{१}{२}$ औंस बीज एकड़ खेत की रोपाई के लिए पर्याप्त समझा जाता है। ऐसा देखा जाता है कि कृषकगण बहुत अधिक बीज का प्रयोग करते हैं जिसके परिणामस्वरूप पौधे अधिक घने हो जाते हैं और अंकुरण के पश्चात् वे कमजोर दिखलाई पड़ते हैं। अतः उन्हें यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि अधिक बीज का प्रयोग स्वस्थ पौधे प्राप्त करने के मार्ग में बाधक है। ५० वर्ग गज बीयड़ से लगभग ६,००० तैयार पौधे प्राप्त किये जा सकते हैं जो एक एकड़ खेत की रोपाई के लिए पर्याप्त होते हैं और बीयँड़ के इस क्षेत्रफल के लिए जैसा कि पहले ही कहा गया है केवल एक दियासलाई के डिब्बे बराबर शुद्ध बीज यथेष्ठ समझा जाता है। यदि एक एकड़ की रोपाई के लिए आवश्यक पौधों की संख्या ६,००० से अधिक हुई तो उस क्षेत्रफल से अधिक बीयड़ की आवश्यकता होगी अथवा उसी क्षेत्रफल में अधिक बीज लगेगा। ऐसी स्थिति में $\frac{३}{४}$ से १ औंस बीज प्रति एकड़ की आवश्यकता होती है।

बीजों का जमाव लगभग ४-६ दिनों में हो जाता है। इनका जमाव, बोआई के पूर्व बीजों को लगभग २४ से ४८ घंटे तक पानी में भिगो देने से, ३-४ दिनों में ही हो सकता है। अंकुरण के पूर्व क्यारियों की सिंचाई दिन में दो-बार लगातार ५-६ दिनों तक करनी चाहिए और जब बीज अंकुरित हो जायँ तो सिंचाई की मात्रा कम करके हफ्ते में दो-बार की जाती है, यह क्रम उस समय तक चलता है जबकि पौधे ४-५″ की ऊँचाई के न पहुँच जायँ। जब तक नवांकुर (Seedlings) बीयड़ में रहे तब तक उनकी सिंचाई का बराबर ध्यान रखना चाहिए किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उनकी अधिक सिंचाई न कर दी जाय क्योंकि ऐसा करने से उनके

बढ़ाव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः बीयड़ नम रखना चाहिए, गीला नहीं। बीयड़ में नवांकुरों को अधिक धूप और वृष्टि से बचाने के लिए अस्थायी छप्परों का प्रबन्ध कर देना चाहिए। ये छप्पर घास-पूस से बनाये जाते हैं और बाँस के खम्भों की सहायता से खड़े कर दिये जाते हैं। जब नवांकुरों में २-३ पत्तियाँ आ जाती हैं तो ये छप्पर दिन के समय हटा देने चाहिए जिससे 'डैम्पिंग आफ' (damping off) नामक रोग का आक्रमण न होने पाये। छप्पर का प्रबन्ध तभी सम्भव हो सकता है जबकि बीयड़ बहुत कम क्षेत्र में हो, अधिक क्षेत्र में या व्यापारिक ढंग पर बोये गये बीयड़ में सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि इससे व्यय अधिक पड़ सकता है।
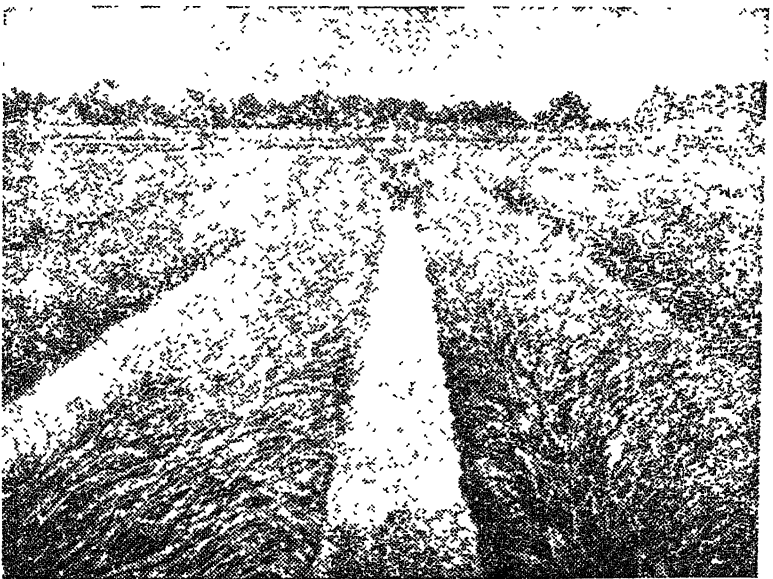
चित्र ४८—तम्बाकू का बीयड़

नवांकुरों के उपयुक्त बढ़ाव के लिए अमोनियम सल्फेट देने की सिफारिश की जाती है। यह द्रव रूप में अच्छा प्रभाव डालती है। सिगरेट के डेढ़ डिब्बे अमोनियम सल्फेट को ८ गैलन पानी में मिलाकर इसका मिश्रण तैयार कर लिया जाता है।

$\frac{१}{१००}$ एकड़ बीयड़ के लिए ऐसे मिश्रण की मिट्टी के तेल वाले दो टिन की मात्रा एक बार के लिए पर्याप्त होती है। उर्वरकों का इस प्रकार का छिड़काव उस समय से करना प्रारम्भ करते हैं जबकि नवांकुर ३-४ सप्ताह के हो जायँ। इस प्रकार का ४-५ छिड़काव नवांकुरों के उपयुक्त बढ़ाव के लिए पर्याप्त होता है। उर्वरकों के छिड़काव के शीघ्र पश्चात् पानी का एक छिड़काव कर देना चाहिए जिससे उर्वरकों का प्रभाव नवांकुरों के पत्तियों या तनों पर न पड़ सके।

यदि बीयड़ में उगे नवांकुर अधिक घने हों तो वे पौधे जो अनावश्यक ज्ञात हों, खेत से उखाड़ कर पृथक कर देना चाहिए। पौधों में जो घास-पात हो बाहर कर देना चाहिए।

स्थानान्तरण—जिस खेत में तम्बाकू के नवांकुरों का स्थानान्तरण करना हो उसे नवांकुरों के तैयार होने के पूर्व ही जोतकर तैयार कर लिया जाता है। खेत की तैयारी जब देशी हल से की जाती है तो ५-७ जुताइयाँ करनी पड़ती है और उनके पश्चात् पाटा देकर खेत बराबर कर लिया जाता है। पाटा देने का कार्य तीसरी जुताई के बाद से ही प्रारम्भ किया जाता है ताकि खेत की मिट्टी अच्छी तरह भुरभुरी हो जाय। उन्नत हलों के प्रयोग करने पर ३-४ बार की जुताई ही पर्याप्त समझी जाती है। दूसरी जुताई के पश्चात् प्रत्येक जुताई के बाद एक बार हैरो की जुताई करने से खेत की तैयारी अच्छी हो पाती है। हैरो में स्प्रिङ्गटूथ हैरो या डिस्क हैरो प्रयोग किये जाते हैं। अन्त में बेलन या पाटा देकर खेत की भूमि समतल बना ली जाती है। नवांकुरों में जब ४-६ पत्तियाँ आ जाती हैं और वे लगभग ६-८″ ऊँचे हो जाते हैं तो उनको स्थानान्तरण के योग्य समझा जाता है। साधारणतः यह अवस्था ७-८ सप्ताह की आयु के होने पर आती है।

जब स्थानान्तरण करना हो, उसके कुछ घन्टे पूर्व बीयड़ की क्यारियों की सिंचाई कर देनी चाहिए ताकि नवांकुर सरलतापूर्वक निकाले जा सकें। निकालने में अधिक सावधानी रखनी चाहिए जिससे कि जड़ें टूटने न पावें क्योंकि जड़ें यदि किसी स्थान पर भी टूट जायँ तो वे स्थानान्तरण के योग्य नही रहती। ऐसे नवांकुर अच्छे नवांकुरों से पृथक कर देने चाहिए। नवांकुरों को निकालने में खुरपी की मदद लेनी चाहिए और उन्हें इस प्रकार निकालना चाहिए कि उनकी जड़ों में मिट्टी की थोड़ी मात्रा चिपकी रह जाय। नवांकुरों को निकालते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे ही पौधे निकाले जायें जो स्थानान्तरण के योग्य हों। छोटे, कमजोर

या रोगी पौधे नहीं निकालने चाहिए। निकालने के पश्चात् नवांकुर छिछली टोकरी या गीले बोरे में रख दिये जाते हैं और उन्हें बराबर पानी से गीला रखा जाता है ताकि वे मुरझाने न पाये। निकाले हुए पौधों को जितना शीघ्र हो सके स्थानान्तर कर देना चाहिए किन्तु यदि किसी विशेष कारण से कुछ घन्टे तक रुक जाना पड़े तो नवांकुरों की स्वस्थता का सदैव ध्यान रखना चाहिए। उन्हें दिन में नम बोरों से ढँक देना चाहिए और रात में खुला छोड़ देना चाहिए। मुरझाये नवांकुरों का स्थानान्तरण करना उचित नहीं होता क्योंकि वे खेत में सूख जाते हैं।

स्थानान्तरण के पूर्व तैयार किये गये खेत में निश्चित दूरी पर निशान लगा दिये जाते हैं। ये निशान पंक्तियों में होते हैं जो विभिन्न तम्बाकुओं में भिन्न-भिन्न दूरी पर होती हैं। यह दूरी सिगरेट में ३३"×३३" बीड़ी में ३½'×३½' से २½×२½' चेरुट में २४" से ३०" चूसने के तम्बाकू में १½'×½' से लेकर २'×२' तक और तक हुक्का में ६"×१५" से ६"×१२" होती है। पौधे बनाये गये निशानों पर दिये जाते हैं। निशान लगाने के लिए रस्सियाँ प्रयोग की जाती हैं किन्तु रस्सियों के स्थान पर हाथ या बैलों द्वारा चालित चिह्नक (marker) भी काम में लाया जा सकता है। कुछ स्थानों पर पौधों का स्थानान्तरण मेंड़ों पर किया जाता है। ऐसी दशा में मेड़ें पंक्तियों में बना ली जाती हैं और उन पर पौधे की रोपाई के लिए डंडे से निशान बना लिये जाते हैं।

पौधों की रोपाई का कार्य दिन में ठंडे समय करना चाहिए जबकि अधिक धूप न हो। साधारणतः यह कार्य प्रातःकाल या दिन के तीसरे प्रहर में किया जाता है जिससे पौधे मुरझाने नहीं पाते। स्थानान्तरण के शीघ्र पश्चात् पौधों की एक हल्की सिंचाई करनी चाहिए। सिंचाई का कार्य स्थानान्तरण के ३ ४ दिनों तक दिन में दो-तीन बार किया जाता है जिससे पौधों के मरने के कम से अवसर हों। रोपाई के बाद यदि वर्षा हो जाय तो इन सिंचाइयों की आवश्यकता नहीं होती है। स्थानान्तरित नवांकुरों को कड़ी धूप से बचाने के लिए ज्वार आदि की हल्की पत्तियाँ खेत में छिड़क दी जाती हैं जैसा कि निपानी में किया जाता है। किन्तु यह क्रिया मानसून के दिनों में अधिक आवश्यक नहीं है क्योंकि उस समय अधिक कड़ी धूप नहीं होती है। इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यकतानुसार ४-५ दिनों तक के लिए की जाती है। इस अवधि तक पौधे स्थिर हो जाते हैं, किन्तु जो अभी भी न स्थिर हों उन्हें निकाल कर स्वस्थ पौधों को लगा देना चाहिए क्योंकि ऐसा न करने से खेत में खाली स्थान रह

जाते हैं जो ठीक नहीं है। कभी-कभी त्रुटिपूर्ण ढंग से स्थानान्तरण करने से भी खाली स्थान हो जाते हैं। रोपाई में लोग नवांकुरों के तने का कुछ भाग भी मिट्टी से ढंक देते हैं जिससे वे स्थिर नहीं हो पाते और बढ़ाव से वंचित रह जाते हैं। खाली स्थानों पर नये पौधे शीघ्र ही लगाने चाहिए अथवा उनके पकने में समानता नहीं होती।

सिंचाई—तम्बाकू की फसल में सिंचाई बीयड़ और खेत दोनों स्थानों पर की जाती है जिनका विवरण संक्षेप में हमने ऊपर दिया है। बीयड़ में नवांकुरों को जल की अधिक आवश्यकता होती है, अतः इन्हें शाम-सबेरे नित्य लगभग ५-६ दिनों तक पानी दिया जाता है। इस समय पानी इस प्रकार दिया जाता है कि भूमि में पर्त न बन जाय, इसीलिए हजारे द्वारा सिंचाई की जाती है और यह भी सिंचाई हल्की होती है, जोरों की सिंचाई पौधों के बढ़ाव के लिए हानिकर समझी जाती है। जब पौधे स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। उनकी पहली तोर सिंचाई रोपाई के शीघ्र पश्चात् की जाती है। तत्पश्चात् आवश्यकता समझकर हल्की सिंचाई उस समय तक करते रहते हैं जब तक कि पौधे जड़ न पकड़ लें। जब पौधे स्थिर हो जाते हैं तो आवश्यकतानुसार सिंचाइयाँ की जाती हैं। साधारणतः सिगरेट की तम्बाकू जब कपास की काली मिट्टी में उगाई जाती है तो उसे एक भी सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ नमी मानसून के कुछ दिनों पश्चात् ही समाप्त होना प्रारम्भ कर देती है, वहाँ हल्की सिंचाइयों की आवश्यकता होती है। सिंचाई के एक-दो वर्षीय परीक्षण में असिंचित फसल से औसत उपज ६८६ पौंड और सिंचित फसल से जबकि एक सिंचाई की गई ८६० पौंड और जब दो सिंचाइयाँ की गईं ६७७ पौं० उपज प्राप्त हुई। इस परीक्षण में पत्तियों का रंग भी समान था। इससे फल निकला कि सिंचाई करके अच्छी उपज ली जा सकती है।

बीड़ी के तम्बाकू का स्थानान्तरण अगस्त के तीसरे-चौथे सप्ताह में किया जाता है, जो मानसून का समय है, अतः उसे सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आवश्यकतानुसार सिंचाई कर देने से उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। चेरुट तम्बाकू के स्थानान्तरण के २-३ दिन तक पौधे प्रातःकाल को बराबर सींच दिये जाते हैं तो सिंचाई ३ दिन के अन्तर पर की जाती है और दो ऐसी सिंचाइयों के पश्चात् यह अन्तर बढ़ा कर ४-६ दिन कर देते हैं। बाद में खेत में मेड़ें बना ली जाती हैं और उन्हीं में पानी दिया जाता है किन्तु जब पौधे अधिक आयु के हो जाते हैं तो यह क्रिया अधिक आवश्यक नहीं रह जाती। चूसने वाली तम्बाकू में चेरुट तम्बाकू की

भाँति सिंचाई का क्रम चलता है। मुजफ्फरपुर और दरभंगा में टापिंग (Topping) की क्रिया—तक सिरों की तोड़ाई तक ४ सिंचाइयाँ की जाती हैं। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ उठान की सिंचाई (Lift irrigation) होता है। सिरों की तोड़ाई के समय दो ही सिंचाइयाँ की जाती हैं। चरोत्तर में पिल्यू जाति के तम्बाकू में एक सिंचाई सिरों की तोड़ाई के पूर्व और दो बाद में की जाती हैं। हुक्का तम्बाकू की रोपाई फरवरी के माह में होती है, इससे मौसम सूखा होता है और सिंचाई की आवश्यकता अधिक होती है। रोपाई के बाद २-३ दिनों तक प्रतिदिन सिंचाई की जाती है और जब पौधे स्थिर हो जाते हैं तो दो सिंचाइयों के बीच का अन्तर ७ दिन कर देते हैं। बाद में यह अन्तर १० से १२ दिन भी कर देते हैं किन्तु सूखे मौसम में जब कि ताप-क्रम ऊँचा हो जाता है, ४ ५ दिनों के अन्तर पर सिंचाइयाँ करने लगते हैं।

खाद—असिंचित फसल में सिंचित फसल की अपेक्षा अधिक खाद की आवश्यकता होती है किन्तु इसके साथ ही यह भी देखा जाता है कि तम्बाकू किस अर्थ के लिए उगायी गई है। जैसा कि हमें ज्ञात है, सिगरेट और सिगार के लिए बारीक पत्तियों की आवश्यकता होती है जबकि हुक्का, बीड़ी, सुर्ती आदि के लिए भद्दी और मोटी पत्तियाँ ही अच्छी समझी जाती हैं। दोनों स्थितियों में गोबर की अच्छी सड़ी खाद प्रारम्भिक खुराक (Basal dose) के रूप में दी जाती है। कभी-कभी गोबर की खाद और कम्पोस्ट के साथ खलियाँ भी प्रयोग करते हैं जिससे पौधों को तत्वों की आवश्यक मात्रा प्राप्त हो सके। साधारणतः तम्बाकू की फसल के लिए सिंचित रूप में नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश की मात्रा ६०-५०-४० पौं० और असिंचित रूप में ४०-३० २५ पौं० यथेष्ट समझी जाती है। अतः खादें इस हिसाब से देनी चाहिए कि फसल को तत्व इसी अनुपात में ही मिलें क्योंकि इनके अधिक या कम होने से फसल पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। खादें जैविक खाद या उर्वरक दोनों ही रूपों में दी जाती हैं। उन्हें देने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे एक बार में न होकर दो-तीन बार दी जायँ। विशेषकर उर्वरकों की पूरी खुराक दो-तीन बार में देना चाहिए। नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश उर्वरकों का आंध्रप्रदेश के गुन्टूर जिले में सिगरेट के लिए अधिक प्रयोग होता है। अनेक वर्षों के परीक्षणों से ज्ञात किया गया है कि फसल पर फास्फोरस और पोटाश का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योकि इस प्रदेश की काली मिट्टी में ये तत्व यथेष्ठ परिमाण में उपस्थित होते हैं। गन्टूर में ७ वर्षों के परीक्षण से पता चला कि २० पौं० प्रति एकड़

अमोनियम सल्फेट देने से उपज ६२० पौं० मिली जबकि उस खेत से जिसमें यह उर्वरक नहीं दिया गया था, ५४७ पौंड प्रति एकड़ उपज प्राप्त हुई। फास्फोरस देने पर उपज ५८७ पौंड मिला जबकि फास्फोरस रहित खेत से यह उपज केवल ५८० पौंड मिली। पोटाश के साथ भी यही स्थिति थी। अतः परिणाम यह निकाला गया कि ऐसी भूमि में अमोनियम सल्फेट के अतिरिक्त अन्य किसी उर्वरक का प्रयोग अर्थ-शास्त्रीय दृष्टिकोण से उपयोगी नहीं। अमोनियम सल्फेट स्थानान्तरण के लगभग दो सप्ताह पूर्व २० पौंड नाइट्रोजन अथवा ११२ पौं० उर्वरक प्रति एकड़ के हिसाब से हाथ द्वारा या ड्रिल द्वारा जुताई की गहराई पर छोड़ा जाता है और फिर उन्हें ढकने के लिए पाटा चला दिया जाता है। सिगरेट के तम्बाकू में मक्का की हरी खाद का प्रयोग किया जा सकता है। १६५२-५३ ई० में इस हरी खाद के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि खाद देने पर लगभग ५०% पत्तियाँ चमकीली मिलीं जबकि बिना खाद की पत्तियाँ अधिक गहरे हरे रंग की मिलीं जिनसे केवल १०-१५% पीली पत्तियाँ प्राप्त हुईं। जब मक्के को हरी खाद के लिए बोया जाता है तो बोआई १६-२० पौंड प्रति एकड़ बीज दर के हिसाब से मानसून के प्रारम्भ में कर दी जाती है। अगस्त के दूसरे सप्ताह या सितम्बर के प्रथम सप्ताह तक फसल की पलटाई कर दी जाती है ताकि अक्टूबर के प्रारम्भ तक तम्बाकू की रोपाई तक मक्का की फसल सड़कर मिट्टी में भली-भाँति मिल जाय। इस फसल को हरी खाद के रूप में देने से यह लाभ होता है कि इससे जैविक पदार्थ अधिक पर नाइट्रोजन कम मात्रा में उपलब्ध होता है।

बीड़ी के तम्बाकू के लिए निपानी में १० गाड़ी गोबर की खाद प्रति एकड़ के हिसाब से दी जाती है। चरोतर में खाद की यह मात्रा १० गाड़ी से ३० गाड़ी तक प्रयोग की जाती है और इनका प्रयोग खेत की प्रथम जुताई के पूर्व किया जाता है। चरोतर में परीक्षणों से ज्ञात किया गया है कि बीड़ी के तम्बाकू पर नाइट्रोजन की १२० पौंड मात्रा जो खली के रूप में दी जाती है, अच्छा प्रभाव डालती है, इस प्रकार एक एकड़ में १,७०० पौंड मूंगफली की खली की आवश्यकता होती है। कुछ उत्पादक ४००-८०० पौं० खली का भी प्रयोग करके अच्छी उपज प्राप्त करते पाये गये हैं। उर्वरकों में अमोनियम सल्फेट अधिक प्रभाव दिखलाती है। इसकी १०० पौं० मात्रा देने से जिससे लगभग २० पौंड नाइट्रोजन प्राप्त होता है, अधिक उपज मिलती है।

चेरुट तम्बाकू के लिए २५ से ४० गाड़ी गोबर की खाद पर्याप्त समझी जाती है किन्तु यह मात्रा उस समय के लिए है जबकि फसल को केवल जैविक खादें ही दी

जाती हैं। खलियों या उर्वरकों के संयोग करने पर यह मात्रा कम कर दी जाती है। जैविक खाद में गोबर की खाद जब २० गाड़ी दी जाती है तो ६० पौं० नाइट्रोजन अलग से दिया जाता है जो मूंगफली की खली अथवा अमोनियम सल्फेट के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। गोबर की खाद स्थानान्तरण के लगभग एक माह पूर्व और मूंगफली की खली लगभग १ सप्ताह पूर्व दी जाती है ताकि इसे सड़ने के लिए पर्याप्त समय मिल सके। अमोनियम सल्फेट की आवश्यक मात्रा एक बार में न देकर दो बार में दी जाय तो अधिक अच्छा हो।

चूसने वाली तम्बाकू में खाद देने पर वेदासन्दूर (मदुराई) में एक परीक्षण से ज्ञात हुआ कि २० गाड़ी गोबर की खाद प्रारम्भिक खुराक में देकर ५०० पौंड अमोनियम सल्फेट अथवा २५० पौं० अमोनियम सल्फेट+७०० पौं० मूंगफली की खली ऊपर से देने से सन्तोषजनक उपज प्राप्त होती है। दरभंगा तथा मुजफ्फरनगर में २०-३० गाड़ी गोबर की खाद देकर ४०० पौं० सरसों की खली देने की प्रथा है। चरोत्तर में सरसों की खली के स्थान पर अमोनियम सल्फेट का प्रयोग किया जाता है। हुक्का तम्बाकू में फीरोजपुर तम्बाकू उपकेन्द्र पर २० गाड़ी गोबर की खाद+मूंगफली की खली अथवा अमोनियम सल्फेट अकेले या बराबर मात्रा में (इस हिसाब से देकर १०० पौं० नाइट्रोजन प्राप्त हो सके) देकर अधिक उपज प्राप्त की गई। रस्टिका स्पेसीज में नाइट्रोजन १०० पौं० के स्थान पर १२० पौं० से लेकर १५० पौं० दी जाती है। उर्वरकों को देने की एक ही विधि सभी तम्बाकुओं में काम में लाई जाती हैं।

निराई-गुड़ाई—तम्बाकू के खेत में निराई-गुड़ाई की क्रिया अधिक महत्व की है। जब भी खेत में घास-पात उग आते हैं, उन्हे शीघ्र ही खेत से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए। इस कार्य के लिए खुरपी, हैरो, कल्टिवेटर, लम्बे फाल वाले हल या कुदाली आदि का प्रयोग किया जाता है। इन यंत्रो से घास-पात निकाल कर भूमि भुरभुरी कर देते हैं और धरातल पर एक पतली परत बना देते हैं जो नमी को रोकने में सहायता कर सके। निराई-गुड़ाई का कार्य, जब पौधों की पारस्परिक दूरी अधिक होती है तो बैलो द्वारा किया जाता है अथवा मजदूरों से ही कराना पड़ता हैं। परीक्षणों से प्लेनेट जूनियर हो इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है जो बैलों द्वारा चलाया जाता है। इससे एक दिन में एक आदमी २ एकड़ खेत की निराई-गुड़ाई कर सकता है। इस यंत्र को निराई करने में पौधों के निकट की कुछ भूमि बिना जुते छूट जाती है जिसे हाथ द्वारा निराया जाता है क्योंकि यत्र का प्रयोग पौधों

के अधिक निकट तक करने से जड़ों के टूट जाने का भय होता है। इस हो के स्थान पर एक लकड़ी के खूँटीदार हैरो का प्रयोग किया जा सकता है जैसा कि गन्टूर में सिगरेट वाली तम्बाकू के खेत में किया जाता है किन्तु हैरो एक दिन में केवल एक एकड़ खेत निरा सकता है। सिगरेट तम्बाकू की पहली निराई स्थानान्तरण के लगभग १ माह पश्चात् और दूसरी इस निराई के दो सप्ताह के पश्चात् की जाती है। निराई-गुड़ाई की क्रिया के साथ पौधों की जड़ों के निकट गिरी पत्तियाँ भी दूर कर देना चाहिए। इससे पाउडरी मिल्ड्यू जैसे रोगों के फैलने में बाधा पहुँचती है। बीड़ी के तम्बाकू में ३-४ निराई बैलों द्वारा चालित ब्लेड हैरो से और २-३ बार हाथ से की जाती है। चरोत्तर में यही प्रथा प्रचलित है। वहाँ अन्तिम निराई के साथ पौधों की जड़ों पर मिट्टी भी चढ़ाई जाती है। बीड़ी की भाँति चेरूट तम्बाकू में भी ६-७ सप्ताह की आयु के हो जाने पर मिट्टी चढ़ाई जाती है। मिट्टी चढ़ाने के पूर्व दो निराई भी की जाती है जिनमें प्रथम स्थानान्तरण के लगभग १५ दिन पश्चात् की जाती है, जबकि पौधे अच्छी प्रकार स्थिर हो जाते हैं। दूसरी निराई इस निराई के लगभग २ सप्ताह बाद की जाती है। मिट्टी चढ़ाने के बाद कोई निराई नहीं की जाती। किन्तु यदि खेत घास-पात से भर जाय और निराई करना आवश्यक जान पड़े तो उन्हें खेत से निकाल देना चाहिए। मिट्टी चढ़ाने के बाद मेड़े और नालियाँ पुनः निर्मित की जाती हैं और फसल की सिंचाई की जाती है। बिहार में चबाने वाली तम्बाकू में हाथ की ३-४ निराइयाँ की जाती हैं और पौधों की जड़ों के निकट अवरोध परत बनाकर छोड़ दिया जाता है। मदुराई में हाथ की निराई के साथ-साथ मिट्टी चढ़ाने की क्रिया भी की जाती है। मिट्टी चढ़ाने के शीघ्र पश्चात् मेड़ें और नालियाँ बनायी जाती हैं और फिर एक हल्की सिंचाई की जाती है जैसा कि अन्य तम्बाकुओं में भी हमने देखा है। चरोत्तर में मिट्टी कुरेदने वाला बैलों द्वारा संचालित हैरो प्रयोग किया जाता है। हुक्का के तम्बाकू के पौधे चूँकि अधिक निकट रोपे जाते हैं अतः उनमें बैलों द्वारा चलाये जाने वाले यंत्र सफल सिद्ध नहीं होते है, वहाँ खुरपी से अच्छा काम होता है। खुरपी की ३-४ निराई-गुड़ाई पर्याप्त होती है।

निराई-गुड़ाई के अतिरिक्त अन्य क्रियाएँ—तम्बाकू के पौधे में प्राइमिंग टापिंग या सिरों की खुटाई और पत्तियों की तोड़ाई या सकरिंग क्रियाएँ की जाती हैं जिनपर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा—

प्राइमिंग (Priming)—पौधों की निचली या प्रारम्भिक पत्तियों का जो

भूमि को स्पर्श कर रही हों, तोड़ने की क्रिया प्राइमिंग कहलाती है। यह क्रिया स्थानान्तरण के ठीक दो सप्ताह पश्चात् की जाती है और ऐसी समस्त पत्तियाँ तोड़कर खेत से बाहर कर दी जाती हैं। ऐसा केवल इसीलिए किया जाता है कि खेत में स्वच्छता रहे और वायरस रोग के फैलने के कम अवसर रहें। यह रोग ऐसी ही पत्तियों में आश्रय पाता है और स्पर्श द्वारा एक पौधे से दूसरे पौधे तक पहुँच जाता है। सिगरेट और सिगार वाली तम्बाकुओं में यह क्रिया अधिक आवश्यक होती है क्योंकि वे बारीक किस्म के तम्बाकू हैं और वायरस रोग से अधिक आक्रान्त होते देखे जाते हैं।

सिरों की तोड़ाई (Topping or nipping)—इस क्रिया में पौधों के सिरे तोड़ या खोंट दिये जाते हैं जिससे उनके फूल के गुच्छे पृथक हो जाते हैं। यह क्रिया स्थानान्तरण के लगभग ४५ दिन पश्चात् या बाजों की बोआई के लगभग तीन माह पश्चात् जबकि पौधे ३'-३½' ऊँचे हो जाते हैं, की जाती है। सिरों की तोड़ाई कर देने से पौधों का आहार गुच्छों में न जाकर पत्तियों में चला जाता है जिससे उनकी बनावट और गुण पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। राजामुन्दरी और गन्टूर में किये गये परीक्षणों से परिणाम निकाला गया है कि इस क्रिया के लगातार करने से पत्तियों का आकार और गुण बढ़ जाते हैं और उपज १०-१५% बढ़ जाती है। भारत-वर्ष में यह क्रिया नहीं की जाती क्योंकि लोगों की ऐसी धारणा है कि इससे पत्तियाँ हरी निकलती हैं और उनमें चमकीला रंग नहीं आने पाता। किन्तु यह धारणा भ्रम-मूलक है। उन पौधों में अवश्य यह क्रिया नहीं करनी चाहिए जो गाढ़ी पत्तियाँ पैदा करते हों। बीड़ी तम्बाकू में स्थानान्तरण के ६-८ सप्ताह पश्चात् सिरों की प्रथम तोड़ाई की जाती है और इसी समय लगभग आधे पौधों के सिरे तोड़ दिये जाते हैं। इसके पश्चात् दो बार और सिरों की तोड़ाई की जाती है जिसमें दूसरी प्रथम क्रिया के एक सप्ताह पश्चात् और तीसरी दूसरी के एक सप्ताह पश्चात् की जाती है। निपानी में आधार के निकट की ५-६" ऊँचाई की पत्तियों को तोड़कर यह क्रिया पूरी की जाती है। चरोत्तर में नीचे की पत्तियाँ नहीं तोड़ी जातीं। वहाँ एक पौधे में लगभग १८ पत्तियाँ रखी जाती हैं जिनमें नीचे की भी पत्तियाँ सम्मिलित रहती हैं। एक हाल के प्रयोग में यह परिणाम निकला है कि नीचे की तीन-चार पत्तियों को निकाल देने से उपज के साथ-साथ पत्तियों के गुण में भी वृद्धि हो जाती है। इस विधि में नीचे की तीन-चार पत्तियाँ निकाल ली जाती हैं और शेष केवल ११ पत्तियाँ रखी

जाती हैं। चेरूट तम्बाकू में उपयुक्त अवस्था में सिरों की तोड़ाई १४ पत्तियों पर से उस समय की जाती है जबकि पौधों में फूल के गुच्छे भली प्रकार निकल आयें। सिरों की तोड़ाई ६ से १५ पत्तियों तक की जाती है जिसमें नीचे की २-३ पत्तियाँ सम्मिलित नही की जातीं। चूसने वाली तम्बाकू में चरोत्तर में सिरों की तोड़ाई १८ से २० दरभंगा और मुजफ्फरपुर में १२ से १८ जिसमें नीचे की पत्तियाँ भी सम्मिलित हैं और मदुराई में ८ से १५ पत्तियों पर से की जाती है। वादासिन्दूर में एक प्रयोग में यह पता चला कि यदि भूमि में उर्वरक उचित परिमाण में दिये गये हैं तो तम्बाकू के गुणो पर बिना किसी प्रभाव के १४ पत्तियों पर सिरों की तोड़ाई की जा सकती है। इससे कम पत्तियाँ रखने पर परिणाम अच्छा नहीं मिलता। हुक्का के तम्बाकू में पूरा पौधा पत्तियों सहित ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है, केवल सिरों के गुच्छे ही तोड़ दिये जाते हैं।
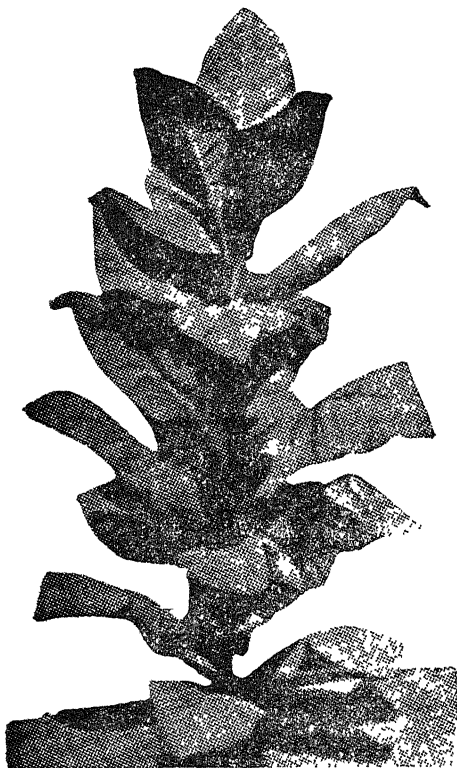
चित्र ४६—तम्बाकू का होनहार पौधा

पत्तियों की तोड़ाई (Suckering)—पौधों के सिरों की तोड़ाई करने के ६-७ दिन पश्चात् कटे हुए भाग या पत्तियों के कोने से पुत्तियाँ निकल आती हैं जिससे पौधों का आहार केवल पत्तियों में न जाकर पुत्तियों में भी जाता है जो उपयुक्त नहीं है, अतः पत्तियों के गुणों में वृद्धि करने के लिए सिरों की तोड़ाई करना जितना आवश्यक है पुत्तियों की तोड़ाई भी उससे कम आवश्यक नहीं है। सिगरेट

और बीड़ी के तम्बाकू में पुत्तियों की तोड़ाई का पत्तियों के गुणों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। निपानी में यह क्रिया प्रति दसवें दिन की जाती है। इस प्रकार पौधों के पूरे जीवन में यह क्रिया ६-७ बार दुहराई जाती है। किन्तु उन स्थानों पर जहाँ तम्बाकू की फसल को अधिक खाद दी जाती है, पुत्तियों की अधिक तोड़ाई करनी पड़ती है। गुजरात की अधिक खाद दी गई भूमि में तम्बाकू की पत्तियों का तोड़ाई बारह बार भी की जाती है। पत्तियों की तोड़ाई की संख्या पर अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। उचित यह होगा कि किसान ६-७ दिन पर एक बार खेत का चक्कर लगा आवे और पौधे में जितनी पत्तियाँ दृष्टिगत हों, तोड़कर फेंक दे। पत्तियों को २" से अधिक बढ़ने का अवसर नहीं देना चाहिए। वे ज्यों ही इस लम्बाई की हों कि उन्हें निकाल कर फेंकते रहना चाहिए। चेरूट तम्बाकू में यह क्रिया २-३ बार ही की जाती हैं जबकि चूसने वाली तम्बाकू में मदुराई में ३-४ बार और चरोत्तर तथा दरभंगा में ५-७ पर्याप्त समझी जाती है। हुक्का तम्बाकू पत्तियों की तोड़ाई ४-५ बार की जाती है। पत्तियों के कोणों में नारियल का तेल (एक बूँद) डालने से निकली हुई कलियाँ सदैव के लिए विनष्ट हो जाती हैं और निकलने वाली कलियाँ दब जाती हैं। पौधों के ऊपर की ५-६ पत्तियों के कोणों में यह तेल डालने से पुत्तियों के निकलने का अवसर ही नहीं रहता, अतः उत्पादकों को इसका प्रयोग करना लाभकर प्रतीत होता है।

कटाई—पत्तियों की कटाई उस समय से प्रारम्भ कर दी जाती है जबकि पत्तियाँ पकने लगती हैं। तम्बाकू की पत्तियाँ सभी एक साथ नहीं पकतीं बल्कि इनके पकने की क्रिया धीरे-धीरे नीचे की ओर से सिरे की ओर होती जाती हैं। पत्तियों के पकने का लक्षण यह है कि उनका रंग पीला हो जाता है, उनमें थोड़ी-थोड़ी ऐंठन आ जाती है और एक प्रकार का चिपचिपा पदार्थ दिखाई पड़ने लगता है। पत्तियों की तोड़ाई उपयुक्त समय में की जानी चाहिए अन्यथा रचाई अच्छी नहीं हो पाती। एक बार में पौधे की वे ही पत्तियाँ तोड़नी चाहिए जिनमें परिपक्वता के पूर्ण लक्षण विदित हों। यह कोई आवश्यक नहीं है कि पत्तियों की तोड़ाई एक ही साथ हो क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है पौधे की सभी पत्तियाँ एक साथ नहीं पकतीं, अतः इन्हें ३-४ बार में तोड़ते हैं। पत्तियों की तोड़ाई प्राइमिंग द्वारा की जाती है अर्थात् पत्तियाँ ज्यों-ज्यों पकती जाती हैं उसी प्रकार उन्हें तोड़ते जाते हैं। पत्तियों की कटाई साधारणतः तीन बार में जाती है। प्रथम कटाई में पौधे की पत्तियाँ, दूसरी में

मध्य की और तीसरी में सिरे की पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं। निचली पत्तियाँ अच्छी कोटि की नहीं होतीं और उनका बाजारों में मूल्य कम लगता है।

सिगरेट तम्बाकू की कटाई के पश्चात् बैलगाड़ियों पर भरकर रचाई के स्थान पर पहुँचाया जाता है। यदि रचाई का स्थान दूर हुआ तो पत्तियों को गर्मी से

चित्र ५०—चेरुट तम्बाकू की कटाई

बचाना चाहिए क्योंकि इस गर्मी से हरी पत्तियों को अधिक क्षति पहुँचती है। पत्तियाँ जो कटाई के समय फट या छिद जाती है या जिन्हें गाड़ियो पर चढ़कर मजदूर रौंद डालते हैं, उनकी रचाई अच्छी नहीं हो पाती। अतः कटाई के समय इन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। कटाई का उपयुक्त समय प्रातःकाल होता है जबकि धूप कम रहती है और कटी पत्तियाँ मुरझाने नहीं पातीं। कटी पत्तियाँ ठंडे घर में ४½′ लम्बे बाँस के डण्डों पर लटका दी जाती हैं।

सिगरेट की तम्बाकू की कटाई स्थानान्तरण के लगभग तीन माह पश्चात् की जाती है। बीड़ी तम्बाकू प्रथम कटाई के लिए स्थानान्तरण के लगभग ४½ महीने पश्चात् तैयार होता है। इसे भी तीन बार में काटा जाता है। चेरूट तम्बाकू में पत्तियाँ ९० से १०० दिन में कटाई के योग्य होती हैं। इस तम्बाकू को तने सहित भूमि के निकट से काटा जाता है और कटाई के पश्चात् उन्हें रात भर खेत में ही छोड़ दिया जाता है ताकि पौधे मुरझा जायँ। शाम की कटाई करके कटे पौधे रात भर छोड़ दिये जाते हैं और फिर प्रातःकाल उन्हें एकत्र कर ढेर लगा दिया जाता है।

ढेर को फिर पुवाल आदि से २४ घंटे के लिए ढँक दिया जाता है ताकि पत्तियाँ भली-भाँति मुरझा जायँ। चेरूट की भाँति चूसने वाली तम्बाकू के पौधे भी तने सहित काटे जाते हैं। किन्तु चरोतर में ऐसा नहीं किया जाता है। वहाँ पत्तियाँ तने के कुछ भाग सहित काटी जाती हैं। हुक्का के तम्बाकू की कटाई मई के माह में प्रारम्भ होती है। रस्टिका जाति मई के अन्त में और टेबैकम इसके लगभग १५ दिन पश्चात् तैयार होती है। जब पौधे तैयार हो जाते हैं तो पौधे काटकर २-३ दिन के लिए खेत में ही छोड़ दिये जाते हैं। इससे पत्तियों का पानी उड़कर केवल २०% के लगभग रह जाता है जिससे पत्तियाँ हल्के पीले रंग की हो जाती हैं।

तम्बाकू के पौधे को जब बीज के लिए तैयार करना होता है तो खेत के कुछ भाग को सुरक्षित छोड़ दिया जाता है। इस भाग के पौधों की सिरों की तोड़ाई या पत्तियों की तोड़ाई नहीं की जाती और न इनकी पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं। पौधे भी बिना कटे छोड़ दिये जाते हैं, जिससे फूल आने और बीज बनने की क्रिया बिना किसी व्यवधान के होती रहती है। जब फलियाँ पक जाती हैं तो उन्हे तोड़ लिया जाता है अथवा पौधे काटकर खलिहानों में एकत्र कर दिये जाते हैं।

उपज—तम्बाकू की उपज बोये गये अर्थ के अनुसार पृथक्-पृथक् होती है।
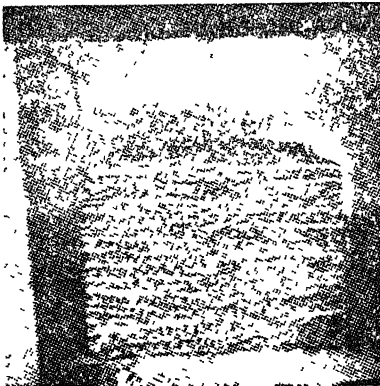
चित्र ५१

चूसने वाली तम्बाकू का तहों में सड़ाव

चित्र ५२

तम्बाकू की पत्तियाँ छुड़ाई जा रही हैं

जब इसे सिगरेट के लिए उगाया जाता है तो पत्तियों की औसत उपज २५० पौं० प्रति

एकड़ होती है, किन्तु उर्वर खेत में यह उपज १,००० पौं० प्रति एकड़ तक प्राप्त की जाती है। बीड़ी तम्बाकू की औसत उपज निपानी में ५०० पौं० प्रति एकड़ और चरोतर में ६०० पौं० प्रति एकड़ है। निपानी से तम्बाकू के खेत में खाद की मात्रा बहुत कम दी जाती है, इससे प्रति एकड़ बहुत कम लगता है। हिसाब लगाने पर ज्ञात हुआ है कि निपानी तम्बाकू चरोतर तम्बाकू की अपेक्षा अपने उत्तम गुणों के कारण दूनी आय देता है। चेरूट तम्बाकू की औसत उपज १,२०० पौं० से १,५०० पौं० प्रति एकड़ है। चूसने वाली तम्बाकू की खेती जब सीमित (Intensive) क्षेत्र में होती है तो उपज २,००० पौं० से ३,००० पौं० प्रति एकड़ होती है किन्तु साधारण तौर पर यह १,००० पौं० से १,५०० पौं० प्रति एकड़ से अधिक उपज नहीं देती। हुक्का तम्बाकू की दोनों किस्में रस्टिका और टेबैकम पृथक्-पृथक् उपज देती हैं। रस्टिका किस्म की उपज तने सहित १,२०० पौं० से १,५०० और टेबैकम की तने को छोड़कर केवल पत्तियों की उपज ८०० से १,००० पौं० प्रति एकड़ है। तम्बाकू की उपज सिंचित और असिंचित भागों के अनुसार भी भिन्न मिलती है। साधारणतः सिंचित क्षेत्रों की उपज असिंचित क्षेत्रों की उपज से अधिक रहती है। तम्बाकू को जब बीज के लिए उत्पन्न किया जाता है तो इसकी प्रति एकड़ उपज ५०० से ७०० पौं० तक प्राप्त होती है।

पत्तियों की रचाई (Curing of leaves)—पत्तियों की नमी इस हिसाब से उड़ाने की क्रिया जिससे कि उनमें अच्छा रंग आ जाय और उनसे सुगन्ध मिले, रचाई कहलाती है। यह क्रिया अनेक प्रकार से की जाती है जिनमें भारतवर्ष में पृथ्वी पर की रचाई, गड्ढे की रचाई, रेक की रचाई, धूप की रचाई और धुँवाकस रचाई अधिक प्रचलित है।
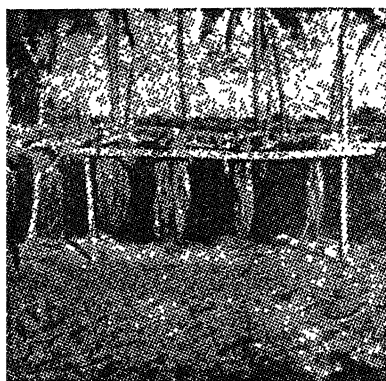
चित्र ५३—तम्बाकू की रचाई पौधे सड़ाव के लिए तैयार हैं।

पृथ्वी पर की रचाई (ground curing) में पत्तियाँ पृथ्वी पर प्रातः काल फैला दी जाती हैं और संध्या को एकत्र कर ढेर बना दी जाती हैं। बिहार

में चूसने वाली तम्बाकू इसी ढंग मे रचाई जाती है। यहाँ पौधे कटाई के पश्चात् खेत में ही ४-६ दिनों के लिए छोड दिये जाते हैं और जब ये सूख जाते हैं तो इन्हें खेत के ही किसी भाग में घास फूस के बिछावन पर एक-दो दिनों के लिए जमा कर
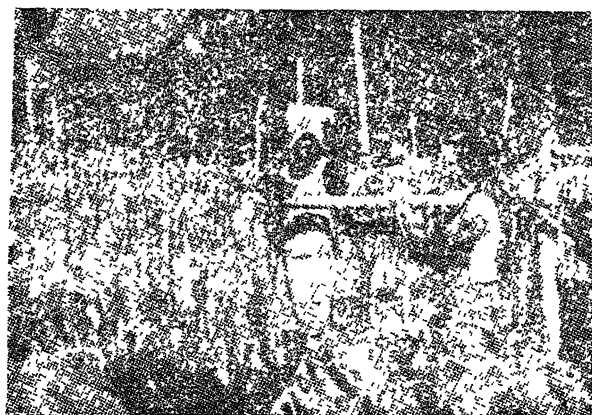
चित्र ५४—तम्बाकू की पत्तियाँ सुखाई जा रही हैं

दिया जाता है। तत्पश्चात् फिर पत्तियाँ फैला दी जाती हैं और जमा की जाती हैं। यह क्रिया ६-७ सप्ताह तक चलती रहती है और तब तने पत्तियों सहित छाये में ले जाये जाते हैं और उनकी पत्तियाँ पृथक कर ली जाती हैं। इन पत्तियों के पुंज (Bundles) बनाये जाते हैं प्रत्येक पुंज में लगभग २५-३० पत्तियाँ रहती हैं। पृथ्वी पर की रचाई यद्यपि बहुत सस्ती विधि है किन्तु वैज्ञानिक नहीं है और इसी लिए इसे प्रारम्भिक विधि कहा जाता है।

गड्ढे की रचाई (Pit curing) की विधि में निश्चित आकार के गड्ढे बनाये जाते हैं जिनमें तम्बाकू के कटे पौधे एक निश्चित अवधि के लिए रख दिये जाते हैं और ऊपर से अन्य पौधों की पत्तियो से ढँक कर मिट्टी से लेप दिये जाते हैं। अवधि समाप्त होने पर उन्हें गड्ढों से बाहर निकालते हैं और फिर रस्सियों पर लटका देते हैं।

रेक की रचाई (Rack curing) दक्षिण भारत में मद्रास में अधिक प्रचलित है। इस विधि में पत्तियाँ घास-पात के छप्पर में लगे बाँस के डंडो पर लट-

काई जाती हैं। प्रत्येक तीन या चार दिनों के पश्चात पत्तियों को इस हिसाब से पलट दिया जाता है कि उनका हरा रंग सामने पड़े। इस प्रकार ८-१० पलटाई में पत्तियाँ रच जाती हैं।

धूप की रचाई (Sun curing) की विधि में पत्तियाँ लगभग एक सप्ताह के लिए खेत में ही छोड़ दी जाती हैं और इस अवधि में उनकी २-३ पलटाई भी कर देते हैं। जब पत्तियों की मुख्य नसें सूख जाती हैं, तो उन्हें प्रातःकाल ही इकट्ठा कर घरों में रख देते हैं और फिर उन्हें पूंजों में तैयार कर लेते हैं।

चित्र ५५—चेरुट तम्बाकू (खाने वाली)

धुवा कस रचाई (Flue curing) की विधि पूर्ण रूप से एक वैज्ञानिक विधि है। इसमें बनावटी विधि से लकड़ी या कोयले द्वारा गर्मी उत्पन्न की जाती है और उसे धुवाँकसों (flues) द्वारा कमरे के फर्श पर बिखेरा जाता है। कमरे का तापक्रम धीरे-धीरे ऊँचा किया जाता है और उसी में पत्तियाँ रेकों पर लटका दी जाती हैं ताकि वे भली भाँति रच जायँ। कमरे की नमी और वायु पर भी नियत्रंण रखा जाता है। यह विधि अधिकतर सिगरेट की तम्बाकू की रचाई में प्रयोग की जाती है। इस विधि में सर्वप्रथम पत्तियाँ पीले रंग की बनाई जाती हैं जिसके लिए कमरे का तापक्रम ८५° से १०५° फा० ३० से ४० घन्टे तक रखा जाता है। अब पत्तियों का रंग निश्चित करने के लिए तापक्रम बढ़ाया जाता हैं और १०५° से बढ़ाकर १२०° फा० कर दिया जाता है। कमरा इस तापक्रम पर ५-१० घन्टे तक रखा जाता है। इस तापक्रम पर को पुनः बढ़ाया जाता है ताकि पत्तियों की लेमिना (lamina) और नसे सूख जायें। लेमिना को सुखाने के लिए तापक्रम प्रति घन्टे २°-३° फा० बढ़ाते हैं। १४०° फा० तक लेमिना सूख जाते हैं। इनके सूख जाने पर तापक्रम १६०-१६५° फा० पर पहुँचाया जाता है जिस पर पत्तियों की नसें सूख जाती हैं। केन्द्रीय तम्बाकू अनुसन्धान विद्यालय राजामुन्दरी में रचाई की इस विधि में कुछ सुधार किये गये हैं जिससे अच्छे गुण वाली तम्बाकू प्राप्त की जा सकती है

और साथ ही कुछ ईंधन भी बच सकता है। इस रूपान्तरित विधि में पत्तियों को पीला बनाने के लिए तापक्रम ८५° से १०५° फा० ३० से ४० घन्टे तक रखा जाता है। इसके लिए कमरे को पत्तियों से भरने के पश्चात भट्ठियाँ जला दी जाती हैं और तापक्रम वातावरण के तापक्रम से ५°-६° फा० ऊपर उठाया जाता है। इस समय नीचे की खिड़कियाँ थोड़ी-सी खुली रखी जाती हैं और ऊपर की केवल रात के ठंडे प्रहर में ही थोड़ी-सी खोली जाती हैं। नीचे की खिड़कियाँ इसलिए खुली रखी जाती हैं कि कमरे की नीचे की हवा ऊपर की ओर जाती रहे। जब पत्तियाँ पीली होने लगती हैं तो तापक्रम के १०५° फा० तक पहुँचने के लिए प्रति घन्टे १° से २° फा० से अधिक तापक्रम नहीं बढ़ाते और जब तापक्रम १०५° फा० हो जाता है तो ऊपर और नीचे की खिड़कियाँ धीरे-धीरे लगभग ३″ खोल दी जाती हैं। अन्य पत्तियों का रंग निश्चित करने के लिए तापक्रम १०५° से १२०° फा० तक ले जाया जाता है। इस समय तापक्रम बढ़ाने में अधिक सावधानी रखी जाती है और प्रति घन्टे १° से २° फा० तक ही बढ़ाया जाता है। पेंदे और सिरे की खिड़कियाँ कुछ अधिक खोल दी जाती हैं। पत्तियों को सुखाने के लिए तापक्रम १२०° से १४५° फा० बढ़ाया जाता है। इस बार भी तापक्रम प्रति घन्टे २° से ३° फा० ही बढाया जाता है। तापक्रम जब १२५°-१३०° फा० हो जाता है तो सिरे की खिड़कियाँ और फिर पेंदे की खिड़कियाँ भी नीचे की ओर लाई जाती हैं और १६ घन्टे में बिल्कुल बन्द कर दी जाती हैं। अन्त में तापक्रम बढ़ा कर १६०° फा० कर दिया जाता है और तब तक स्थिर रखा जाता है जब तक कि तने या पत्तियाँ पूर्ण रूप से सूख न जायँ।

उपयोग—तम्बाकू को अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। इसे सिगरेट बनाने, चेरूट, बीड़ी बनाने, चूसने, जर्दा बनाने, सुँघनी तैयार करने आदि काम में लाया जाता है। इसका इन्सेक्टिसाइड तैयार किया जाता है जिसमें निकोटीन सल्फेट और टुबैको डिकाक्शन (Tobacco decoction) अधिक मुख्य हैं। तम्बाकू में पाया जाने वाला पदार्थ निकोटीन एक विषाक्त पदार्थ है जो नसों पर अधिक प्रभाव डालता है। तम्बाकू से जब विषाक्त अंश निकाल दिया जाता है तो उसे खाने के रूप म प्रयोग किया जा सकता है। तम्बाकू के बीज में ३५ से ३७% तेल पाया जाता है जो निकोटीन रहित होता है और जिसे खाने के अर्थ में लाया जा सकता है। यह तेल अलसी के तेल की भाँति साबुन बनाने, जलाने, रंगों को घुलाने आदि कार्यों में प्रयोग किया जाता है। इसकी खलियाँ पशुओं को खिलाने और खाद में अच्छा काम देती है।

रासायनिक विश्लेषण—तम्बाकू के पौधे में निकोटीन नामक एक अल्कलायड (Alkaloid) पाया जाता है जिसके कारण यह अन्य पौधों से पृथक किया जाता है। यह अल्कलायड पौधों की पत्तियों में उपस्थित होता है जिसके साथ मैलिक एसिड और साइट्रिक एसिड भी कुछ मात्रा में मौजूद रहते हैं। निकोटिन सभी तम्बाकुओं में समान मात्रा में नहीं पाया जाता। सिगरेट के तम्बाकू में यह ३%, सिगार में ०.८ से २.६%, चूसने वाली तम्बाकू में ३ से ७% और पाइप तम्बाकू में ०.५ से ०.८% तक उपस्थित रहता है। तम्बाकू के तने और डण्ठलों में भी इसकी कुछ मात्रा रहती है जो ०.१४३३% तक पाई जाती है, इसी कारण तने और डण्ठल तम्बाकू डिकाक्टन में प्रयोग किये जाते हैं। रची हुई पत्तियों में निकोटीन के अतिरिक्त प्रोटीन, स्टार्च, तेल और खनिज नामक पाये जाते हैं। बीज में नमी ६.५%, क्रूड प्रोटीन, २३.६%, कार्बोहाइड्रेट १३.८%, तेल ३५.८% क्रूड, रेशे १६.८% और राख ३.६% पाई जाती है। खलियों में क्रूड प्रोटीन ३०.५%, कार्बोहाइड्रेट २६.५%, तेल १६.६% और राख १०.३% उपस्थित रहती है।

रोग और कीड़े—तम्बाकू पर आक्रमण करने वाले रोगों डैम्पिग ऑफ, मोजेक, पत्तियों की ऐठन, पाउड्री मिल्ड्यू और एरोबैन्की (Arobanche) है जिनमें डैम्पिग ऑफ रोग बीयड़ में और अन्य खेत में लगते हैं।

डैम्पिग ऑफ (Damping of)—यह रोग नवांकुरों के लिए अधिक भयंकर है। इसे पैदा करने वाले दो फफूँदी पीथियम डी बारयानक और पीथियम एफानिडरमेटम (Pythium debaryanum & Pythium appanidermatum) है जो देश में प्रत्येक तम्बाकू उगाने वाले भाग में पाई जाती हैं। इन फफूँदियों के आक्रमण से नवांकुरों का बढ़ाव बन्द हो जाता है और वे धीरे-धीरे सूखना प्रारम्भ कर देते हैं। भूमि के निकट तने पर एक संकुचन का चिन्ह हो जाता है जो इस रोग का प्रधान लक्षण है। इस रोग की रोक-थाम के लिए बोर्डो मिश्रण २-२-५० या पेरेनाक्स का ४।औंस १० गैलन पानी में छिड़काव करना चाहिए। छिड़काव बीज की बोआई के लगभग ३ सप्ताह पश्चात् किसी भारी वर्षा के पश्चात् करना चाहिए और उसके बाद यदि आवश्यक हो तो छिड़काव एक सप्ताह के अन्तर पर करना चाहिए। यदि मानसून के दिनो में बराबर वर्षा होती रहे और दिन बदली का हो तो यह अन्तर घटकर ५ दिन तक किया जा सकता है। छिड़काव की मात्रा प्रति १०० वर्ग फीट क्षेत्र पर ६ गैलन पर्याप्त होती है किन्तु वातावरण की नमी के अनुसार इसमें

परिवर्तन भी किया जा सकता है। छिड़कने के लिए एक साधारण हजारा (rose can) उत्तम पड़ता है।

चित्र ५६—डेम्पिंग आफ से प्रभावित तम्बाकू की पत्तियाँ

मोजेक—(Mosaic)—यह रोग एक सूक्ष्मतम वायरस (Virus) द्वारा उत्पन्न होता है, जो उल्ट्रा-माइक्रोस्कोप (Ultra microscope) द्वारा ही दिखलाई पड़ सकता है। उत्तरी भारत में इसका अधिक आक्रमण होता है। दूसरे आक्रमण से पत्तियों का रङ्ग चितकबरा हो जाता है। उन पर हल्के रंग के धब्बे पड़ जाते हैं जो एक-दूसरे से एक पतली रेखा द्वारा पृथक रहते हैं। आक्रांत पत्तियाँ सिकुड़ भी जाती हैं जिससे वे अपना कार्य उचित रूप से नहीं कर पातीं। इस रोग की रोक-थाम के लिए सर्वप्रथम प्रभावित पौधों या उनकी पत्तियों को खेत से बाहर कर देना चाहिए। इससे रोग के फैलने का भय कम होता है। खेत में काम करने वाले मजदूरों को सावधानी से काम करना चाहिए कि रोगी पौधे स्वस्थ पौधों से छूने न पावे, क्योंकि रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु रोगी पौधों के सैप में उपस्थित रहते हैं और जब यह सैप किसी प्रकार से स्वस्थ पौधे से स्पर्श कर जाता है तो वह पौधा भी रोगी हो जाता है। मजदूर इस रोग को अज्ञान में फैला देते हैं। अतः खेत में काम करते

समय उन्हें अपने हाथ बोर्डो मिश्रण से धो लेना चाहिए। बोर्डो मिश्रण के स्थान

चित्र ५८—डैम्पिंग ऑफ से रक्षा के लिए बीयड़ के बोर्डो मिश्रण छिड़का जा रहा है।

पर अन्य डिसइन्फेक्टेन्ट (Disinfectent) भी प्रयोग किये जा सकते हैं। इनके प्रयोग से रोग के कीटाणु दूसरे पौधे तक पहुँचने नहीं पाते।

पत्तियों की ऐंठन (Leaf cure)—मोजेक की भाँति यह रोग भी पौधों पर भयंकर प्रभाव डालता है। इसके प्रभाव से पत्तियों पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और उनकी नसों पर कुछ अतिरिक्त भाग (out growths) उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे रोग की पहचान सरलतापूर्वक की जा सकती है। इसकी रोक-थाम के लिए खेत के आस-पास खर-पतवार नहीं उगने देना चाहिए क्योंकि यह रोग एक प्रकार की सफेद मक्खी से वितरित होता है और वह इन्हीं घास-पातों पर आश्रित होती है। मोजेक की भाँति इस रोग को भी पौधे के स्पर्श पर नियंत्रण लगाकर कुछ कम किया जा सकता है।

पाउडरी मिल्ड्यू (Powdery mildew)—यह रोग इरीसिफी सिकोरासियेरम (Erysiphe cichoracearum D. C.) द्वारा उत्पन्न होता है। इसके लक्षण राख के रंग के धब्बों के रूप में पत्तियो के निचले धरातल पर देखे जाते हैं।

जिससे पौधे मुरझाना प्रारम्भ कर देते हैं और अन्त में सूख जाते हैं। आक्रान्त पत्तियाँ रचाने पर भूरे रंग की हो जाती हैं और बिल्कुल धूल बन जाती हैं। नम वातावरण और धूप के अभाव में रोग का प्रभाव अधिक तेजी से होता है। इसकी रोक-थाम के लिए गन्धक की धूल का प्रयोग किया जाता है। इसकी ४०-५० पौं० मात्रा एक एकड़ के भुरकाव (dusting) के लिए यथेष्ट होती है। भुरकाव पौधों के निकट पत्तियों के मध्य करना चाहिए। पौधों की निचली पत्तियाँ तोड़ने और अधिक घने पौधों को निकाल देने से रोग के प्रसार में कमी आ जाती है।

पत्तियों पर धब्बे का रोग या मेढक की आँख (Leaf spot disease or frog eye)—सरकोस्पोरा निकोटिनी (Cercospora nicotinae Ell) नामक फफूँदी इस रोग को उत्पन्न करने में उत्तरदायी होता है। इसका प्रभाव नवांकुरों और प्रौढ़ों दोनों पर होता है। आक्रांत पौधों पर कुछ इधर-उधर धब्बे निकलते है और बाद में वे एक दूसरे से मिल जाते हैं जिनसे इन धब्बों का आकार अधिक बड़ा हो जाता है। इन धब्बों का रंग भूरा होता है और फिर सूख जाता है जिनसे पत्तियों के धरातल पर सूराख बन जाता है। यह फफूँदी नम वातावरण में अधिक तेजी से फैलती है। इसकी रोक-थाम के लिए डिसइन्फेक्टेन्ट से उपचारित बीजों को ही बोआई में प्रयोग करना चाहिए क्योंकि यह बीजों द्वारा भी प्रसारित होता है। २-२-५० बोर्डो मिश्रण के प्रति सप्ताह छिड़काव से रोग को रोका जा सकता है।

मुरझाने का रोग (Wilt)—यह रोग बैक्टीरिया रोग है जो बैसिलस सोलोनोसियेरम (Bacillus solanacearum Smith) द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग के आक्रमण से पौधे मुरझाने लगते हैं और सूखना प्रारम्भ कर देते हैं। तनों और पत्तियों पर गहरे भूरे रंग की धारियाँ पड़ जाती हैं, तने और मुख्य जड़ें मलिन हो जाती हैं और भूमि में कुछ सड़ना प्रारम्भ कर देती हैं। प्रभावित पौधों के तने यदि कहीं फट जाते हैं तो उनके भीतर गहरा भूरा रंग देखा जाता है। यह रोग पौधोंपर किसी वाह्य चोट से या नीमैटोड (Nematodes) जैसे कीड़ों के काटने से आक्रमण करता है। इस रोग के आक्रमण से खेत की भूमि बुरी तरह प्रभावित होती है जिसमें सोलेनेसी कुल की कोई भी फसल नहीं उगा सकते। इसका प्रभाव एक ही खेत से तम्बाकू के बराबर उगाने से बढ़ता है। अतः रोग की रोक-थाम के लिए तम्बाकू

को एक ही खेत से लगातार नहीं लेना चाहिए बल्कि फसल चक्र में किसी अन्य कुल की फसल रखना चाहिए जिस पर इस बैक्टीरिया का प्रभाव पड़ सके।

एरोबैन्की (Orobanch)—यह एक परजीवी घास-पात है जो तम्बाकू उत्पन्न करने वाले लगभग सभी स्थानों पर पाई जाती है। प्रायः सिंचित क्षेत्रों में ही

चित्र ५८—आरोबैन्की से प्रभावित पौधा

देखा जाता है। यह घास-पात केवल फूल है जिसमें पत्तियाँ बिल्कुल नहीं पाई जातीं। यह फूल अपने को तम्बाकू की जड़ों से सम्बन्धित कर लेता है और वहीं से अपने लिए आहार खींचता है। इसका परिणाम यह होता है कि तम्बाकू के पौधों को आहार का अभाव हो जाता है जिससे उनका उपयुक्त बढ़ाव नहीं हो पाता और अन्ततोगत्वा उपज कम मिलती है। इस परजीवी पौधे के बीज तम्बाकू के बीज से भी छोटे होते हैं जिससे इन्हें उनमे से निकालना बड़ा कठिन हो जाता है।

इसीलिए जिस किसी खेत में भी इसका आक्रमण हो जाता है उससे इसे दूर करना सरल नहीं होता। इस पर नियंत्रण पाने का एक उपाय यह है कि इसे बीज तैयार करने के पूर्व ही खेत से निकाल कर बाहर कर दिया जाय। यदि क्रिया लगातार २-३ वर्ष तक की जाय तो खेत पूर्ण रूप से इस घास-पात से मुक्त हो जायगा। प्रभावित खेत में तम्बाकू के पश्चात् जब धान की फसल लेते हैं तो इसका प्रभाव कम हो जाता है।

इन रोगों के अतिरिक्त तम्बाकू की फसल पर अनेक प्रकार की कीट-व्याधियाँ भी आक्रमण करती हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

तना छेदक (Tobacco stem borer)—इस कीड़े का वैज्ञानिक नाम ग्नोरिमोश्चिमा हिलियोपा (Gnoriomoschema héliopa, Low) है। इस कीड़े का प्रौढ़ जो एक माथ (moth) है, छोटा भूरे रंग का होता है। इसके पंख सँकरे होते हैं और उन पर धारियाँ खिंची रहती हैं। प्रौढ़ कीट फसल के लिए हानिकर नहीं हैं क्योंकि सारी क्षति लारवा (larva) द्वारा ही होती है। इसका आकार छोटा लगभग $\frac{1}{2}''$ का और रंग सफेद होता है। यह तने में छेद कर देता है अतः भूमि की धरातल के निकट का तना सूज आता है। छेद करके यह तने का बढ़ने वाला भाग काट देता है जिससे वे भाग सूख जाते हैं और वहाँ से शाखाएँ निकलती हैं जिससे प्रभावित पौधे अन्य पौधों से सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं। इस व्याधि की रोक-थाम का कोई प्रभावकारी उपाय अभी तक नहीं निकला है किन्तु ऐसा विश्वास है कि नवांकुरों को आर्सिनेट या ग्युसराल ५५० के छिड़काव करने से किसी सीमा तक सफलता मिल सकती है।

पत्ती के कीड़े (Leaf caterpillar)—लैफाइग्मे एक्सीग्वा और प्रोडेनिया लिटरा (Laphygme exigna and Prodenia litura) नामक दो कीड़े बीयड़ तथा खेत के पौधों की पत्तियों पर आक्रमण कर उन्हीं पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ये पत्तियों के अतिरिक्त तने के कोमल भागों पर भी प्रभाव डालते हैं। गिड़ार (Caterpillar) जब पूरे बढ़ जाते हैं तो इनकी लम्बाई $\frac{1}{4}''$ और रंग गहरा भूरा होता है। यह अपना प्यूपा (pupa) भूमि में ही तैयार करता है और फिर माथ बनाता है। इनके माथ केवल रात्रि को ही बाहर आते हैं। किसान बहुधा इन्हें पकड़ कर ही मार डालते हैं। किन्तु ये प्रकाश द्वारा आकर्षित नहीं होते इसलिए लाइट ट्रैप (light tarp) काम नहीं देते। लेड आर्सीनेट एक औंस की मात्रा में

दो गैलन पानी में या ग्यूसराल ५५० १ पौं० की मात्रा में ६० गैलन पानी में घोल कर छिड़काव के लिए प्रयोग किये जाते हैं। छिड़काव पौधों की कम आयु में ही करना चाहिए जिससे विष पत्तियों पर देर तक लगा रहे।

तम्बाकू की ग्राउंडबीटिल (Tobacco ground beetle—Teneb-onidae Sp.) यह कीड़ा मटमैले काले या भूरे काले रंग का होता है जो भूमि की

चित्र ५६—ग्राउंड बीटिल

धरातल के निकट तने पर आक्रमण करता है। इसके आक्रमण से पौधे सूख जाते हैं जिससे कृषकों को उपज कम मिल पाती है। इन कीड़ों से बचने के लिए गैमेक्सीन का प्रयोग करना चाहिए। इसे आठ गुने बालू में मिलाकर पौधों के निकट भुरक देना चाहिए।

तम्बाकू का बीटिल (Lasioderma serricorne)—यह कीड़ा भूरे-लाल रंग का और लगभग $\frac{1}{8}''$ लम्बा होता है। प्रायः यह तम्बाकू के भण्डार में पाया जाता है, इससे सिगार और सिगरेट तम्बाकू की अधिक क्षति होती है क्योंकि ये तम्बाकू इसे अधिक पसन्द हैं। इनकी रोक-थाम के लिए लाइट ट्रैप प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अधिक सफाई से भी इनकी संख्या कम की जा सकती है किन्तु जब ये अधिक संख्या में हों तो भण्डार-गृह में सल्फर डाइ आक्साइड या कार्बन बाइ सल्फाइड का धुवाँ करना चाहिए।

अध्याय ८

अलसी

(Linseed -Linum usitatisimum)

अलसी-तिलहन की एक प्रधान फसल है जो भारत में मुख्यत: तेल के लिए उगायी जाती है। पश्चिमी-देशों में इसे रेशे के लिए उत्पन्न किया जाता है जिससे लिनेन कपड़ा तैयार किया जाता है।

मूल स्थान और इतिहास—अलसी का मूल स्थान एशिया में ही कहीं है। वेविलोव (Vavilov) का कथन है कि छोटे बीज वाली अलसी जो रेशे और बीज दोनों के लिए उगायी जाती है, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया से उद्भूत हुई। इस क्षेत्र में इसका मूल स्थान अफगानिस्तान है जहाँ से यह एशिया के अन्य भागो तथा योरप तक फैली। यहीं से यह भारत लाई गई। भारतवर्ष में अलसी की खेती बहुत प्राचीनकाल से होती आ रही है। बहुत दिनों से यह देश विश्व की अलसी की सम्पूर्ण उपज का अधिक अंश उत्पन्न कर अन्य देशों को, जहाँ इसका उत्पादन कम होता है, अलसी की पूर्ति करता आ रहा है। आजकल अर्जेन्टाइना इस क्षेत्र में आगे बढ़ा हुआ है और विश्व में सब देशों से अधिक अलसी उत्पन्न कर रहा है। उपज में दूसरा स्थान सोवियट रूस और भारत का है। संयुक्त राज्य अमेरिका आयरलैण्ड, बेल्जियम, पोलैण्ड आदि अलसी के उल्लेखनीय उत्पादक हैं। अर्जेन्टाइना और रूस में अलसी की खेती बीज और रेशे के लिए की जाती है, किन्तु भारत में इसे केवल तेल के लिए उगाते हैं। आयरलैण्ड और बेल्जियम रेशे के लिए प्रसिद्ध हैं।

वितरण—अलसी की खेती कुछ न कुछ भारत के लगभग समस्त राज्यों में होती है। किन्तु बड़े पैमाने पर इसे बिहार, मध्यप्रदेश, हैदराबाद और उत्तरप्रदेश के कुछ भागों में ही उत्पन्न किया जाता है। केवल आसाम और मद्रास के कुछ भाग इसकी कृषि से वंचित रह जाते हैं जहाँ इसके उगाने के उपयुक्त साधन सुलभ नहीं हैं।

भारतवर्ष में अलसी का अनुमान १९५६-५७

राज्यों के अनुसार

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्रप्रदेश	७५	७८	६	५
आसाम	२	२	ख	ख
बिहार	२१९	२५३	२०	२७
बम्बई	५९२	५४९	५४	४८
जम्मू-काश्मीर	३०	३०	६	६
मध्यप्रदेश	१४४०	१,४२०	१०३	१३२
मद्रास	क	क	ख	ख
मैसूर	१२५	११८	८	७
उड़ीसा	३५	३५	३	३
पंजाब	२९	२८	२	३
राजस्थान	३७३	२९४	४४	४४
उत्तरप्रदेश अकेले	१६७	१५६	२२	२३
मिश्रण	५५३	७२५	७२	१०५
योग	७१७	८८१	९६	१२८
पश्चिमी बंगाल	११९	९१	७	११
हिमाचल प्रदेश	२	२	ख	ख

नोट—क = ५०० एकड़ से कम

ख = ५०० टन से कम

भूमि—साधारणतः अलसी को लगभग सभी प्रकार की ऐसी भूमियों में उगाया जा सकता है जहाँ पर्याप्त नमी उपस्थित रहती हो। वे भूमियाँ इसके लिए अधिक उपयुक्त समझी जाती हैं जिनमें नमी रोक रखने का गुण रहता है। भारी भूमि अधिक नमी शोषित करती है और उसे देर तक संचित रखती है, अतः अलसी के लिए यह सर्वोत्तम मानी जाती है। अलुवियल भूमि में भी इसकी कृषि सफलता-

पूर्वक की जाती है क्योंकि इसमें अधिक नमी देर तक उपस्थित रहती है। उत्तरभारत की अलुवियल भूमि में अलसी की वे ही जातियाँ अच्छी पड़ती हैं जिनकी जड़ें उथली (Shallow) हों क्योंकि ऐसा होने से उनकी जड़ें अधिक गहराई तक जाकर सड़ने नहीं पातीं। मध्यप्रदेश, बम्बई तथा मद्रास में इसे मुख्यतः कपास की काली मिट्टी में उगाया जाता है जो चूने में धनी होती है। इस मिट्टी में एक बड़ा दोष यह होता है कि यह शीघ्र ही अपनी नमी उड़ा देती है और भूमि से जब नमी निकल जाती है तो दरारें (cracks) फट जाती है। इस दोष से बचने के लिए अलसी की ऐसी किस्में उगायी जाती हैं जो भूमि में अधिक गहराई तक जाती हों और अल्पकाल में ही तैयार हो जाती हो। मध्यभारत और बरार में अलसी की खेती कपास की काली मिट्टी में ही की जाती है जो भारत में सब से अधिक अलसी उत्पन्न करने वाला क्षेत्र है।

जलवायु—अलसी को उष्ण कटिबन्ध से लेकर शीत कटिबन्ध तथा ठण्डे स्थानों तक में उगाया जाता है। ठण्डे स्थानों पर इसे केवल रेशे के लिए बोया जाता है क्योकि ऐसी जलवायु में रेशे बारीक और अच्छे गुण वाले निकलते हैं। उष्ण कटिबन्ध और शीतोष्ण कटिबन्ध में इसे रेशे के लिए बोया अवश्य जा सकता है किन्तु रेशे ठण्डे स्थानों जैसे बारीक और उत्तम कोटि के नहीं होते। भारत में इस प्रकार के अनेक प्रयोग इस उद्देश्य से किये गये कि यहाँ की उष्ण और शीतोष्ण जलवायु में ठडे स्थानो जैसे अलसी के रेशे तैयार किये जा सकते हैं अथवा नहीं। इन समस्त प्रयोगों का परिणाम यही निकला कि रेशे उन स्थानों की कोटि के नहीं हो सकते। इसी कारण इस देश में अलसी केवल बीज के लिए ही उत्पन्न की जाती है।

अलसी की खेती समुद्र के धरातल के बराबर या नीचे के स्थानों से लेकर २५,०० फी० की ऊँचाई तक की जा सकती है। कम ऊँचाई वाले स्थानो पर रेशे अच्छे निकलते हैं। बीज के लिए इसे अधिक ऊँचे स्थानों पर भी उत्पन्न किया जा सकता है।

अलसी अधिक वर्षा वाले स्थानों पर नहीं उगायी जा सकती। विशेषकर इसके बढ़ाव के समय अधिक वर्षा हानिकर होती है किन्तु इस समय भूमि में पर्याप्त नमी की उपस्थिति आवश्यक है। भारतवर्ष में इसे रबी की फसल के रूप में उगाते हैं क्योकि इस ऋतु में इसकी बोआई उस समय प्रारम्भ की जाती है जब कि वर्षा समाप्त-प्राय हो जाती है। बढ़ाव के समय भी वर्षा के अवसर कम ही होते हैं, किन्तु

म्यू और दत्त के अनुसार एक रूसी विद्वान का मत है कि अलसी के बीज से तेल का अधिक अंश प्राप्त करने के लिए अल्प नमी, अधिक प्रकाश तथा गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है, जबकि उत्तम रेशे उत्पन्न करने के लिए ठंडी और नम जलवायु अच्छी सिद्ध होती है।

वानस्पतिक विवरण—अलसी का पौधा लिनेसी (Linaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका जीनस लीनम (Linium) और वैज्ञानिक नाम लीनम यूसी टिटैसिमम (Titasimum) है। इसका पौधा सीधा हरा और वार्षिक होता है जो ऊँचाई में १½′ से २½′ तक जाता है। रेशे वाली किस्म अधिक ऊँची होती है जिनकी ऊँचाई ४′ तक पहुँच जाती है। तेल वाली किस्में अधिक शाखादार होती हैं जिससे अधिक से अधिक बीज प्राप्त हो सके। पौधों का शाखादार होना बहुत कुछ उनकी पारस्परिक दूरी पर भी निर्भर करता है। यदि पौधे अधिक सघन हैं तो शाखाएँ कम निकलती हैं परन्तु जब पौधे अधिक दूरी पर होते है तो उनमें शाखाएँ अधिक निकलती हैं। हावर्ड और रहमान के अनुसार उत्तर भारत की अलसी की जातियाँ दक्षिण भारत की जातियों की अपेक्षा अधिक शाखादार होती हैं। अलसी की जड़ें प्रधानता उथली होती हैं; किन्तु दक्षिण भारत की जातियाँ जो कपास की काली मिट्टी में उगायी जाती हैं, गहरी होती हैं। इस जाति में ऐसा देखा जाता है कि इनकी मूसला जड़ें (Tap roots) जब तक एक निश्चित गहराई तक नहीं चली जातीं शाखाएँ नहीं उत्पन्न होने पातीं। अलूवियल भूमि में उगायी जाने वाली जातियाँ उथली जड़वाली होती हैं और उनमें यह शाखाएँ भूमि के निकट से ही निकलना प्रारम्भ कर देती हैं। उथली और गहरी जड़वाली जातियों का बीजों के आकार पर अधिक प्रभाव पड़ता है। गहरी जड़वाली जातियों के बीज उथली जड़ वाली जातियों की अपेक्षा बड़े होते हैं और इनमें तेल का प्रतिशत भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। अलसी की पत्तियाँ साधारण, छोटी, सँकरी, सपाट (Entire) और लैन्सियोलेट (Lanceolate) होती है। पौधों के सिरे पर फूल के गुच्छे निकलते हैं जिनपर अनेक फूल लदे होते हैं। फूलों का रंग समान नहीं होता। कुछ फूल नीले, कुछ बैंगनीपन लिये हुये नीले रंग के और कुछ सफेद होते हैं। पर अधिकतर ये शाखाओं के सिरे पर पाये जाते हैं। फूलों में प्रायः स्वयं सेचन होता है किन्तु कभी-कभी पर-सेचन भी हो जाता है। परसेचन कीड़ों की सहायता से पूर्ण होता है जो फूल में उपस्थित नेक्टार ग्लैण्ड (Nectar gland) के सन्निकट जाते हैं और अनजान

में ही यह क्रिया कर बैठते हैं। अनुमान लगाया गया है कि अलसी में परसेचन केवल ३ प्रतिशत ही हो पाता है। अलसी का फल कैपसुल है जिसमें ५ कोष्ठ पाये जाते हैं। प्रत्येक कोष्ठ में लगभग १० बीज उपस्थित होते हैं। फल को सीड बाल (Seed ball) भी कहते है। फल या फली के फटने से बीज बाहर निकलते हैं जो कोष्ठों में बन्द रहते हैं। फलियाँ उसी समय फटती हैं जब कि बीज परिपक्व हो जाते हैं। बीज छोटे और चपटे आकार के होते हैं और ऊपर से एक चमकदार चिकनी परत से ढँके रहते हैं। इनका रग सफेद या गहरा भूरा होता है। पीले रंग के बीज वाली भी जातियाँ पाई जाती हैं। बीजों में तेल की मात्रा उनके आकार पर निर्भर करती है। बीजों का आकार एक निश्चित सीमा से जितना ही बड़ा होगा, उनमें तेल की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। साधारणतः तेल का प्रतिशत ३५ से ४७ तक पाया जाता है। सफेद बीज वाली जातियाँ अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक तेल निकालती हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत की कपास की काली मिट्टी में उगायी जाने वाली जातियाँ अलूवियल भूमि में उगाई जाने वाली जातियों से अधिक तेल देती हैं।

विभाजन—जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया था, भारतीय अलसी के विभाजन की ओर सर्वप्रथम प्रयास हावर्ड और अब्दुल रहमान (१६२२-१६२४) ने किया। उन्होंने अलसी को २६ जातियों में विभाजित किया जिनमें कुल १०३ किस्में सम्मिलित थीं। उनका यह विभाजन बीजों के रंग, पुटचक्र के रंग तथा ऐन्थर तथा फिलामेंट के रंग और बीजों के आकार पर आधारित था। सर्व प्रथम उन्होंने बीज के रंग के अनुसार विभाजन किये। जो बीज सफेद थे उन्हें अलग, पीले बीजों को दूसरी कोटि में और भूरे बीजों को पृथक रखा। फिर इन कोटियों में उन्होंने पुटचक्र रंग, ऐन्थर, फिलामेन्ट के रंग और बीजों के आधार पर आगे विभाजन किया, इस प्रकार कुछ और जातियाँ प्राप्त हुईं। क्षेत्र के आधार पर अलसी को क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है—(१) दक्षिण भारत की काली मिट्टी वाली जातियाँ—इनका क्षेत्र नर्मदा नदी के दक्षिण में पड़ता है और मध्यप्रदेश, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इस जाति के पौधे लम्बी जड़ वाले, बीज बड़े आकार के, हल्के रंग के और तेल की अधिक प्रतिशत वाले होते हैं। बीजों को बोल्ड (Bold)—बड़ा कहते हैं। (२) उतरभारत की अलूवियल मिट्टी वाली जातियाँ—इस जाति को नर्मदा नदी के उत्तर में गंगा और सिन्ध के मैदान में उत्पन्न किया जाता है। इसके पौधे उथली जड़ वाले, अधिक

शाखादार, छोटे बीज वाले, गहरे भूरे रङ्ग के तथा तेल की कम प्रतिशत वाले होते हैं।

उन्नत जातियाँ—उत्तर-प्रदेश में अलसी की प्रगति का कार्य सन् १६२८-२६ से कानपुर में प्रारम्भ हुआ और सन् १६३२ ई० में इसकी ४ उन्नत जातियाँ निकलीं। वे थीं—टा० ११५०, टा० ११६३, टा० ११६६ और टा० १२०६। इन उन्नत जातियों में टा० ११६३ अधिक उपयुक्त थी।

टा० ११६३—यह जाति गतिपुर ४८१ और इंगल ४७० को पारस्परिक संयोग (cross) करके तैयार की गई। यह जाति मध्यम कोटि की उपज देने वाली अल्पकालिक और अलूवियल भूमि के लिए अच्छी पड़ती है। यह रस्ट रोग रोधक (Rust resistant) है।

टा० ११६३-२—यह जाति टा० ११६३ से पृथक है। रस्ट रोग रोधक होने के कारण इसे R. R. ११६३-२ भी कहते हैं। यह अल्पकालिक है जिससे इस पर सूखे का कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाता। इससे १३-१५ मन प्रति एकड़ उपज मिलती है। बीजों का आकार मध्यम होता है। तेल का प्रतिशत ४० और रेशा २१.६% पाया जाता है। यह बुन्देलखण्ड और अलूवियल भूमि दोनो के लिए उपयुक्त होती है।

टा० ४७७—अलसी की यह उन्नत जाति दीर्घकालिक है और लगभग १५०-१६० दिन में तैयार होती है। इसे अक्टूबर में ही बो देते है। उपज अधिक मिलती है। दाने की मात्रा १२-१६ मन प्रति एकड़ प्राप्त होती है।

आर० आर० १६७ और आर० आर० २१६—ये दोनों जातियाँ, जैसा कि नाम से ही विदित है, रस्ट रोग रोधक होती हैं। इनसे उपज अधिक प्राप्त होती है।

व्यापारिक ढंग पर अलसी की तीन जातियाँ हैं—बम्बई बोल्ड, कलकत्ता बोल्ड और कलकत्ता स्माल (Small)। इनमें बम्बई बोल्ड जाति अल्पकालिक है और भारी भूमि में सफलतापूर्वक उगायी जाती है। ये बुन्देलखण्ड के लिए अच्छी पड़ती हैं। कलकत्ता बोल्ड जाति के बीज मध्यम और बोल्ड होते हैं। ये मिर्जापुर और बनारस के लिए अच्छे पड़ते हैं। कलकत्ता स्माल (छोटा) जाति पूर्वी और पश्चिमोत्तर उत्तर-प्रदेश के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। ये दीर्घकालिक हैं। इनके बीज छोटे और जड़ें उथली होती हैं।

खेत की तैयारी—अलसी को मिश्रित रूप से तथा अकेले दोनों प्रकार से बोते हैं। जब इसे मिश्रित रूप से बोते हैं तो खेत की तैयारी मुख्य फसल के लिए की जाती है। अलसी की बोआई के लिए उस स्थिति में कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता। किन्तु अकेले बोने पर खेत अलसी को ही ध्यान में रखकर तैयार किया जाता है। ऐसी स्थिति में खेत जौ या मटर आदि की भाँति तैयार किया जाता है। खेत तैयार करने में दृष्टिकोण यह रहता है कि खेत की भूमि पर्याप्त भुरभुरी और अच्छे मृदा-विन्यास (Texture) भी बन जाय। इसके लिए खेत कई बार जोता जाता है। जुताई के पश्चात् हैरो भी चलाते जाते हैं ताकि खेत में उपस्थित घास-पात का निराकरण हो जाय और बड़े-बड़े ढेले टूट जायँ। अन्त में पाटा देकर भूमि को समतल बना देते हैं। कपास की काली मिट्टी में खेत की तैयारी के लिए 'बक्खर' का प्रयोग किया जाता है। बखर कई बार चलाया जाता है। बीच बीच में पाटा देकर भूमि को समतल भी बनाते जाते हैं। अन्त में पाटा देकर खेत की बोआई कर देते हैं। इस मिट्टी में जब 'बखर' का प्रयोग नहीं करना होता है तो उसके स्थान पर डिस्क हैरो या कल्टिवेटर चलाते हैं।

बोआई का समय--अलसी के बोने का समय लगभग वही है जैसा कि रबी की अन्य फसलों के लिए है। अर्थात् फसल की बोआई १५ अक्टूबर से प्रारम्भ कर दी जाती है जबकि वर्षा बिलकुल बन्द हो जाती है। इसकी बोआई नवम्बर के प्रथम सप्ताह तक की जाती है किन्तु उपयुक्त समय अक्टूबर के अंतिम दिन ही होते हैं।

बीज दर—बीज दर बोआई की विधि, बीज के आकार, बोआई का समय तथा प्रयोजन आदि अनेक बातों पर निर्भर करता है। यदि बोआई पंक्तियों में की जाती है तो बीज ८ से १० पौं० लगता है किन्तु जब बोआई छिटकवाँ विधि से की जाती है तो बीज १२-१५ पौं० आवश्यक होता है। यह बीज दर अकेली या विशुद्ध फसल (Pure crop) के लिए है। जब इसे मिश्रण में बोते हैं तो ३-४ पौं० बीज पर्याप्त होते हैं। फसल जब रेशे के लिए बोयी जाती है, जैसा कि अलसी उत्पन्न करने वाले सभी ठंडे देशों में देखा जाता है तो बीज दर २५-३५ सेर लगता है।

बोआई—बोआई जब छिटकवाँ विधि से की जाती है तो पौधों की पारस्परिक दूरी का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। इससे बीज अधिक लग जाता है और पौधे घने हो जाते हैं जो उचित नहीं है। कुछ स्थानों पर छिटकवाँ विधि के दोषों से बचने के

हाथ से या बैलों द्वारा करते हैं। बैलों द्वारा यह कार्य उसी समय किया जा सकता है जबकि बोआई पंक्तियों में की गई हो। जब फसल मिश्रित रूप में बोयी हो तो इसकी पृथक से निराई-गुड़ाई करने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि मुख्य फसल के साथ इनकी भी निराई-गुड़ाई हो जाती है।

कटाई—फसल में जनवरी-फरवरी में फूल आ जाते हैं और वह मार्च के प्रथम सप्ताह से लेकर अन्तिम सप्ताह तक तैयार हो जाती है। जब फसल पक जाती है तो उसकी कटाई कर लेते हैं। बीजों में चिटकने का गुण पाया जाता है, अतः फलियों के पूर्ण पक जाने पर कटाई कर ली जाती है ताकि बीज चिटकने न पावें। हँसिया द्वारा पकी फसल काट कर खलिहानों में जमा कर दी जाती है और वहाँ जब भली भाँति सूख जाती है तो डंडों से पिटाई करके बीज अलग कर लेते हैं अथवा बैलों द्वारा दँवाई करा ली जाती है। बीज को भूसे या तने के डण्ठलों से पृथक करने के लिए उसाई की जाती है और इस प्रकार बीज बेचने योग्य हो जाता है।

उपज—अलसी की अच्छी फसल से ५-६ मन प्रति एकड़ बीज प्राप्त हो जाता है। किन्तु उन्नत जातियों से १०-१२ मन बीज भी पाये गये हैं। साधारणतः ऐसा देखा गया है कि अलूवियल भूमि में बोयी गई फसल कपास की काली मिट्टी की अपेक्षा अधिक उपज देती है। मिश्रण से १-१½ मन प्रति एकड़ बीज प्राप्त होता है। बीज मुख्यतः तेल निकालने के काम आता है। डंठल या तो फेक दिये जाते हैं या ईंधन के काम आते हैं। किन्तु इससे रेशा निकाला जा सकता है। यद्यपि रेशा कुछ भद्दे किस्म का होता है फिर भी ईंधन से अधिक मूल्यवान होगा।

रेशे के लिए अलसी की खेती—जैसा कि ऊपर प्रकाश डाला गया था, अलसी की खेती यद्यपि भारतवर्ष में रेशे के लिए नहीं की जाती किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि इसे इस उद्देश्य से भी यहाँ सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। उत्तरप्रदेश में इस सम्बन्ध में किये गये प्रयोगों में अलसी की अंग्रेजी और जापानी जातियाँ उगायी गईं और उनसे बहुत अधिक उपज प्राप्त की गई। अंग्रेजी जातियों से ४५० पौं० बीज और लगभग २,५०० पौं० भूसा मिला जबकि जापानी जातियों ने ५०० पौं० बीज और लगभग १½ टन भूसा उत्पन्न किये। अंग्रेजी जातियों के भूसे से रेशे निकाले गये जो लगभग १७% के परिमाण में मिले। रेशे की यह मात्रा बहुत अधिक मानी गई। इस प्रयोग के आधार पर उत्तर भारत में रेशे के लिए अलस की खेती सम्भव हो सकती है। इसकी खेती रेशे के

लिए भी ठीक उसी प्रकार से की जाती है जैसा कि हमने बीज के लिए पढ़ा था। मुख्य अन्तर बीज दर में होता है। जब फसल रेशे के लिए बोते हैं तो बीज अधिक घना बोया जाता है ताकि अधिक से अधिक रेशा प्राप्त हो सके। इसका बीज २५ से ३५ सेर प्रति एकड़ लगता है। कहीं-कहीं यह बीज दर बहुत कम माना जाता है और ४०-६० सेर बीज प्रति एकड़ बोने की सिफारिश की जाती है। खेत की तैयारी और बोआई पहले जैसे ही की जाती है। कटाई बीजों के पकने के कुछ समय पूर्व की जाती है ताकि अच्छा रेशा मिल सके। फसल काटकर खलिहान में जमा कर दी जाती है और बीजों को ढेर में ही पकने दिया जाता है। ऐसा करने से बीज कुछ घटिया किस्म के अवश्य प्राप्त होते हैं परन्तु इनकी उपज कम नहीं प्राप्त होती। जब बीज पूर्णरूप से पक जाते हैं तो उन्हें ढेर से निकाल कर पीटते हैं और इस प्रकार डंठल तथा बीज पृथक कर लिए जाते हैं। डण्ठलों से रेशा निकालने के लिए उन्हें बोझ में बाँधते हैं और ताजे पानी में गाड़ देते हैं। बोझ को पानी में दबे रहने के लिए ऊपर से पत्थर या मिट्टी का दबाव रख देते हैं। बोझों का गड़ाव तालाब या पोखरे में करते हैं जहाँ का पानी स्थिर रहता है, नदी या नाले के बहते पानी में इन्हें नहीं गाड़ना चाहिए क्योंकि बोझों के बह जाने का भय रहता है। ३-४ दिन में जब डंठल सड़ जाते हैं तो उन्हें बाहर निकाल लिया जाता है और पानी में भली प्रकार धो लिया जाता है ताकि डठल से सभी अनावश्यक भाग पृथक हो जायँ। धोने के पश्चात् इन्हें सुखा लेते हैं और तत्पश्चात् एक बेलन वाली मशीन से पेरते हैं जिससे डण्टल के लकड़ी का भाग दबकर चूर-चूर हो जाता है। पेराई के पश्चात् केवल झाड़ देने से यह चूर्ण भाग रेशे से अलग हो जाता और इस प्रकार साफ रेशा प्राप्त हो जाता है। अलसी का रेशा अधिक सुदृढ़ और साफ होता है। इसे अनेक प्रकार के कपड़े बनाने के काम में लाते है। इनमें मुख्य लिनेन कपड़ा है जो इसी रेशे से तैयार होता है। सनई या पटसन के रेशे की भाँति इसके रेशे अधिक लम्बे नहीं होते। इसके रेशे १½' या २' से अधिक लम्बे नहीं पाये जाते हैं, परन्तु ठण्डे स्थानों में इससे भी लम्बे रेशे पाये जाते हैं।

उपयोग—अलसी की गणना तिलहन की फसलों में होती है जिसमें ३८ से ४५% तेल पाया जाता है। यह तेल खाने में प्रयोग किया जाता है। इसे जलाने के भी काम में लाते हैं। खलियाँ पशुओं के लिए अधिक लाभप्रद होती हैं और वे इसे बहुत चाव से खाते हैं। यह दूध देने वाले पशुओं के लिए अच्छा सिद्ध होता है, इसके

खिलाने से पशु मोटे भी हो जाते हैं। जिन पशुओं के दूध का मक्खन बनाया जाता है उन्हें अधिकतर खिलाया जाता है। तेल में सूखने का गुण होता है, इसे रंगाई और वार्निस में काम लाते हैं। बीज जब पानी में भिगो दिया जाता है तो यह अधिक लबलबा बन जाता है। इस लबलबे रूप में यह बीमार पशुओं को खिलाया जाता है। कभी-कभी इसे पीस कर भी रुग्ण पशु को खिलाते हैं। बीज को इसी प्रकार पानी में भिगो कर पोल्टिश तैयार की जाती है जो पशुओं के अनेक रोगों में काम देती है। रेशे से प्रसिद्ध कपड़ा लिनेन तैयार किया जाता है। इससे कागज़, सोख्ता कागज़, डस्टर, मोटा कपड़ा आदि बनाया जाता है। जूट के साथ मिलाकर इससे बोरे बनाये जाते हैं। रेशे को रस्सियाँ और कन्वास (Convas) बनाने के काम में लाते हैं। अलसी के नव अंकुरों में एक प्रकार का ग्लुकोसाइड उपस्थित रहता है जो अधिक मूल्य दे सकता है।

रासायनिक विश्लेषण—अलसी के बीज और खली में निम्नलिखित चीजें पाई जाती हैं—(अय्यर)

	बीज	खली
नमी	६·६०	११·५०
प्रोटीन	२०·३०	२८·३०
चर्बी और तेल	३८ से ४५	१०·००
रेशा	४·८०	११·००
राख	२·४०	८·००

अलसी के तेल का आयोडिन नम्बर १८० (Iodine number 180), सोपानिफिकेशन नम्बर १८९ से १९१ (Soponification number 189—191) और सिएड नम्बर (Acid number) ६ है। इसकी स्पेसिफिक ग्रेविटी (Specific gravity) १५° सेन्टीग्रेड पर ०·९३२ से ०·९३६ होती है।

रोग और कीट व्याधियाँ—अलसी की फसल पर लगने वाले रोग और कीट-व्याधियों की संख्या यद्यपि बहुत कम है तथापि प्रति वर्ष इनसे फसल की कुछ न कुछ हानि हो ही जाती है। रोगों में अधिक भयंकर अलसी की गेरुई (Linseed rust) है जो मेलाम्प्सोरा लिनाई (Melampsora lini) नाम की फफूँदी से उत्पन्न होती है। यह रोग अलसी की फसल पर लगभग प्रति वर्ष पाया जाता है किन्तु गम्भीर स्थिति किसी-किसी वर्ष ही होती है। इसके आक्रमण से पत्तियों और

तनों पर पहले नारंगी रंग के चमकीले उभार (Pustules) आ जाते हैं, जिन्हें देखकर बड़ी सरलता से रोग की पहचान की जा सकती है। बाद में ये उभार भूरे या काले रंग के हो जाते हैं। इस रोग के लग जाने पर उपज बिल्कुल कम हो जाती है क्योंकि पत्तियाँ और तने दोनों अपना कार्य समुचित ढंग से नहीं कर पाते। यह रोग अलसी के पिछले वर्ष की फसल की पत्तियों, तनों या बीजों द्वारा एक वर्ष से दूसरे वर्ष चलता रहता है। इस पर नियन्त्रण पाने का कोई सीधा उपाय नहीं है। प्रभावित तनों या उसके भागो को जला कर रोग की रोक-थाम किसी सीमा तक अवश्य की जा सकती है। खेत में पड़े पौधों के भाग या खलिहानों में छूटा अंश पृथ्वी में गाड़ या जला देना चाहिए।

दूसरा रोग पौधों का उकठा (Wilt) है जो फ्यूजेरियम लिनाई (Fusarium lini) नामक फफूँदी द्वारा फैलता है। इसके आक्रमण से पौधे मुरझाने लगते हैं और सूख जाते हैं। प्रभावित पौधों की जड़ें राख के रङ्ग की हो जाती है और इनकी सारी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। यह रोग पौधो की प्रत्येक अवस्था में लग सकता है और खड़ी फसल को विनष्ट कर सकता है किन्तु भाग्यवश यह अधिक भयंकर रोग नहीं है। यह बीजों द्वारा फैलता है, अतः इसकी रोक-थाम बीजों को फार्मेलिन (formalin) के घोल में डालकर की जा सकती है। फार्मेलिन की एक पौं० मात्रा ४० गैलन पानी में मिलाकर ५० मन बीज को फफूँदी रहित बना सकती है। अलसी की फसल पर उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में आल्टरनेरिया ब्लाइट (Alternaria blight) नामक एक तीसरा रोग भी पाया जाता है किन्तु इसका आक्रमण यदा-कदा ही होता है और अधिक भयंकर रूप से नहीं होता।

अलसी पर माथ की गिड़ार (Caterpillar of a moth) और लारवा आक्रमण करते हैं। गिड़ार (Grammodes stolida) पत्तियों पर आक्रमण करती है और उनका रस चूस कर क्रियाहीन बना देती है। गिड़ार को मारकर हानि से रक्षा की जा सकती है। लारवा सेसिडोमायोड्स (Cecidomyids) का होता है जो फूलों के आधार के निकट आक्रमण करता है और वहाँ से रस चूसकर फूल को दुर्बल कर देता है, जिसके फलस्वरूप बीज लगने ही नहीं पाता या लगता है तो कमजोर। इस कीड़े की रोक-थाम के लिए शीघ्र तैयार होने वाली जातियाँ उगानी चाहिए।

अध्याय ६

तिल

(Sesamum orientales or S. indicum)

साधारण नाम—(तिल, सिसेम, सिसेमम, गि-गली)

तिल एक तिलहन की फसल है जिसका भारत के लगभग प्रत्येक घर में प्रयोग होता है। इसका तेल भोजन में काम आता है तथा बालों में लगाया जाता है। खलियाँ पशुओं को खिलायी जाती हैं। तने ईंधन के अच्छे स्रोत हैं।

जन्म स्थान तथा इतिहास—तिल के जन्म स्थान पर बड़ा भ्रम है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका में उद्‌भूत हुई जहाँ इससे सम्बन्ध रखने वाले पौधों की जातियाँ उगायी जाती हैं या जंगली रूप में पाई जाती हैं। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि यह अफ्रीका से उत्तर की ओर लाई गई और अबिसीनिया पहुँची। अबिसीनिया से यह सम्भवतः आर्यों के आगमन के पूर्व ही भारत में आयी। कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार इसका जन्म भारत में हिमालय के निकट के ठण्डे स्थान पर कहीं हुआ। कुछ लोग इसका जन्म स्थान हिन्दचीन निर्धारित करते हैं।

तिल का मूल स्थान चाहे जहाँ हो, इतना तो निश्चित है कि यह इस देश में अति प्राचीनकाल से उत्पन्न की जा रही है और इस समय विश्व के तिल पैदा करने वाले लगभग सम्पूर्ण देशों में भारत का स्थान सर्वोपरि है। यह यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु और भूमियों में सफलतापूर्वक उगायी जाती है, इस कारण इसके अनेक प्ररूप उत्पन्न हो गये हैं। तिल के ये प्ररूप केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं हैं वरन् ये पूर्व और पश्चिम दोनों ओर फैले हैं। पूर्व में ये चीन, हिन्दचीन और जापान तथा पश्चिम में अफगानिस्तान, मध्यपूर्व (Middle east) तथा अफ्रीका के उत्तरी भागों में पाये जाते हैं।

वितरण—तिल की खेती विश्व के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों गोलार्धों के अधिकांश भाग में की जाती है। चीन, सोवियत रूस, अफ्रीका के कुछ भाग ब्राजील मैक्सिको और अर्जेन्टाइना में इसे अधिक क्षेत्र में उगाया जाता है। इन स्थानों के अतिरिक्त इसे मध्य यूरोप, थाइलैण्ड और हिन्दचीन, फारमोसा, जापान, तुर्की, श्याम पैलेस्टाइन में उत्पन्न किया जाता है। भारतवर्ष सम्भवतः इस फसल को सबसे अधिक परिणाम में उगाने वाला देश है। इसके बाद दूसरा स्थान चीन को मिलता है। भारतवर्ष में इसे लगभग सभी राज्यों में कुछ न कुछ मात्रा में उगाते हैं। अधिक तिल उगाने वाले राज्य बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश हैं।

भूमि—तिल के लिए हल्की बलुवार-दोमट भूमि सर्वोत्तम समझी जाती है। इसे ककरीली-दोमट भूमि से बलुवार दोमट और दोमट तथा कपास की काली भूमि में उगा सकते हैं। मैसूर की लाल भूमि में भी इसे उत्पन्न किया जाता है। अनुभव से ज्ञात किया गया है कि भूमि में बालू की मात्रा जितनी ही बढ़ती जाती है, तिल की उपज उतनी ही अच्छी होती है। किन्तु शुद्ध बालू में इसकी खेती नहीं की जा सकती। हल्की दोमट या बलुवार-दोमट भूमियों में फसल अच्छी मिलती है।

जलवायु—तिल प्रधानतः खरीफ की फसल है किन्तु दक्षिण भारत में इसे रबी में उगाया जाता है। इसके उपयुक्त बढ़ाव के लिए औसत नमी और ऊँचा तापक्रम आवश्यक होता है। लगातार वर्षा और निम्नतन तापक्रम उपयुक्त बढ़ाव में बाधक सिद्ध होता है। पाले का प्रभाव और भी हानिकर सिद्ध होता है। किन्तु यह प्रभाव केवल रबी की ऋतु में ही पड़ सकता है। जहाँ तिल खरीफ की ऋतु में उत्पन्न की जाती है, वहाँ पाले का कोई भय नहीं रहता। लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में इसे खरीफ में ही उगाते हैं। तिल की खेती ४,००० फीट० की ऊँचाई तक की जाती है। इसे मुख्यतः वर्षा के आधार पर उगाया जाता है। यह उन स्थानों पर अच्छी उपज दे सकती है जहाँ वर्ष भर की औसत वर्षा २०" से कम न हो। इससे कम वर्षा वाले स्थानों पर सिंचाई का सुप्रबन्ध आवश्यक है।

वानस्पतिक विवरण—तिल का पेडैलिएसी (Pedaliaceae) कुल का एक सदस्य है जिसका सम्बन्ध सिसेमम (Sesamum) जेनरा से है। इसका वैज्ञानिक नाम सिसेमम इण्डिकम (Sesamum indicum) है, किन्तु आधुनिकतम सिसेमम ओरियेन्टेलिस (Sesamume orientales) है।

तिल का पौधा हरा, वार्षिक और औसतन ३½'-४½' की ऊँचाई तक का होता

है। किन्तु पौधे की ऊँचाई कभी-कभी इतनी अधिक हो जाती है कि उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। ऐसे पौधे लगभग ६′ की ऊँचाई तक के पाये जाते हैं और उनका तना मोटा होता है। पौधों यह ऊँचाई साधारणतः जंगली किस्मों में ही पाई जाती है। उगायी जाने वाली किस्में (cultivated) ४½′ से अधिक ऊँची नहीं होती। जड़ें शीघ्र और देर में तैयार होने वाली जातियों में भिन्न पाई जाती हैं। अल्पकालिक किस्मों की जड़े लगभग ३′ की गहराई तक भूमि में जाती हैं। ये द्वितीयक जड़ें (Secondary root) या तृतीयक जड़ (Tertiary root) बहुत कम संख्या में उत्पन्न करती है। जड़ों का बढ़ाव भी सीमित रूप से होता है। दीर्घकालिक किस्मों की जड़ें भूमि में ३′ की गहराई तक जाती हैं और द्वितीयक तथा तृतीयक जड़े अधिक संख्या में उत्पन्न करती हैं। जड़ों का बढ़ाव भी अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्र में होता है।

तने सीधे रोमदार और शाखादार होते हैं। किन्तु शाखाएँ प्रत्येक किस्म में नहीं पाई जाती हैं। कुछ किस्में तो शाखाएँ बिल्कुल ही नहीं उत्पन्न करतीं, कुछ साधारण रूप से करती हैं और कुछ इस प्रकार की शाखाएँ उत्पन्न करती हैं कि तने का आकार झाड़ीनुमा हो जाता है। ऐसे पौधे दीर्घकालिक होते हैं क्योंकि इनसे फूल-फल देर में निकलते हैं। पत्तियाँ कटी हुई (दाँतेदार) या पूर्ण (entire) होती हैं। इनका रंग हल्के हरे रंग से गहरा हरा होता है। सभी पत्तियों का आकार सामान नहीं होता। जड़ के निकट की पत्तियाँ सिरे की पत्तियों से चौड़ी और बड़ी होती हैं। फूल पत्तियों के कोने से निकलते हैं। ये संख्या में एक या दो-तीन भी हो सकते हैं। फूल का गुच्छा रेसीम (Receme) होता है। फूल आकार और रंग समान नहीं होते। पुटचक्र (Corolla) का रंग धवल-गुलाबी से बैंगनी या पीला होता है। इस पर रोम (hairs) पाये जाते हैं जिनका आकार लम्बा, मध्यम या छोटा हो सकता है। नर अंग (Stamens) संख्या में ४ होते हैं। स्त्री भाग दो सेल वाली होती है। तिल के पौधे में स्वयं सेचन ही प्रधान है किन्तु कभी-कभी मधु-मक्खियों या अन्य किसी ऐसे ही कीट-पतगों द्वारा परसेचन भी हो जाता है। फल कैपसुल (Capsule) होता है जिसकी लम्बाई १½″-२″ और मोटाई लगभग ½-१″ तक होती है। फलों का आकार सभी किस्मों में समान नहीं होता। सफेद तिल में फल भूरा या काली तिल के फल की अपेक्षा बड़ा और मोटा होता है। एक कैपसूल में लाकुली (locules) की संख्या चार, छः, आठ या दस भी पाई जाती है। लाकुली चार सेल या छः सेल में बँटे होते हैं। सफेद तिल में लाकुली छः सेल वाले

होते हैं। कैपसूल में अनेक बीज भरे होते हैं जो फल के फटने पर बाहर निकलते आते हैं। फल एक सिरे पर फटते हैं। बीज अनेक रंग के होते हैं। इनका रंग सफेद मटमैला, भूरा या बिल्कुल काला होता है।

विभाजन—तिल का विभाजन सर्वप्रथम काशीराम द्वारा सन् १६३० ई० में किया गया। उन्होंने बीजों के रंग, पुटचक्र के रंग, पत्तियों के कोणों से निकलने वाले फूलों की संख्या और पौधों के परिपक्व होने तक की अवधि के आधार पर इसकी ३० किस्में बताईं। सन् १६३३ ई० में जाफर आलम और अली मोहम्मद ने लगभग इन्हीं आधारों पर इसे ३४ किस्मों में विभाजित किया। विश्व की तिलों का विशद विभाजन रूसी विद्वानों द्वारा किया गया जो कैपसुल में कारपेल (Carpel) की संख्या पर निर्भर करता है। इस प्रकार तिल के दो मुख्य विभाजन हो जाते हैं—(१) बाईकारपेलेटम (bicarpellatum) और (२) क्वाड्रिकारपेलेटम (quadricarpellatum)। बाइकारपेलेटम में दो कारयेल होते हैं। इन्हें पुनः ७६ जातियों में विभाजित किया गया है। क्वाड्रिकारपेलेटम में चार कारपेल उपस्थित होते हैं : इसकी ३२ जातियाँ हैं। इन समस्त जातियों में २८ भारतीय जातियाँ थीं। रूसी विद्वानों का यह विभाजन अधिक मान्य है।

उन्नत जातियाँ—तिल की अनेक उन्नत जातियाँ निकाली गई हैं जो देशी जातियों की अपेक्षा अधिक उपज देती हैं। ये जातियाँ भिन्न-भिन्न राज्यों के कृषि विभागों तथा केन्द्रीय कृषि विभाग के प्रयत्न से तैयार की गई है। प्रत्येक जाति प्रत्येक राज्य के लिए उपयुक्त नही हो सकती है अतः किसानों को उन्हीं जातियों का प्रयोग करना चाहिए जिन्हें राज्य के कृषि विभाग द्वारा उगाने की सिफारिश की गई है। इसी आधार पर बम्बई के लिए टा० २५, मद्रास के लिए टी० एम० वी० १ और टी० एम० वी० २, मध्य प्रदेश के लिए टा० १२८ और टा० ४१ उपयुक्त मानी गई हैं। उत्तर प्रदेश के लिए टा० १०, टा० २२ और एन० पी० ३ अधिक अच्छी पड़ती हैं।

टा० १०—यह उन्नत जाति इकॉनामिक बोटोनिस्ट (Economic Botonist) कानपुर द्वारा निकाली गई है जो सफेद बीज वाली जाति है। यह जुलाई के प्रथम सप्ताह में बोयी जाती है और सितम्बर के अन्तिम सप्ताह तक तैयार हो जाती है। इससे ५½ से ६ मन प्रति एकड़ बीज प्राप्त किये जा सकते हैं। उत्तर प्रदेश के लिए यह अधिक सफल है।

टा० ८—यह लगभग ८० दिनों में तैयार होने वाली जाति है जो अक्टूबर में बो कर दिसम्बर में काट ली जाती है। बोने और कटने के आधार पर यह एक रबी की फसल है। इसके बीज धवल रंग के होते हैं जिनमें तेल का प्रतिशत लगभग ५१.६% होता है। इन समस्त गुणों के साथ इसमें एक अवगुण यह है कि यह कम उपज देने वाली जाति है। इसकी उपज केवल २ मन प्रति एकड़ (बीज) है।

टा० २२—यह जाति भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद द्वारा निकाली गई है। इसे खरीफ के समय जुलाई में बोकर नवम्बर के प्रथम सप्ताह में काट लेते हैं। इसके तैयार होने में लगभग ६० दिन लगते हैं। इसके बीज काले रंग के होते हैं। उपज लगभग ५½ मन प्रति एकड़ होती है।

एन० पी० ३—इसके तैयार होने में लगभग ३ माह का समय लगता है। इससे औसत उपज ३ मन प्रति एकड़ प्राप्त होती है। तेल का प्रतिशत ४८ है।

खेत की तैयारी—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में पढ़ा है, तिल की फसल उत्तर भारत में खरीफ में और दक्षिण भारत में रबी में उगायी जाती है। जब यह खरीफ में उगायी जाती है तो इसके लिए खेत की तैयारी जून के प्रारम्भ में कर दी जाती है। जैसा कि खरीफ की अन्य फसलों के साथ भी किया जाता है। प्रायः तिल अकेले न बोकर अन्य फसलों जैसे ज्वार बाजरा, कपास, अरहर, मडुवा (रागी) आदि के साथ बोयी जाती है। मिश्रित रूप में बोने पर इसके खेत की कोई विशेष तैयारी नहीं की जाती बल्कि मुख्य फसल की ही तैयारी इसके लिए यथेष्ट होती है। जब इसे अकेले बोया जाता है तो खेत की तैयारी के लिए २ या ३ जुताईयाँ काफी होती हैं। उन्नतिशील हलों का प्रयोग करने पर मिट्टी पलटने वाले हल की एक या दो बार की जुताई के पश्चात एक बार हैरो चला दिया जाता है। मिट्टी को भुरभुरी बनाने तथा खेत को समतल करने के लिए एक पाटा पर्याप्त होता है।

बोआई का समय—खरीफ में इसे उसी समय बो दिया जाता है जबकि इस ऋतु की अन्य फसलें बोयी जाती है। मिश्रित रूप में बोने पर इसे अलग से बोने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अकेले बोने पर उपयुक्त समय जून के दूसरे सप्ताह से जुलाई के प्रथम सप्ताह तक का होता है। इसे जब रबी में बोया जाता है तो बोआई के लिए सितम्बर-अक्टूबर के महीने अच्छे पड़ते हैं। मद्रास में सिंचाई वाले स्थानों पर इसे जनवरी-फरवरी के महीने में बोते हैं। कभी-कभी इसे खरीफ के

मौसम जुलाई-अगस्त तक बोते हैं जबकि खरीफ की सभी मुख्य फसलों की बोआई समाप्त हो जाती है।

बीज दर और बोआई—जब तिल मिश्रित रूप से बोयी जाती है तो बीज की मात्रा १-१½ सेर प्रति एकड़ तक पर्याप्त होती है। अकेली फसल के लिए ३-४ सेर बीज आवश्यक होता है। किन्तु यह मात्रा उस समय लगती है जबकि बोआई छिटकवाँ विधि से की जाती है। बोआई की मशीन (सीड ड्रिल) का प्रयोग करने पर बीज कम लगता है। इस ढंग में प्रति एकड़ २-३ सेर बीज अधिक होता है।

इसकी बोआई छिटकवाँ विधि से या पक्तियों में करते हैं। छिटकवाँ विधि में बीज खेत तैयार हो जाने पर चारों ओर छिटक दिया जाता है और तत्पश्चात स्पाइक टूथ हैरो चला कर मिट्टी में भली भाँति मिला दिया जाता है। पंक्तियों में बोने के लिए सीड ड्रिल का प्रयोग किया जाता है। इस यंत्र को इस प्रकार नियंत्रित किया जाता है कि पंक्तियाँ लगभग १२″ की दूरी पर बनें। पंक्ति से पक्ति की दूरी कुछ जातियों में १५″ से २१″ तक रखी जाती है। पौधों से पौधों की दूरी ४″-६″ होती है। कभी-कभी यह दूरी बढ़ा कर १०″ भी कर दी जाती है किन्तु ६″ से अधिक की दूरी लाभप्रद नहीं सिद्ध होती। पंक्तियों और पौधों की यह दूरी केवल सीडड्रिल से बोआई करने पर ही रखी जाती है, छिटकवाँ विधि में इसका कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

तिल का बीज चूँकि बहुत छोटा होता है अतः इसे प्रायः बालू या मिट्टी में मिलाकर बोया जाता है ताकि बीज सभी स्थानों पर समान रूप से पड़ें। मैसूर में मडुवा के वे बीज जो गोदामों में सड़कर खराब हो जाते हैं और जिनकी अंकुरण शक्ति समाप्त-प्राय हो गई रहती है, तिल के बीजों के साथ मिलाये जाते हैं। बोआई के पश्चात स्पाइक टूथ हैरो चला कर पाटा चला दिया जाता है।

मिश्रण—तिल को ज्वार, बाजरा, पटसन, कपास, अरहर, रेंड या अरण्ड इत्यादि के साथ बोया जाता है। जब इसे रबी की फसलों के साथ बोते हैं तो चना, अलसी, कुसुम, मसूर तथा कभी-कभी गेहूँ के साथ मिला कर बोते हैं।

सिंचाई—जब फसल खरीफ की ऋतु में बोयी जाती है तो इसे सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु सूखा के समय आवश्यकतानुसार पानी देना फसल के बढ़ाव पर अच्छा प्रभाव डालता है। जब तिल को रबी में बोते हैं तो १ २ सिंचाई पर्याप्त समझी जाती है। परन्तु जब इसे मिश्रण रूप से बोते हैं तो मुख्य

फसल की सिंचाई ही इसके लिए काफी होती है। उन स्थानों पर जहाँ वार्षिक वर्षा ४०-४५" के लगभग होती है रबी के दिनों में भी सिंचाई नहीं की जाती।

खाद—प्रायः तिल की फसल को कोई खाद नहीं दी जाती। परन्तु प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि इसे २०-३० पौं० नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है और यदि इसकी यह आवश्यकता पूरी कर दी जाय तो फसल से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। नाइट्रोजन की यह मात्रा जैविक खादों (organic manure) या उर्वरकों के रूप में भूमि में दी जा सकती है। यदि भूमि बलुवार और अनुर्वर हो तो जैविक खादों का परिमाण बढ़ा दिया जाता है। जब फसल मिश्रण रूप में बोयी जाती है तो इसे अलग से खाद नहीं दी जाती। मुख्य फसल को दी गई खाद ही इसके लिए पर्याप्त समझी जाती है।

निराई-गुड़ाई—निराई-गुड़ाई उस समय आवश्यक होती है जबकि फसल अकेले बोयी गई हो। ऐसी स्थिति के पौधों में बढ़ाव के काल में २ या ३ दिन गुड़ाई करनी चाहिए। पहली गुड़ाई बीजों के अंकुरण के लगभग १५ दिन पश्चात करनी चाहिए। इस गुड़ाई से सघन पौधों की निराई भी हो जाती है। निराई-गुड़ाई के लिए हो, खुर्पी, कल्टिवेटर (हाथ द्वारा चलाये जाने वाला या बैलो द्वारा) आदि प्रयोग किये जाते हैं। जब बोआई पंक्तियों में की गई हो तो हैण्ड हो, हैण्ड कल्टि-वेटर या बैलों द्वारा चालित कल्टिवेटर काम में लाये जा सकते हैं। इससे कार्य शीघ्र और कम व्यय में हो सकता है। किन्तु जब बोआई छिटकवा ढँग से की गई हो तो खुर्पी अधिक अच्छी पड़ती है। इस गुड़ाई के लगभग एक सप्ताह पश्चात् दूसरी गुड़ाई की जाती है। फसल की निराई-गुड़ाई पर अधिक ध्यान उसी समय दिया जाता है जबकि वह मुख्य फसल की भाँति बोयी गई हो। कैच क्राप (Catch crop) की भाँति या मिश्रण में बोने पर निराई-गुड़ाई की कोई विशेष आवश्यकता नहीं समझी जाती, मुख्य फसल की निराई-गुड़ाई ही पर्याप्त समझी जाती है।

कटाई—फसल लगभग ३ से ५ महीनों में तैयार हो जाती है। पौधों की कटाई उनके पूर्ण रूप से पकने के कुछ समय पूर्व ही की जाती है। इससे पौधों की फलियाँ खेत में ही चटकने नहीं पातीं। ऐसा देखा जाता है कि जब पौधे पक जाते हैं तो फलियाँ एक सिरे पर फटती हैं और सारा बीज फलियों से बाहर निकल जाता है। इससे किसान को बहुत हानि उठानी पड़ती है। अतः पौधों की कटाई उसी समय प्रारम्भ कर दी जाती है जबकि पत्तियाँ और तने दोनों कुछ पीले रंग के हो

जाते हैं और एक-दो पत्तियाँ गिरने लगती हैं। फलियों पर पीली धारियाँ पड़ जाती हैं और वे पूर्ण रूप से भरी जान पड़ती हैं। पौधों की कटाई हँसिया से की जाती है। काटने के पश्चात् पौधों के बोझ बना लिये जाते हैं और उन्हें खलिहान में एकत्र कर दिया जाता है।

पश्चिमी देशों में कटाई का कार्य हँसिया से न कर कम्बाइन हारवेस्टर और थ्रेशर से किया जाता है। यह यंत्र केवल अकेली बोयी गई तिल की फसल में ही प्रयोग किया जा सकता है। इससे उपयुक्त कार्य लेने के लिए पौधों की समान ऊँचाई आवश्यक होती है। पौधे तने सहित काटे जाते हैं।

तिल के बोझ खलियान मे ढेर के रूप में गोलाई में इस प्रकार रखे जाते हैं कि जड़ें बाहर की ओर और सिरे बीच में पड़ें। यहाँ इन्हें लगभग एक सप्ताह तक पड़े रहने देते हैं। इस प्रकार रखने से ढेर में गर्मी उत्पन्न होती है जो फलियों को पूर्ण-रूपेण पकाने में सहायक होती है। एक सप्ताह पश्चात ढेर को दिन में खोल कर खलि-हान में फैला देते हैं ताकि फलियाँ सूखना प्रारम्भ कर दें। फैला हुआ ढेर रात्रि में एकत्र कर दिया जाता है और फिर दिन में खोल दिया जाता है। यह क्रिया तब तक जारी रखी जाती है जब तक कि फलियाँ भली-भाँति सूख न जायँ। फलियाँ ज्यों-ज्यों सूखती जाती हैं, वे चिटकती जाती हैं और बीज उनसे बाहर निकलते जाते हैं। जब डन्ठल अच्छी तरह सूख जाते हैं तो उन्हें बाँस के डन्डे से पीटकर बिल्कुल बीज-रहित कर दिया जाता है। बीज को पत्तियों या मिट्टी आदि से पृथक करने के लिए ओसाई की जाती है। साफ बीज सुखा कर बोरों में रख दिये जाते हैं।

उपज—तिल के बीज की औसत उपज जब फसल अकेले बोयी जाती है तो ३-४ मन प्रति एकड़ मिलती है। अच्छी फसल से ५-६ मन बीज प्राप्त किया जा सकता है। एक एकड़ में सूखा तना ३०-५० मन तक प्राप्त होता है। जब फसल मिश्रित रूप से बोयी जाती है तो २-३ मन बीज प्राप्त होता है।

उपयोग—इसे प्रधानता दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—दाने के रूप में और तेल के रूप में। दाने को बीज के काम में लाते हैं और मिठाइयाँ तैयार करने में प्रयोग करते हैं। मिठाइयाँ बनाने के लिए इसे गुड़ या चीनी के साथ एक निश्चित परिमाण में मिलाया जाता है। स्वाद के लिए गुड़ या चीनी में मिलाने के पूर्व इसे भून लिया जाता है। जब तिल का तेल निकाला जाता है तो उसे अनेक ढंग से प्रयोग करते हैं। यह खाने का एक मुख्य तेल है। इसे जलाने, प्रकाश करने,

और बाल में लगाने में प्रयोग किया जाता है। इसमें कोई तेज गन्ध नहीं होती है अतः इसमें किसी फूल की गन्ध शीघ्रता से मिलायी जा सकती है और सुगन्धित तेल बनाया जा सकता है। इसके इसी गुण से इसमें सन्तरे, नीबू या नारंगी के फूल की गन्ध मिलाई जाती है। यूरोप में ६ लिटर तेल में फूल की एक किलोग्राम मात्रा छोड़कर ४८ घन्टे तक रख देते हैं। तेल इस निश्चित समय में पूरी गन्ध शोषित कर लेता है। तिल की खली जानवरों को खिलाने के काम आती है। कच्चे रूप में इसके तेल को लोग घी के स्थान पर प्रयोग करते हैं। इसे साबुन बनाने के काम में लाया जाता है। इससे दवाइयाँ बनाई जाती हैं। यूरोप में इसके तेल को जैतून के तेल से मिलाकर सलाद का तेल बनाया जाता है।

तेल ठोस पामिटिक एसिड (Palmitic acid) और स्टीयरिक एसिड (Stearic acid) तथा द्रव ओलिक और लीनोलीक (Oleic & linoleic) के मेल से बनता है जिसमें प्रथम दोनों अम्लों का प्रतिशत १२-२० और अन्तिम दोनों अम्लों का प्रतिशत ८८-९० होता है। तिल का तोल ४° सें० के निम्न तापक्रम पर ठोस पाया जाता है, इस कारण ठंडे देशों में इससे सलाद बनाने में सहायता मिलती है। इसकी खली खाने में प्रयोग की जाती है। दूध देने वाले पशुओं के लिए यह अति उपयोगी है क्योंकि इसमें प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट दोनों की मात्रा अन्य खलियों की अपेक्षा अधिक पाया जाती है। इसकी खली में प्रोटीन (अल्बुमिनायड) ३७.२%, कार्बोहाइड्रेट २०.५%, चर्बी १२.८%, नमी ११%, राख १०.६% और क्रूडफाइबर (Crude fiber) ७.५%, पाये जाते हैं।

तेल निकालना—भारतवर्ष में तिल का तेल अधिकतर कोल्हू द्वारा निकाला जाता है। ये कोल्हू लकड़ी के बने होते हैं और बैलों द्वारा चलाये जाते हैं। तेल निकालने का यह देशी ढंग है। इसके बीजों से कुल तेल नहीं निकल पाता बल्कि अधिक अंश खली में ही रह जाता है। खलियों में तेल की मात्रा अधिक रहने के कारण पशु इसे अधिक पसन्द करते हैं। आजकल देशी कोल्हू के स्थान पर लोहे के बेलन वाले कोल्हू काम में लाये जा रहे हैं जिनसे अधिक तेल निकाला जा सकता है, खलियों में बहुत कम बच रहता है। तिल का तेल जब अधिक साफ और शुद्ध बनाना होता है तो बीज को कुछ समय तक पानी में भिगो देते हैं और जब बीज ढीला हो जाता है तो उसे रगड़ कर छिल्का हटा लेते हैं। छिल्का हटा लेने के पश्चात तेल की पिराई कर लेते हैं। बीजों से अधिक से अधिक तेल निकालने के

लिए खलियों की दो-तीन बार पेराई करते हैं। पेराई के पश्चात खलियों में बचा-खुचा तेल रासायनिक घोलकों द्वारा निकाल लिया जाता है। अल्कोहल, इथर, पेट्रोलियम, बेंजीन आदि तेल के अच्छे घोलक हैं। बाजारों में तिल का तेल बहुधा शुद्ध नहीं मिलता। लोग उसमें रामतिल मिला कर मिलावट कर देते हैं।

रासायनिक विश्लेषण—बम्बई में पूना फार्म पर तिल की सफेद, काली और भूरी तीन जातियों का विश्लेषण किया जिसमें निम्नलिखित पदार्थ पाये गये। (अय्यर)।

	नमी	तेल	अल्बूमिनायड	कार्बोहाइड्रेट	रेशा	राख
सफेद तिल	४·८७	४८·१३	२२·५०	१४·०५	४·४६	५·६६
भूरी तिल	५·३७	४६·२०	२१·०३	१५·८७	४·१८	७·३५
काली तिल	५·४२	४६·५०	२५·८१	६·०६	६·५२	६·६६

इस विश्लेषण से यह पता चलता है कि तिल के बीज में प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट दोनों का ही प्रतिशत अधिक पाया जाता है। इसके बीज में तेल ३५ से ५७ तक उपस्थित रहता है।

रोग और कीड़े—तिल पर आक्रमण करने वाले रोगों और कीड़ों की संख्या बहुत कम है, जो आक्रमण भी करते हैं वे कोई गम्भीर स्थिति नहीं पैदा करते।

रोगों में पत्तियों के धब्बे (Leaf spot) सफेद या पाउडरी मिल्ड्यू, तना सड़न और ऐन्थ्रैक्नोज उल्लेखनीय हैं। पतियों के धब्बों का रोग सरकोस्पोरा (Cercospora) द्वारा उत्पन्न होता है जिसमें पतियों पर हल्का भूरा से गहरे भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। इससे पौधों का बढ़ाव रुक जाता है और उपज कम मिलती है। यह रोग नम मौसम में अधिक आक्रमण करता है। इसकी रोक-थाम का कोई सफल उपाय नहीं ज्ञात है। मिल्ड्यू रोग Oidium के आक्रमण से पत्तियों पर

सफेद पाउडर के रूप में धब्बे पड़ जाते हैं जिन्हें सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है। इस रोग से उपज घट जाती है। कभी-कभी पौधों पर वायरस (virus) का आक्रमण होता है जिससे फूलों में रूपान्तर पाया जाता है। इस रूपान्तर के परिणामस्वरूप फूल नपुन्सक बन जाते हैं और बीज नहीं बन पाता। इस रोग द्वारा प्रभावित फूल बिल्कुल हरे रंग के हो जाते हैं जिससे उन्हें अन्य फूलों से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। इस रोग को सेपल्वायडी (Sepaloidy) कहते हैं। इसकी रोक-थाम के लिए अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। प्रभावित पौधों को तोड़कर खेत से बाहर कर देने से रोग का प्रसार रोका जा सकता है।

तिल पर आक्रमण करनेवाले कीड़ों में तिल माथ (Til moth) या तिल स्फिन्क्स (Til Sphinx) और कैटरपिलर कीड़ा (Caterpillar pest) मुख्य है। तिल माथ (Till moth) एक बड़ा लम्बा, भूरे हरे रंग का कीड़ा है जिस पर पीली धारियाँ बनी रहती है। इसके पिछले अंग की ओर एक सींग-सा भाग निकला होता है जिससे इसे पहचानने में आसानी होती है। कैटरपिलर कीड़ा (Antigastra catalaunalis) पत्तियों को खा जाता है और तनो तथा शाखाओं में छिद्र बना देता है। इस कीड़े का आक्रमण फलियों पर भी पाया जाता है। जिन फलियों पर इनका आक्रमण होता है उनमें बीज नहीं लगने पाते। प्रभावित पत्तियाँ एक-दूसरे से लिपटी हुई पाई जाती हैं। इन कीड़ों की रोक-थाम का कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है। हाथ से पकड़ कर मार डालना और प्रभावित पौधे अथवा पौधे के भागों को खेत से अलग कर देना चाहिए।

अध्याय १०

अरहर

(Pigeon pea-Cajanus cajan or c. indica)

इतिहास—अरहर दाल की फसलों में एक मुख्य फसल है। इसका मूल-स्थान कहाँ है, इस पर दो मत है। कुछ लोगों का कथन है कि यह भारतवर्ष की मौलिक फसल है। किन्तु अधिक लोग इस मत को नहीं मानते और कहते हैं कि अरहर का पौधा सर्वप्रथम अफ्रीका में नील नदी की घाटी में जंगली पौधे की भाँति उगता हुआ पाया गया अतः इसका मूल स्थान अफ्रीका का ऊपरी भाग ही है। भारत में इस पौधे का प्रवेश उस समय हुआ होगा जबकि इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका होगा। यह सत्य है कि अरहर की खेती भारतवर्ष में बहुत प्राचीनकाल से होती आ रही है किन्तु केवल प्राचीनता के आधार पर ही किसी फसल का मूलस्थान नहीं निर्धारित किया जा सकता।

वितरण—अरहर की खेती अफ्रीका के उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी और पूर्वी द्वीप समूह, हिन्दचीन तथा भारत-वर्ष में इसे पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई और मद्रास में उत्पन्न किया जाता है। सम्पूर्ण देश में इसका क्षेत्रफल लगभग ५८,५२,००० एकड़ है। उत्तर प्रदेश भारतवर्ष का सबसे अधिक अरहर उगाने वाला राज्य है। यहाँ इसका क्षेत्रफल लगभग १७,००,००० एकड़ है जो सम्पूर्ण क्षेत्रफल का लगभग तिहाई है। अरहर की फसल प्रायः ज्वार, बाजरा, साँवा, कोदो, कपास आदि फसलों के साथ मिश्रण रूप में बोई जाती है। इस कारण इसका व्योरेवार आँकड़ा देना कुछ कठिन-सा होता है।

दक्षिण भारत में अरहर की भाँति पिजियन पो की एक अन्य जाति उगाई जाती है जिसे तूर वा त्वार कहते हैं। यह जाति अरहर से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसे हैदराबाद, मद्रास, बम्बई, पश्चिमी भारत तथा मध्य भारत में अधिकता से उत्पन्न किया जाता है। उत्तर भारत में इसका बहुत कम प्रचलन है।

मिट्टी—अरहर की खेती लगभग सभी प्रकार की भूमियों में की जा सकती है किन्तु इसके लिए हल्की भूमि विशेष उपयुक्त समझी जाती है। हल्की भूमि में जल निकास का प्रबन्ध होना आवश्यक है। अधिक नमी की उपस्थिति में पौधों का विकास सन्तोषप्रद नहीं हो पाता और वे मुर्झाना प्रारम्भ कर देते हैं। फिर भी भूमि में कुछ मात्रा में नमी का उपस्थित रहना बहुत जरूरी है क्योंकि नम भूमि में पौधे की जड़ें सरलतापूर्वक प्रवेश कर जाती हैं। भूमि में पानी जमा रहने या जल-निकास ठीक से न होने पर भूमि में एक प्रकार के कीटाणुओं का प्रवेश हो जाता है जो फंजाई इमपरफेक्टाई वर्ग (Fungi imperfecti class) से सम्बन्धित होते हैं। ये फफूंदी अधिक नमी की स्थिति में अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं जिसके फलस्वरूप तने का सड़ाव होने लगता है। भारी भूमियों में अरहर के पौधे सफलतापूर्वक उगाये जाते हैं किन्तु ऐसा देखा जाता है कि ऐसी भूमियों में पौधों का जितना वानस्पतिक बढ़ाव होता है उतना फलियों या बीजों का निर्माण नहीं। जो फलियाँ बनती हैं उनमें बीज आधा या आधे से भी कम भर पाते हैं और उनका शेष भाग रिक्त रह जाता है। बलुवार और पथरीली भूमि में अरहर के पौधे उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि इनमें नमी का अभाव रहने पर भी अधिक सूखा सहन करने की शक्ति रखने के कारण ये भली-भाँति उग सकते हैं किन्तु फलियाँ बहुत कम उतरती हैं। मिश्रित फसलों के साथ इसकी भूमि की उपयुक्तता पर ध्यान नहीं दिया जाता अपितु इसे उसी भूमि में उगाया जाता है जिसे प्रधान फसल पसन्द करती है। अरहर की फसल कपास की काली मिट्टी में सफलतापूर्वक ली जा सकती है। बम्बई, मध्यप्रदेश के राज्यों में इसे इसी भूमि में उगाते हैं। गंगा-सिन्ध का समतल मैदान भी इसकी कृषि के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है।

जलवायु—अरहर के लिए ऊँचा तापक्रम और निम्नतम से मध्यम दर्जे की वर्षा की आवश्यकता है। वानस्पतिक विकास की स्थिति में इसे नम जलवायु की विशेष आवश्यकता होती है। ऐसी जलवायु में पौधों का बढ़ाव समुचित होता है और इसीलिए इसे खरीफ की फसलों के साथ उगाया जाता है। फूल-फल लगने के समय अरहर को ऊँचे तापक्रम की जरूरत होती है किन्तु उत्तर भारत में इस समय जाड़े की ऋतु रहती है और तापक्रम के ऊँचे जाने के बदले कभी-कभी पाले के भी आक्रमण हो जाते हैं जिससे कृषकों को अधिक हानि उठानी पड़ जाती है। निम्नतम तापक्रम और पाले का अरहर की उपज पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अधिक वर्षा

होना भी अरहर के हित में अच्छा नहीं होता। वर्षा होने के पश्चात् यदि खेत से सम्पूर्ण पानी शीघ्र निकल जाय तो फसल प्रभावित नहीं होने पाती। पानी का खेत में जमा हो जाना हानिकर सिद्ध होता है। इन हानियों से बचने के लिए अरहर को साधारण भूमि स्तर से कुछ ऊँचे स्तर वाले खेत में बोना चाहिए। इससे खेत का पानी बहुत शीघ्र बाहर निकल जाता है और फसल की पाले से भी रक्षा हो जाती है।

वानस्पतिक विवरण—पिजियन पी (Pigeon pea) लेगुमिनेसी कुल का सदस्य है। इसके जेनस केजनस (Cajanus) में दो स्पेसीज सम्मिलित होती हैं जिन्हें पिजियन पी की दो जातियाँ कहते हैं। ये हैं—(१) केजनस केजन (केजनस इण्डिका) वार वाइकलर (Cajanus cajan var bicolor)—अरहर और (२) केजनस केजन वार फ्लेवस (Cajanus cajan var flavus)—तूर। प्रथम जाति दीर्घकालिक अर्थात् देर में तैयार होने वाली है और इसे उत्तरी भारत में आसाम से लेकर पश्चिमी बंगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश तक उत्पन्न किया जाता है। दूसरी जाति जिसे तूर के नाम से सम्बोधित करते हैं, अल्पकालिक है और अधिकांशतः मध्यभारत, बम्बई, मद्रास आदि राज्यों में उगायी जाती है। इन जातियो में कुछ वानस्पतिक विभेद भी हैं। अरहर की फलियाँ तूर की अपेक्षा लम्बी और मोटी होती हैं और इन फलियों में बीज की मात्रा भी भिन्न होती है। अरहर की एक फली में ४-५ बीज पाये जाते हैं जबकि तूर में यह मात्रा २ से ३ तक पाई जाती है।

अरहर का पौधा सीधा, लकड़ीदार (woody) बहुवर्षीय पौधा है किन्तु इसे एक वर्षीय पौधे की भाँति ही उत्पन्न किया जाता है। ऐसा इसीलिए किया जाता है क्योंकि फसल से प्रथम उपज के पश्चात् अधिक उपज नहीं मिल पाती। इसका पौधा झाड़ीनुमा होता है और भूमि तथा आपस की उपयुक्त दूरी पर अधिक ऊँचाई तक बढ़ता है और दूरी भी अधिक घेरता है। उर्वर भूमि में पौधे ७-८′ की ऊँचाई तक बढ़ते हैं। जड़ें मूसला होती हैं जिनमें अनेक शाखाएँ लगी होती हैं। ये भूमि में अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती है और अधः धरातल को पार कर जाती हैं। स्वभावतः ये जड़ें भूमि की धरातल को तोड़ती हुई नीचे को जाती हैं इससे भूमि की भौतिक अवस्था पर लाभप्रद प्रभाव पड़ता है। दाल वाली फसलों की श्रेणी में आने के कारण इसकी जड़ों में गाँठें पाई जाती हैं। तने मजबूत, लकड़ीदार और थोड़ा-सा कोण बनाते हुये होते हैं। पौधे से शाखाएँ बहुत निकलती हैं। शाखाओं की लम्बाई सदैव समान नहीं होती। ये सीधी होती हैं किन्तु कभी-कभी

मुख्य तने से बड़ा कोण बनाने पर ये फैलने वाले स्वभाव (Spreading nature) की भी हो जाती हैं। इनका रंग भूरापन लिये हुए सिल्की होता है। पत्तियाँ ट्राईफोलियेट होती हैं। यह पत्तियाँ (leatlet) इन्टायर (Entire) किस्म की होती हैं। इनका रंग हरा होता है किन्तु हरापन की मात्रा जातियों के अनुसार कम अधिक भी पाई जाती है। पत्तियों की लम्बाई-चौड़ाई भी सभी जातियों में समान नहीं पाई जाती। उनके निचले धरातल में अनेक बारीक ग्लैण्ड (Gland) उपस्थित होते हैं। इन्यूलोरेसेन्स रेसीम (Receme) होता है किन्तु यह शिरस्थ अथवा कोणीय होता है। कोणीय होने पर यह पौधे की ऊपरी शाखाओं पर ही पाया जाता है। फूल पेपिलियोनेसी सहकुल से सम्बन्ध रखने के कारण पेपिलियोनेसस होते है। दलचक्र (Calyx) चक्र कम्पैनुलेट और दाँतदार होते हैं। पुट चक्र (Corolla) का स्टैण्डर्ड पीले रग का होता है। कभी इनमें काले रंग की धारियाँ भी पाई जाती हैं। पंखे (wings) पंजे (claw) के रूप होते हैं। कील में एक टेढ़ा अंश लगा होता है। स्टेमेन (Stamen) डाइएडेलफस और ओवरी (ovary) सब-सेसाइल (Sub-sessile) होता है। फूलों का आकार कुछ इस प्रकार का होता है कि इनमें परसेचन यदा-कदा हो पाता है, प्रायः स्वयं सेचन ही पाया जाता है और वह भी उसी समय हो जाता है जबकि फूल अभी बन्द ही होते हैं। पौधे में फूल बहुत निकलते हैं किन्तु इनकी बहुत बड़ी मात्रा अनुकूल स्थिति न होने के कारण मुरझा कर भूमि पर गिर जाती है। ऐसा प्रायः बदला अथवा कम तारक्रम के दिन में ही होता है। फलियाँ दो से चार इंच लम्बी और लगभग $\frac{1}{2}''$ मोटी होती हैं। हरी अवस्था में इनका रंग गहरा हरा होता है किन्तु पकने पर ये कुछ लाली लिये भूरे रंग का हो जाती हैं। बीज प्रति फली में २ स ५ तक पाये जाते हैं। पकने पर फलियों का थोड़ा-सा दबाते ही ये बाहर निकल आते है।

जातियाँ—अरहर की दो प्रधान जातियाँ अरहर और तूर हैं जिनका विवरण ऊपर दिया गया है। इसकी उन्नत जातियाँ तैयार करने का कार्य उत्तर प्रदेश में सन् १६३८ से प्रारम्भ हुआ और कानपुर में १३० किस्में चुनी गईं। सन् १६४३ ई० में यह कार्य भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने अपने हाथों में ले लिया और उत्तर प्रदेश में अरहर पर अनुसन्धान करने के लिए तीन केन्द्र स्थापित किये गये जो इस प्रकार हैं—कानपुर, अतारा (बाँदा) और तारी खेत (अल्मोड़ा)। भिन्न-भिन्न केन्द्रों से निम्नलिखित सिफारिश की गई और उन्नत जातियाँ निकाली गई हैं।

टा० १७—यह जाति प्रतापगढ़ की स्थानीय किस्मों से तैयार की गई है। इसमें पौधे लम्बे व फैलने वाले होते हैं। इसके तैयार होने में लगभग ८-९ माह लगते हैं। इसमें सूखा सहन करने की क्षमता होती है। बीज मध्यम आकार के हल्के भूरे रंग के होते हैं। दाल बहुत बढ़िया बनती है। उपज १५-२० मन प्रति एकड़ प्राप्त होती है।

टा० १—यह गोरखपुर की चुनी जाति है जिसे प्रारम्भ में ५००२ के नाम से पुकारा जाता था। यह अल्पकालिक फसल है। इसमें ६० दिनों में फूल आना प्रारम्भ हो जाते हैं और तैयार होने में कुल ४ महीने का समय लगता है। इसमें सूखा सहन करने की शक्ति होती है और निचले धरातल में भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। उपज १०-१४ मन प्रति एकड़ है।

टा० ६९—यह जाति मध्य उत्तर-प्रदेश के लिए विशेष उपयुक्त होती है। पौधे ७′ की ऊँचाई तक सीधे जाते हैं। तैयार होने में ये मध्यम होते हैं। इसमें सूखा-सहन करने की शक्ति होती है। बीज चमकदार और मोटे-ताजे होते हैं। रंग भूरा होता है। औसत उपज २०-२३ मन प्रति एकड़ मिलती है। इन जातियों के अतिरिक्त टा० १०५ और टा० १०७ भी प्रचलित हैं जो दाने भूसे की उपज में टा० १७ से श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये मध्य और पूर्वी उत्तर प्रदेश के लिए उपयुक्त पड़ते हैं क्योंकि यहाँ की जलवायु में इन्हें सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जाता है। पर्वतीय भागों के लिए टा० २ की सिफारिश की गई है किन्तु फलियों की हानि और सूखा सहन न करने की कमी के कारण ये उपयुक्त नहीं होतीं।

खेत की तैयारी—जैसा कि हमने पहले कहा है, अरहर की फसल साधारणतः मिश्रित रूप में उगाई जाती है। अतः खेत की तैयारी प्रधान फसल के अनुसार ही की जाती है। मिश्रण में मक्का, ज्वार, कपास, तम्बाकू, शीघ्र तैयार होने वाली धान की किस्में आदि सम्मिलित होती हैं जिनके साथ अरहर के बोने पर खेत की तैयारी इन्हीं फसलों के अनुसार करते हैं। जैसे यदि फसल ज्वार के साथ बोयी गई है तो खेत ज्वार की फसल के अनुसार तैयार किया जायगा। जब अरहर की फसल छोटे मिलेट अथवा तेल वाली फसलों के साथ उत्पन्न की जाती है तो इसकी तैयारी उसी प्रकार की जाती है जैसे अरहर की विशुद्ध फसल के लिए। खेत तैयार करने के लिए देशी हल के प्रयोग करने पर इसकी तीन जुताइयाँ पर्याप्त समझी जाती हैं। भूमि समतल बनाने के लिए दूसरी और तीसरी जुताई के पश्चात् पटेला दे देना चाहिए।

दक्षिण भारत की कपास वाली काली मिट्टी के लिए बखर अधिक उपयोगी समझा जाता है। बखर के प्रयोग करने से इसकी तीन जुताइयाँ करनी चाहिए और तत्पश्चात पाटा चला कर भूमि को तैयार कर लिया जाना चाहिए। उन्नतशील हलों के प्रयोग करने पर आर-पार की एक जुताई काफी होती है। जुताई के पश्चात् एक पाटा चला दिया जाता है ताकि भूमि समतल हो जाय और ढेले भुरभुरे हो जायँ।

बोने का ढंग, आपस की दूरी, समय और बीज की मात्रा—फसल की बोआई छिटकवाँ विधि तथा पंक्तियों में की जाती है। जब उसे छिटकवाँ विधि से बोते हैं तो आपस की दूरी का कोई ध्यान नहीं रखते और हाथ से बीज छिटक देते हैं। किन्तु ऐसा अरहर की विशुद्ध फसल में किया जाता है। विशुद्ध फसल के रूप में यह उत्तर तथा दक्षिण भारत में बहुत कम क्षेत्रफल में उगायी जाती है। मिश्रण रूप में बोने पर बोआई की विधि वही अपनाई जाती है जो प्रधान फसल की बोआई में प्रयोग होती है। किन्तु साधारणतः इसे मिश्रण रूप में पंक्तियों में ही बोते हैं। पंक्तियों में बोने के लिए हल के पीछे की विधि अपनाई जाती है। कुछ देशों में इस कार्य के लिए सीडड्रिल और प्लांटर भी प्रयोग किये जाते हैं। जब इसे मिश्रण रूप में बोया जाता है तो प्रधान फसल की प्रत्येक ३-४ पंक्तियों के बीच अरहर की दो पंक्तियाँ रखी जाती हैं। इस प्रकार अरहर की पंक्तियों के बीच २′ से ९-१०′ की दूरी पड़ जाती है। अरहर की दो पंक्तियों में १½ से २′ की दूरी रखी जाती है। विशुद्ध फसल में पंक्तियाँ १९-२४″ की दूरी पर बनायी जाती हैं। मध्य प्रदेश में तूर की फसल की पंक्तियाँ १९″ पर रखी जाती हैं। छिटकवाँ विधि में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बीज १२″ से २४″ की दूरी पर पड़ें। बीजों की आपस की दूरी यदि कम हो तो बाद में घने पौधे उखाड़ कर पृथक कर देने चाहिए। आपस की दूरी उपयुक्त होने पर तने मोटे और झाड़ीदार होते हैं जिससे उपज भी अधिक मिलती है।

बोआई का समय स्थान-स्थान पर भिन्न पाया जाता है। उत्तर प्रदेश में इसे जुलाई के प्रथम सप्ताह में बोते है जबकि बिहार में इसके बोने का समय जुलाई का अन्तिम सप्ताह है। मध्यप्रदेश में इसकी बोआई जून के अन्तिम सप्ताह से जुलाई के मध्य तक की जाती है। दक्षिण भारत में अरहर के बोने के समय मई से जुलाई तक है। मई के महीने में शीघ्र तैयार होने वाली जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं और जुलाई

में देर में तैयार होने वाली। अरहर की बोआई मिश्रण की फसलों के अनुसार भी की जाती है।

बीज की मात्रा बोने के ढंग और जाति पर निर्भर करती है। यदि अरहर की फसल मिश्रण रूप में बोयी जाय तो विशुद्ध फसल की अपेक्षा कम बीज लगगे। मिश्रण रूप में बीज की मात्रा २-२½ सेर प्रति एकड़ लगती है। विशुद्ध फसल के रूप में बोने पर अरहर के बीज की मात्रा ६-७ सेर आवश्यक होती है जबकि इसे पंक्तियो में बोते हैं। तूर की मात्रा इस स्थिति में अरहर की अपेक्षा अधिक लगती है और वह ८ से १० सेर तक पड़ जाती है।

खाद और सिंचाई—दाल वाली फसल होने के कारण अरहर को नाइट्रोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु कैल्शियम और फास्फोरस इसके लिए आवश्यक पदार्थ हैं। कैल्शियम से धनी भूमि में अरहर की अच्छी फसल प्राप्त की जाती है। फासफोरस की ३२ पौं० प्रति एकड़ मात्रा अरहर की फसल के लिए पर्याप्त होती है। इस तत्व की पूर्ति के लिए सुपर फासफेट, बेसिक स्लेग और बोन मील का प्रयोग किया जा सकता है। सुपरफास्फेट उर्वरक में फास्फोरस की मात्रा ६०-८०% तक उपस्थित होती है। अतः भूमि को इस तत्व में धनी बनाने के लिए सुपरफास्फेट ही डालनी चाहिए। बोआई से लगभग १५ दिन पूर्व इसे डालने पर अंकुरण और पौधों के बढ़ाव पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

अरहर की फसल की सिंचाई की किंचित आवश्यकता होती है क्योंकि मानसून की ऋतु में उगाने के कारण वर्षा से ही इसे आवश्यकतानुसार पानी उपलब्ध हो जाता है। जाड़े के दिनों में जबकि फसल को पाले का भय होता है, उस समय खेत की एक सिंचाई अवश्य कर देनी चाहिए। सूखा के समय जब फसल मुर्झाना प्रारम्भ कर दे तो आवश्यकतानुसार भूमि को नम बना देना वांछित होता है। पाले के समय सिंचाई की क्रिया शाम को करनी चाहिए।

गुड़ाई—फसल के विशुद्ध होने पर निकाई-गुड़ाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। मिश्रित रूप में इसकी गुड़ाई प्रधान फसल के साथ ही की जाती है। गुड़ाई करना अधिकतर उन्हीं फसलों में सम्भव होता है जो पंक्तियों में बोयी गई रहती हैं। छिटकवाँ विधि में ऐसा करना कुछ कठिन होता है। गुड़ाई खुर्पी, हो, कल्टिवेटर और हैरो द्वारा की जाती है। खुर्पी को प्रयोग करने में अधिक समय लगता है और व्यय भी अधिक होता है। कल्टिवेटर और हैरो बैलों द्वारा संचालित

होते हैं। फसल की गुड़ाई पौधों के तीन महीने की आयु तक की जाती है। इस आयु के पश्चात् पौधे इतने बड़े हो जाते हैं कि खर-पतवार उन पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं डाल सकते। पौधों की प्रारम्भिक अवस्था में गुड़ाई प्रति २५-३० दिनों के अन्तर पर की जाती है।

कटाई—अरहर की फसल पक जाने पर हँसिया या गँड़ासे की सहायता से काट ली जाती है। पंक्तियों में उगाई गई फसल की कटाई मोअर अथवा कम्बाइन से की जाती है किन्तु ये यन्त्र विदेशों में ही अधिकतर प्रयोग किये जाते हैं। भारत में इन्हें वहीं काम में लाया जाता है जहाँ फसल वैज्ञानिक ढंग से उगायी जाती है। मोअर समतल भूमि में अच्छा काम देता है। तनों की कटाई भूमि के इतने निकट मे करते हैं जितना सम्भव होता है। फसल की कटाई के लिए इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि फलियाँ अधिक न पक जायँ क्योंकि इनके पूर्ण पक जाने पर खेत में झड़ने का भय रहता है। दक्षिण भारत में मैसूर राज्य में ए० के० येगेन नारायण अय्यर के अनुसार अधिक फलियाँ पक जाने पर पौधों के कटने के पूर्व ही उतार ली जाती हैं, ऐसा करने से पकी फलियाँ चिटकने नहीं पातीं और बीजों की हानि नहीं होती। किन्तु उत्तर भारत में यह प्रथा नहीं देखी जाती। वास्तव में फलियों को चिटकने से बचाने के लिए पौधों की कटाई उसी समय प्रारम्भ कर देनी चाहिए जब कि फलियाँ पूर्णरूपेण परिपक्व हो गई हों। अल्पकालिक फसलें मध्य दिसम्बर तक कटाई के योग्य हो जाती हैं किन्तु मध्यम तथा दीर्घकालिक फसलों के पकने में अधिक समय लगता है और वे मार्च से मध्य अप्रैल तक काटी जाती हैं। काटने के पश्चात् पौधे बोझों में बाँध दिये जाते हैं और खलिहानों में जमा कर दिये जाते हैं। उत्तर प्रदेश में अरहर के बोझ खलिहान में न लाकर कुछ समय के लिए खेतों में ही साफ-सुथरे स्थान पर एकत्रित कर दिये जाते हैं और उन्हें खलिहानों में उस समय लाया जाता है जबकि पौधे पत्तियों और फलियों सहित बिल्कुल सूख जाते हैं। सूख जाने पर तने को डण्डों से पीटकर पत्तियाँ और फलियाँ पृथक कर लेते है। तनों को पीटते समय अधिक डंठल टूटने नहीं दिया जाता। डंठलों के अधिक होने से भूसा अच्छा नहीं हो पाता। पीटने के पश्चात् पत्तियाँ और फलियाँ एक ढेर में एकत्र कर लेते हैं और फिर बैलों की दाँय चला देते हैं। कुछ स्थानों पर बैलों की दाँय चलाने के लिए कटाई करते समय केवल फलियों वाली टहनियाँ ही काटी जाती हैं और उन्हें बोझों में बना कर खलिहानों में सूखने के लिए जमा कर दिया जाता है। १२-१३ दिनों

पश्चात् जब ये भली-भाँति सूख जाती हैं तो बैलों की दायँ चला देते हैं और उसाई कर दाना-भूसा पृथक कर लेते हैं।

उपज—अरहर की उपज जातियों और फसल के बोने के ढंग पर निर्भर करती है। अल्पकालिक फसल की प्रति एकड़ उपज १२-१५ मन और दीर्घकालिक फसल की २०-२५ मन प्राप्त होती है। मिश्रित फसल में यह उपज ४-५ मन प्रति एकड़ मिलती है। अय्यर के शब्दों में मैसूर में मिश्रित रूप में अरहर की प्रति एकड़ उपज ४०० से ६०० पौं० तक प्राप्त की जाती है। दानों के अतिरिक्त फसल से भूसा और डठल भी प्राप्त होते हैं जो किसानों के बड़े काम की वस्तु हैं। भूसा प्रायः दाने के परिमाण में प्राप्त होता है किन्तु डंठल की मात्रा एक एकड़ में १००-१२५ मन तक निकलती है।

उपयोग तथा खाद्य-अंश—अरहर की दाल भारत में अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। लोग प्रायः प्रत्येक दिन अपने भोजन में इसे सम्मिलित करते हैं। दाल के अतिरिक्त इसकी कढ़ी आदि वस्तुएँ बनाई जाती हैं। दाल का छिलका पशु बहुत चाव से खाते हैं। भूसा भी अन्य भूसे की भाँति पशुओं को खिलाया जाता है। डंठल टोकरी बनाने, छप्पर छाने, ईंधन आदि अनेक कार्यों में प्रयुक्त होता है।

अरहर के दाने से छिल्के उतारने के पश्चात् दो दालें मिलती हैं जिनकी दाल बनाई जाती है। छिलके भोजन में नहीं प्रयोग होते। दाल में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, चर्बी आदि पदार्थ निम्नलिखित परिमाण में उपस्थित होते हैं—

	कार्बोहाइड्रेट	प्रोटीन	चर्बी	कैल्शियम	लोहा	फास्फोरस	राख	नमी
दाल	५७·२	२२·३	१·७	०·१४	८·८	०·२६	३·६	१५·२
दाना	५६·४	२०·३	१·४				३·४	११·४

रोग और व्याधियाँ—अरहर के पौधे पर कई रोग और व्याधियाँ आक्रमण करती हैं। रोगों में उकठा रोग सबसे अधिक भयंकर होता है।

उकठा रोग (Wilt disease)—यह रोग एक प्रकार के फँफूदी द्वारा उत्पन्न होता है जिसे फ्यूजेरियम उडम (Fusarium udum) कहते हैं। इसका आक्रमण छोटे और बड़े सभी किस्म के पौधों पर होता है। यह फँफूदी भूमि में रहता है और

बिना अपने आश्रयदाता (host) के भी एक लम्बे काल तक भूमि में पड़ा रह सकता है। पौधों पर यह जड़ों द्वारा आक्रमण करता है और उनमें अपना प्रवेश कर सम्पूर्ण पौधे पर अपना प्रभाव डालता है। इस फँफूदी का आक्रमण वायु में उत्पन्न स्पोर (Wind borne spores) से भी होता है जो निकट के प्रभावित पौधे से आ जाते हैं किन्तु इस प्रकार का आक्रमण उसी समय होता है जबकि पौधे मौसम में देर से बोये गये रहते हैं। इस रोग के लक्षण तने के छिलके हटाकर सरलतापूर्वक देखे जा सकते हैं। इनका रंग काला पड़ जाता है और ये काली धारियों के रूप में नीचे जड़ों तक रहती हैं। इनका प्रारम्भ मुख्य जड़ों से होता है। जहाँ से प्रारम्भ होता है वह भाग बिल्कुल सड़ा पाया जाता है। मुख्य जड़ के सड़ने से पूरा पौधा मुरझा जाता है और उसका विकास बन्द हो जाता है। धीरे-धीरे पौधा सूख जाता है और कृषकों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है। ऐसा देखा जाता है कि खेत में पौधे रोग द्वारा स्थान-स्थान पर प्रभावित होते हैं। जहाँ एक पौधा रोगी होता है कि उसके पास कुछ टेढ़ी-मेढ़ी गोलाई के कई पौधे रोगी हो जाते हैं।

इस रोग की परिचर्या के लिए अभी तक कोई प्रभावकारी औषधि नहीं निकल पाई है। इसके लिए ऐसी किस्में अधिक लाभप्रद होती हैं जिन पर रोग का कोई प्रभाव न पड़ सके। ऐसी किस्में टाइप ५१ और टाइप ८० हैं जिन्हें उगाकर रोग से बचाव किया जा सकता है।

पत्तियों पर धब्बे लगना (Leaf spot)—इस रोग का प्रभाव बिहार और उत्तर प्रदेश में पाया जाता है। यह एक प्रकार के फँफूदी सरकोस्पोरा इण्डिका (Cercospora indica) द्वारा उत्पन्न होता है। रोग के उत्पन्न होने से पत्तियों पर धब्बे पड़ जाते हैं जिनके दिखाई देते ही रोग का प्रभाव जान लेना चाहिए।

पत्तियों के कीड़े (Leaf caterpillar)—व्याधियों में पत्तियों के कीड़े, फलियों के कीड़े और फलियों की मक्खियाँ अधिक भयंकर होती हैं। पत्तियों के कीड़े यूसिलस क्रिटिका (Eucelis crittica) के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। ये पौधे की ऊपरी पत्तियों पर ही प्रायः आक्रमण करते हैं और एक जाला बनाकर उन्हें एक झुण्ड में कर देते हैं। इनकी पहचान दूर से केवल जाले को देखकर ही की जा सकती है। इन्हें दूर करने के लिए पकड़ कर मारना एक सरल उपाय है।

फलियों के कीड़े (Pod Caterpillar)—ये कीड़े खेत में खड़े पौधों की फलियों पर आक्रमण करते हैं और उनके बीजों को बाहर से खा जाते हैं। इन्हें

इक्सेलास्टा पैरासाइटा (Exelasta Parasita) कहते हैं। इन्हें नष्ट करने के लिए पकड़ कर मार या जला देना चाहिए।

फलियों की मक्खियाँ—इसे म्यूसिडी एक्लीप्ट्रेटी (muscidoe acalyptratoe) नाम से पुकारते हैं। यह फलियों पर अपने लारवा (larva) द्वारा आक्रमण करती है जिसे मैगोट (maggot) कहते हैं या बीजों पर आक्रमण करता है और उन्हें खा कर अपना जीवन-निर्वाह करता है।

दाल तैयार करना—अरहर के दाने से दाल तैयार करने के लिए छिल्का पृथक कर दिया जाता है और तत्पश्चात् दाने की दो दालें हो जाती हैं। छिल्का पृथक करने और दाल तैयार करने के लिए दो विधियाँ प्रयोग की जाती हैं जो अधिक प्रचलित हैं।

अध्याय ११

उर्द

(Phaseoulus mungo)

यह फसल काले चने के नाम से प्रसिद्ध है। दाल की फसलों में इसका मुख्य स्थान है। यह हरे चने अथवा मूँग से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, किन्तु इसका वैज्ञानिक नाम कुछ इस प्रकार का है कि दोनों को पहचानने में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम फेजिओलश मूँगो (Phaseolus mungo) है जब कि मूँग फेजिओलस अरकस के नाम से प्रसिद्ध है।

मूल स्थान—उर्द का मूलस्थान भारतवर्ष ही माना जाता है। आजकल यह विश्व के ऊष्ण कटिबंधीय तथा शीतोष्ण कटिबंधीय अनेक देशों में उगाई जाती है। यह अफ्रीका के अनेक भागों, दक्षिणी यूरोप, दक्षिणी अमेरिका आदि स्थानों में प्रचुरता से उत्पन्न की जा रही है। यह सभी स्थानों पर दाल के ही लिए नहीं उगाई जाती बल्कि इसकी हरी खाद तैयार की जाती है तथा चारे के लिए भी पैदा किया जाता है। भारतवर्ष में इसे हरी खाद और दाल दोनों के लिए उत्पन्न किया जाता है। यह बंगाल, बिहार, और उत्तर प्रदेश में उत्पन्न की जाती है। उत्तर प्रदेश में इसका क्षेत्र फल ४½ लाख एकड़ है जिसमें से दाना लगभग १६ मन मिलता है।

भूमि—उर्द के लिए प्रायः भारी भूमि की आवश्यकता होती है। काली भूमि जहाँ इसकी खेती के अन्य साधन सुलभ हों, विशेष उपयुक्त होती हैं। दोमट भूमि मटियार तथा सिल्ट वाली भूमि में भी इसे सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। उन स्थानों पर जहाँ वर्षा अधिक होती है, वहाँ इसे धान के खेत में उगाया जाता है। धान के खेत में इसे धान की रोपाई के पूर्व हरी खाद की भाँति अथवा दाल के लिए फसल के कटने के पश्चात् उगाया जाता है।

जलवायु—उर्द की फसल भारतवर्ष में मुख्यतः खरीफ की फसल है और इसे मानसून के समय उगाया जाता है। किन्तु कुछ स्थानों पर इसे रबी में भी उत्पन्न

किया जाता है। जब इसे खरीफ में उगाते हैं तो इसकी दो फसलें ली जा सकती हैं, प्रथम अल्पकालिक फसल और दूसरी दीर्घकालिक। अल्पकालिक फसल मई और जून के महीने में तथा दीर्घकालिक जुलाई और अगस्त में तैयार की जाती है। उत्तरी और पूर्वी भारत में इसे खरीफ में ही उत्पन्न किया जाता है। रबी में इस फसल को पाले और निम्नतम तापक्रमसे अधिक भय रहता है, अतः इसे इन दिनों वहीं उगाते हैं जहाँ जाड़े में तापक्रम अधिक नीचे नहीं जाने पाता। रबी के लिए इसे फरवरी के महीने में बो देते हैं और मई के महीने में इनकी कटाई कर लेते हैं।

वानस्पतिक विवरण और जातियाँ—उर्द का पौधा लेगुमिनेसी कुल के पेपिलियोनसी सहकुल से सम्बन्ध रखता है। इसका पौधा छोटी झाड़ी रूप में होता है जिसकी ऊँचाई १ फीट से २ फीट तक पाई जाती है। यह फैलने वाली कोटि का वार्षिक पौधा है जिसके तने अच्छे सीधे और शाखा सहित होते हैं। शाखाएँ तथा तने लम्बे भूरे बालों से भरे होते हैं। इन्हीं बालों के कारण इसे कुछ देशों में ऊली पायराल (Wooly pirol) कहा जाता है। इस प्रकार के बाल (रोम) मूँग के पौधों में भी पाये जाते हैं, किन्तु अन्तर यह होता है कि उर्द के बाल अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं। पत्तियाँ बड़ी, रोयेंदार और ट्राइफोलिएट (trifoliate) होती हैं जिन पर एक पीले रंग की धारा (purple tinge) बनी रहती है। पत्तियों का रंग साधारणतया हरा से गहरा हरा होता है किन्तु मूंग की पत्तियों की अपेक्षा यह रंग हल्का पड़ता है। शाखाओं में फूल लगते हैं जो एक लम्बे रोयेंदार पेडंकिल पर होते हैं। फूल एक गुच्छे में होते हैं और एक गुच्छे में इनकी संख्या ५ से ६ होती है। फूलों में स्वयं सेचन तथा स्वयं गर्भाधान बहुधा ही पाये जाते हैं। परसेचन यदा-कदा हो जाता है। गर्भाधान के पश्चात् फलियाँ बनती हैं जिनकी लम्बाई २″ से ३″ तक होती है। फलियों का आकार लम्बा, सिलिण्डरिकल (Clinderical), दानेदार, रोयेंदार और थोड़ा झुका हुआ होता है। फलियों के भीतर बीज स्थित रहते हैं जिनका रंग काला या हरा होता है। ये छोटे होते हैं और इनके हाइलम उन्नतोदर (Concave) होते हैं जिससे इन्हें मूँग के बीजों से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है।

पौधे की जड़ें मूसला (Tap root System) होती हैं जिनकी सहायक जड़ें उथली या गहरी हो सकती हैं। जड़ों पर एक विशेष प्रकार की गाँठें होती हैं जो दाल वाली फसलों की एक विशेषता होती है।

उर्द का विभाजन सर्वप्रथम श्री आर० डी० बोस ने किया और इसे दो स्पेसीज में विभक्त किया—(१) फेजियोलस मुंगो वार नाइगर (Var niger)
(२) फेजियोलस मुंगो वार विरिडिस (Viridis)

नाइगर स्पेसीज के बीजों का आकार बड़ा और रंग काला होता है। यह जाति अधिक उपज देने वाली और शीघ्र तैयार होने वाली होती है। इसे हिन्दुस्तानी में उर्द कहा जाता है। इसे पौधों की बढ़वार, फूलों के रंग और बीजों के रंग आदि के आधार पर १० किस्मों में विभाजित किया जाता है। विरिडिस स्पेसीज के बीज छोटे आकार के और रंग में हरे होते हैं। यह जाति उपज कम देने वाली और देर में तैयार होने वाली होती है। इसे उर्दी कहा जाता है जो उर्द का अविकसित रूप है। उर्द की भाँति इसको भी १५ किस्मों में बाँटा गया है। अतः इस प्रकार उर्द की कुल २५ जातियाँ हो जाती हैं।

उर्द के क्षेत्र में परीक्षण (रिसर्च) का कार्य सन् १९३२ ई० में कानपुर में प्रारम्भ हुआ जिसमें स्थानीय जातियों में काले बीज वाली जाति टाइप २७ ही सर्वश्रेष्ठ चुनी गई। १९४३ ई० में लोगों का ध्यान इस ओर झुका कि उन्नत जाति को निम्नलिखित तीन गुणों से सम्पन्न होना चाहिए (१) शीघ्र तैयार होने वाली (२½ से ३ माह) (२) रोग निरोधक (disease resistant) तथा (३) अधिक उपज देने वाली। सन् १९४४ ई० में यह परीक्षण अधिक उत्साह के साथ किया गया और चुनाव के लिए १०० जातियाँ ली गईं। इस समय उर्द की तीन उन्नत जातियाँ अधिक प्रचलित हैं—टाइप २७, टाइप ९ और टाइप ७७। **टाइप २७** का चुनाव सिंध में किया गया। यह फैलने वाली तथा देर में तैयार होने वाली किस्म है। इसके तैयार होने में लगभग १३० से १४० दिन लगते हैं। इससे १०-१२ मन प्रति एकड़ की उपज प्राप्त की जाती है। **टाइप ९** का चुनाव बरेली में किया गया। यह शीघ्र तैयार होने वाली किस्म है और लगभग ९० दिनों में काट ली जाती है। इसकी औसत उपज ८-१० मन तक होती है। इस पर मोजैक रोग का कम प्रभाव पड़ता है। **टाइप ७७** फर्रुखाबाद का स्थानीय चुनाव (Selection) है जिसके बीज हरे रंग के होते हैं। यह देर में तैयार होने वाली जाति है और इसके तैयार होने में लगभग १३० दिन लगते हैं। इसकी उपज लगभग ८ मन प्रति एकड़ है।

खेत की तैयारी और बोआई—उर्द के खेत की तैयारी गेहूँ की भाँति वृहद रूप में नहीं की जाती बल्कि इसके लिए साधारण तैयारी ही यथेष्ट समझी जाती

है। देशी हलों की आर-पार की तीन जुताइयाँ खेत को तैयार करने में काफी होती हैं। मिट्टी को भुरभुरी बनाने के लिए आर-पार की प्रत्येक जुताई के पश्चात् एक पाटा दे देना चाहिए। यदि मिट्टी पलटने वाले हलों का प्रयोग किया जाय तो इनकी दो ही जुताइयाँ पर्याप्त होती हैं। इन जुताइयों के साथ एक बार हैरोइंग की जाती है और पाटा भी चलाया जाता है, जिससे खेत की भूमि भली-भाँति तैयार हो जाय।

खेत की तैयारी के पश्चात् इसे छिटकवाँ, हल के पीछे अथवा मशीन द्वारा बो दिया जाता है। प्रचलित विधि छिटकवाँ है किन्तु यह वैज्ञानिक नहीं है। हल के पीछे कूँड़ों की अथवा मशीन की बोआाई से पौधे पंक्तियों मे निश्चित दूरी पर बोये जा सकते हैं। जब खेत में पानी जमा हो जाने का भय रहता है तो इसकी बोआाई मेड़ों पर की जाती है। हरी खाद के लिए उगाने पर इसे प्राय: छिटकवाँ विधि से बोते हैं और खेत की तैयारी भी साधारण रूप में करते हैं। उर्द को जब दाल के लिए उगाते हैं तो इसे अकेले विशुद्ध फसल के रूप में न बोकर मिश्रित रूप में बोते हैं। इसका मिश्रण दाल वाली फसलों के साथ अरहर, सूत वाली, कपास, तेल वाली—अंडी, मिलेट जैसे ज्वार, बाजारा, साँवा, कोदो, और मक्का आदि के साथ किया जाता है और खेत की तैयारी तथा बोआाई उसी प्रकार की जाती है जैसे प्रधान फसल की होती है। इसे अल्पकालिक रूप में जून के मध्य से लेकर जुलाई के प्रथम सप्ताह तक बो देते हैं। किन्तु जब यह कैच क्राप (Catch crop) की भाँति उत्पन्न की जाती है तो इसकी बोआाई अप्रैल-मई के माह में कर दी जाती है। इस समय की फसल जायद के नाम से भी पुकारी जाती है।

उर्द जब विशुद्ध फसल के रूप में बोयी जाती है तो बीज की मात्रा ४-६ सेर होती है किन्तु यह मात्रा कतारों में बोआाई करने पर ही लगती है। छिटकवाँ विधि से बोने पर अधिक बीज लगता है और मात्रा ६ से ८ सेर तक लगती है। मिश्रण रूप में इसकी मात्रा २-३ सेर पर्याप्त होती है।

उर्द को जब चारे के लिए उत्पन्न किया जाता है तो इसे प्राय: छिटकवाँ विधि से ही बोते हैं और पौधे की दूरी पर ध्यान नहीं देते। किन्तु बोआाई में जब वैज्ञानिक विधियों का आश्रय लेते हैं तो पंक्ति से पक्ति की दूरी १५" और पौधों से पौधों की दूरी ६-१२" या इससे भी कम रखी जाती है। दाल या दाने के लिए बोने पर पंक्ति से पंक्ति की दूरी १८" से २४" और पौधे से पौधे की दूरी १० से १२" होती है और इनकी बोआाई हल के पीछे अथवा मशीनों द्वारा की जाती है। मेंड़ों पर

बोने पर मेड़ों की ऊँचाई ४-५" रखी जाती है। जब उर्द को मिश्रण रूप में बोया जाता है तो इसे मिश्रण के अनुसार दूरी रख कर पंक्तियों में बोया जाता है। मक्का और कपास के साथ बोने पर इसकी पंक्तियाँ २' की दूरी पर बनाई जाती हैं और बीज उन्हीं में लगा दिये जाते हैं।

निराई-गुड़ाई—उर्द के पौधे जब छोटे होते हैं तो उस समय खेत की निराई-गुड़ाई करनी आवश्यक होती है। पहली निराई बोआई के ४-५ सप्ताह पश्चात् करनी चाहिए। इसके पश्चात् आवश्यकता समझ कर निराई-गुड़ाई की क्रिया दुहराई जा सकती है। यह क्रिया खुरपी, हो (निरायक) अथवा कल्टिवेटर से की जाती है। खुरपी तथा हो में मजदूर लगाये जाते हैं और कार्य हाथ द्वारा किया जाता है। इस विधि में परिश्रम और व्यय अधिक पड़ता है। कल्टिवेटर बैलों द्वारा चलाये जाते हैं जिससे परिश्रम और व्यय दोनों की बचत होती है किन्तु कल्टिवेटर वहीं चलाये जाते है जहाँ बीज की बोआई पंक्तियों में का गई होती है। छिटकवाँ विधि से बोआई करने पर निराई-गुड़ाई करने में खुरपी ही उपयुक्त समझी जाती है। चारे की फसल में निराई-गुडाई की अधिक आवश्यकता नहीं होती। यही बात हरी खाद के लिए बोयी गई फसल में भी होती है।

कटाई—उर्द की फसल अपनी किस्म के अल्पकालिक, मध्यम और दीर्घ-कालिक गुणों के अनुसार २½ से तीन महीने में तैयार हो जाती है। अल्पकालिक किस्में अगस्त-सितम्बर में पकने लगती हैं किन्तु दीर्घकालिक के पकने में देर लगती है और वे अक्टूबर से नवम्बर तक तैयार होती हैं। फसल की कटाई फलियों के पूर्णरूपेण पकने के पूर्व ही कर दी जाती है क्योंकि अधिक पक जाने पर फलियों के बिखरने का भय रहता है। पौधे हँसिया द्वारा भूमि की सतह से २-३" ऊपर से काटे जाते हैं और बोझ बनाकर खलिहान में जमा कर दिये जाते हैं। जब खलिहान में जमा किये गये पौधे भली-भाँति सूख जाते हैं तो बैलों की सहायता से दायँ चला कर दाने पृथक कर लिये जाते हैं। कभी-कभी नम भूमि में उर्द की कटाई हँसिया से न कर हाथ से ही उखाड़ लिया जाता है। ऐसी स्थिति में दँवाई के पूर्व जड़ें अलग कर देना अच्छा होता है क्योंकि जड़ों में मिट्टी लगी होती है और दँवाई करते समय वे दानों में मिल जाती हैं। दाने साफ करने के पश्चात धूप में भली-भाँति सुखाये जाते हैं और तत्पश्चात् संचित कर दिये जाते हैं।

उपज—साधारण स्थिति में उर्द के दाने की उपज लगभग ५-६ मन होती है।

उन्नत जातियों में उपज अधिक मिलती है और यह प्रति एकड़ ८ से १० मन तक पाई जाती है। चारा प्रति एकड़ १५-२० मन प्राप्त होता है। दाने की औसत उपज २५० पौ० प्रति एकड़ है।

उपयोग—भोजन में इसे दाल के रूप में अधिकता से प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त इसे दही-बरे, पकौड़ियाँ, परवर आदि बनाने में भी काम में लाया जाता है। दाल के रूप में औषधि के दृष्टिकोण से इसका अधिक महत्व है। इसे लकवा के रोग में इस्तेमाल किया जाता है क्योंकि इसमें इसे दूर करने की शक्ति होती है। स्वर्णकारों की दुकानों में यह 'माशा' के रूप में काम आता है। लगभग ६६० माशे (दाने) का एक सेर होता है। उर्द में फास्फोरस का अधिक अंश उपस्थित होता है। दाने के अतिरिक्त इसकी पत्तियाँ शाखाएँ और जड़ें भी खाद, बैलों को खिलाने तथा ईंधन के लिए प्रयुक्त होते हैं।

अध्याय १२

गन्ना

(Sugarcane-Saccharum Species)

गन्ना को संसार की मुख्य फसलों में आज एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह चीनी का एक मुख्य स्रोत है। इससे विश्व को प्रति वर्ष २०० लाख टन से अधिक सुक्रोज प्राप्त होता है। यद्यपि विश्व में चीनी के स्रोत गन्ने के अतिरिक्त खजूर, शकरकन्द, मीठा ज्वार आदि भी हैं और इन्हें एक बहुत बड़े परिमाण में उत्पन्न भी किया जाता है किन्तु विश्व को चीनी के सम्पूर्ण उत्पादन का लगभग ६६% गन्ने से ही प्राप्त होता है। गन्ना ऐसी फसल नहीं है जिसपर मनुष्य अपना जीवन निर्वाह कर सकता है। आज के कुछ शताब्दियों पूर्व यूरोप के लोग इसे एक विलासिता की वस्तु समझते थे किन्तु आज इसका महत्व इतना बढ़ गया है कि इसे सन्तुलित भोजन का एक अंग माना जाने लगा है।

मूलस्थान और इतिहास—यद्यपि गन्ना के मूलस्थान का निश्चित निर्धारण आज तक नहीं हो पाया है किन्तु लोगों का ऐसा विश्वास है कि इसका जन्मस्थान पूर्व में ही कहीं है। भारतवर्ष में गन्ने की खेती अत्यन्त प्राचीनकाल से होती आ रही है। ३,००० ई० पू० में लिखे गये वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख है। ८वीं शताब्दी ई० पू० के चीनी विद्वानों के लेखों से पता चलता है कि चीन को गन्ने और उसकी खेती का ज्ञान भारतवर्ष से ही प्राप्त हुआ। ३२७ ई० पू० में सिकन्दर के एक सेनापति नरकुस ने लिखा था कि सिन्ध नदी के पार असभ्य और जंगली लोग बिना मधुमक्खियों की सहायता के नरकुल के पौधे से रस के मधु उत्पन्न कर सकते हैं। यह भी पता चलता है कि सिकन्दर महान् यूनान लौटते समय गन्ना अपने देश ले गया था। प्राचीनकाल के संस्कृत ग्रन्थों में ईख को इक्वा, इक्षु या इक्षुरा, तथा चीनी को शर्करा या शक्कर कह कर पुकारा गया है। डाक्टर बार्बर (Dr. Barber) का

विश्वास है कि भारतीय गन्ने का मूलस्थान भारत के पूर्वी नम भागों में (बंगाल और आसाम) कांस (Saccharum Spontaneum) जैसे किसी पौधे से हुआ है। उनका यह भी कथन है कि गन्ने की उष्ण कटिबन्धीय किस्म ओसीयाना के बड़े प्रायद्वीप अथवा न्यूगाइना में सर्वप्रथम उत्पन्न की गई। इसी आधार पर लोगो का कहना है कि भारतीय और उष्ण कटिबन्धीय गन्ने की किस्में एक दूसरे से बिना किसी लगाव के स्वतन्त्र रूप से पूर्व के विभिन्न भागों में उगीं और बाद में सम्पूर्ण विश्व में फैल गईं। लगभग ६०० ई० में चीन में गन्ने की खेती नहीं होती थीं अथवा होती भी थी तो लोगों को चीनी बनाने का ज्ञान नहीं था, क्योंकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि तत्कालीन चीनी सम्राट तासेन हैंग अपने कुछ लोगों को चीनी बनाने की कला सीखने के लिए बिहार भेजा था। इस प्रकार भारत में गन्ने की खेती और चीनी बनाने के व्यवसाय की प्राचीनता का पता चलता है। किन्तु आजकल अधिक लोगों का यह विश्वास है कि गन्ने का मूल प्रशान्त महासागर के प्रायद्वीप में है जहाँ से यह विश्व के अनेक भू-भागों पर लाया गया। सर्वप्रथम यह एशियाई भागों—मुख्यतः भारतवर्ष, चीनी के दक्षिणी भाग और पड़ोसी देशों में पहुँचा। तत्पश्चात यह फारस होते हुये पूर्व मध्य के देशों प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड, मिश्र और उत्तरी अफ्रीका में लाया गया। इसी समय गन्ना यूरोप के कुछ देशों जैसे इटली और स्पेन में उगाया गया। गन्ना की खेती धीरे-धीरे वेस्ट इन्डीज के प्रायद्वीप में भी प्रारम्भ हो गई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यहाँ इसे लाने का श्रेय कोलम्बस को है जो लगभग १४०३ ई० में यहाँ पहुँचा था। जमायका में इसकी खेती उस समय से प्रारम्भ हुई जब लगभग १६५५ ई० में वहाँ अंग्रेज लोग पहुँचे। जावा में इसका समारम्भ १६ वीं शताब्दी से होता है। यद्यपि आज गन्ने की खेती विश्व के अनेक देशों में बड़े पैमाने पर की जा रही है। किन्तु भारत में इसका क्षेत्रफल गन्ना उगाने वाले किसी भी अकेले देश से अधिक है।

वितरण—गन्ने की खेती विश्व के अधिकतर उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में की जाती है, इसीलिए इसे उष्णकटिबन्धीय फसल के नाम से सम्बोधित किया जाता है। किन्तु यह शीतोष्ण कटिबन्धीय भागो में भी सफलतापूर्वक उगाई जाती है। इसके क्षेत्र मोटे तौर पर ३२° उतरी अक्षांश से ३०° दक्षिणी अक्षांश के बीच पड़ते हैं जिसमें दक्षिण, भारत, सुमात्रा, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका और जावा सम्मिलित होते हैं। कुछ भागों में इसे १०° अक्षांश उतरी से ४०° अक्षांश दक्षिणी तक भी उत्पन्न

किया जाता है। इस भाग में उत्तरी भारत, दक्षिणी चीन और फिलिपाइन आते हैं। इन देशो के अतिरिक्त इसकी खेती आस्ट्रेलिया में भी होती है। नीचे की सारिणी में गन्ने की खेती करनेवाले देशों में इसका क्षेत्रफल और विश्व के क्षेत्रफल का प्रतिशत दिया जा रहा है।

देश	क्षेत्रफल (१० लाख एकड़ में)	प्रतिशत (विश्वके क्षेत्रफल का)
भारतवर्ष	३.६३	२८.५
क्यूबा	३.६६	६.०
ब्राजील	१.६४	१२.०
अर्जेन्टाइना	०.६०	३.५
फिलिपाइन	०.४७	२.८
मैक्सिको	०.४३	२.५
पोर्टोरिको	०.३४	२.०
संयुक्तराज्य अमेरिका	०.३१	१.८
फार्मोसा	०.३	१.८
आस्ट्रेलिया	०.२६	१.७
दक्षिणी अफ्रीका	०.२०	१.१
मारुतियस	०.१५	०.६

भारत में गन्ने का क्षेत्रफल और गुड़ का उत्पादन इस प्रकार है—

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उपज (हजार टन में)			
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-१९५७		१९५५-१९५६	
			गन्ना	गुड़	गन्ना	गुड़
आन्ध्र प्रदेश	१७५	१७५	५,०७४	५०७	५,१५६	५१६
आसाम	६३	६४	६६६	६७	६६२	६६
बिहार	४०५	३७८	४,०९९	४१०	२,९१९	२९२
बम्बई	२४४	२१७	५,९६७	६२१	५,३२४	५५३
जम्मू काश्मीर	३	३	९	१	९	१
केरल	१९	१८	३५३	३५	३३१	३३
मध्यप्रदेश	१०६	१००	१,२८९	१२९	१,१५०	११५
मद्रास	१२९	१२१	३,४१०	३७३	३११२	३४१
मैसूर	१२३	११७	३,०९४	३०९	२,८९७	२९०
उड़ीसा	५६	५६	९१८	९२	९१८	९२
पंजाब	४८७	४५२	५,३८५	५३९	५,५६४	५५६
राजस्थान	८२	६५	५७२	५७	४५३	४५
उत्तर प्रदेश	३,०५०	२,७२०	३४,७८३	३,४७८	२९,४००	२,९४०
पश्चिमी बंगाल	५७	६२	१,११०	१११	१,२९३	१२९
दिल्ली	१०	७	७०	७	५०	५
हिमाचल प्रदेश	३	३	१८	२	१६	२
त्रिपुरा	७	६	७३	७	६२	६
कुल	५,०१९	४,५६४	६६,८९०	६,७४५	५९,३१७	५,६८२

सारिणी को देखने से पता चलता है कि भारतवर्ष में सब से अधिक गन्ना उत्पन्न करनेवाला राज्य उत्तरप्रदेश है जहाँ १९५६-५७ का अनुमानित क्षेत्रफल ३०५० हजार एकड़ और उपज गन्ने में ३४,७८२ हजार टन तथा गुड़ में ३,४७८ हजार टन है। उत्तरप्रदेश का गन्ने का क्षेत्रफल भारतवर्ष के गन्ने के कुल क्षेत्रफल का लगफल ६०० है। उत्तरप्रदेश के पश्चात पंजाब और बिहार का नम्बर आता है। उत्तरप्रदेश को गन्ने के क्षेत्रफल के हिसाब से हावर्ड ने तीन विभागों में विभाजित किया है जहाँ

गन्ने की उपज कृषि की कुल उपज से ५% से अधिक क्षेत्र पड़ती है। प्रथम, विभाग में सहारनपुर, मुजफ्फर नगर, बिजनौर, मेरठ और बुलन्द शहर सम्मिलित होते हैं जो गंगा और जमुना के किनारे बसे हैं। गन्ने का दूसरा क्षेत्र बरेली और पीलीभीत का है। तीसरे विभाग में गोरखपुर, फैजाबाद, आजमगढ़, जौनपुर और बलिया आते हैं।

मिट्टी—गन्ने की खेती साधारणतः दोमट अथवा भारी दोमट में अच्छी होती है। हल्की भूमि में इसे तभी उगाया जा सकता है जब कि भूमि में जीवांश और नमी का आधिक्य हो। इसे दक्षिण की काली भूमि, लाल भूमि और सिन्ध-गंगा के मैदान की अलूवियल भूमि से लेकर राजस्थान की बलुई भूमि तक में उगाया जा सकता है किन्तु बलुई भूमि में इसकी अच्छी उपज उसी स्थिति में ली जा सकती है जबकि उसमें जीवांश की मात्रा अधिक हो और नमी का भी कोई अभाव न हो। जिस बलुई भूमि में जीवांश पदार्थों तथा नमी की कमी हो, उसमें इन्हें बाहर से मिलाकर गन्ने की सफल खेती की जा सकती है। इसके लिए सर्वोत्तम भूमि दोमट से चिकनी तक मानी जाती है जो उत्तर भारत के मैदान में मिलती है। श्री हावर्ड ने उत्तरप्रदेश को गन्ने की उपज के आधार पर तीन भागों में विभाजित करते हुये कहा है कि देश में नदियों के विभाजन और अधः तल के जलस्तर की स्थिति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि इन तीनों भागों में भूमि की नमी की दशा ऐसी है कि गन्ने की जड़ों के बढाव में सहायता करती है और इस प्रकार फसल के लिए आवश्यक सिंचाई में कमी हो जाती है। गन्ना उत्तरप्रदेश के तराई भाग में बहुत अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है जहाँ कि भूमि में नमी की बहुलता होती है। अतः इसके लिए नमी की अधिक आवश्यकता होती है किन्तु निचली भूमि जहाँ पानी जमा हो जाता है इसकी खेती के योग्य नहीं मानी जाती। ऐसी भूमि में पौधों का उपयुक्त बढ़ाव नहीं हो पाता। इसी प्रकार ऊँची भूमि जहाँ पानी रुकता ही न हो इसे नहीं उगाया जा सकता। हल्की और बलुवार भूमि में फसल के गिरने का भय रहता है क्योंकि भूमि में चिपकनाहट-शक्ति का अभाव सा रहता है। गोरखपुर की भूमि प्रयोगों के आधार पर तीन भागों में बाँटी गई है। यह विभाजन भूमि की अम्लीयता और क्षारीयता पर निर्भर करता है। इन भागों में गन्ने की भिन्न-भिन्न उन्नत जातियाँ उगाई गईं और इस प्रकार इस बात का पता लगाया गया कि कौन जाति किस भाग में सफल उपज दे सकती है। वहाँ के तीन भागों के लिये निम्नलिखित जातियों के उगाने की सिफारिश की गई है—

है। दक्षिण भारत में इसे २५" से १००" तक की औसत वर्षा वाले स्थान पर उत्पन्न किया जाता है।

गन्ने को नमी और शुष्क जलवायु की भी आवश्यकता होती है। नमी शुष्क मौसम के कुछ अन्तर पर मिलनी चाहिए। नमी का पौधे की वृद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शुष्क मौसम में उसे गर्मी उपलब्ध होती है। पौधे के लिए गर्मी की निश्चित इकाई की जरूरत होती है और जब यह गर्मी मिल जाती है तो पौधे पकना प्रारम्भ कर देते हैं। गर्म स्थानों में गर्मी की यह इकाई सर्द स्थानों की अपेक्षा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है, अतः पौधे शीघ्र परिपक्व स्थिति में आ जाते हैं। गर्मी की मात्रा मिलने के आधार पर गन्ने का वृद्धिकाल निश्चित होता है। भारतवर्ष में यह काल १० से १२ माह तक होता है। सर्द स्थानों में यह काल अधिक हो सकता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से उचित नहीं जान पड़ता। ए० के० अय्यर का कथन है कि गन्ने के लिए जलवायु ऐसी होनी चाहिए जो शीघ्र तैयार होने वाली जातियों की भाँति कम से कम १० माह तक लगभग वृद्धि के अवसर प्रदान करे जबकि इस अवधि में पाले अथवा अत्यधिक सर्दी का आक्रमण न हो। अत्यधिक सर्दी वृद्धि रोक देती है और पाला खड़ी फसल को विनष्ट कर डालता है, अतः गन्ना ऐसी अवस्था में अपनी अवधि के समाप्त करने के पूर्व ही काट लेना चाहिए और यदि पाले अथवा अधिक सर्दी का पड़ना जारी रहे तो कटे हुये गन्ने को बचाने के लिए मिट्टी या किसी ऐसी ही प्रकार की वस्तु से ढँक देना चाहिए जिससे किसान को कोई हानि न उठानी पड़े। अतः ऐसे स्थानों पर जहाँ पाले और अत्यधिक सर्दी पड़ने के अधिक अवसर हो तो गन्ने की फसल उगानी ही नहीं चाहिए क्योंकि सभी सावधानियाँ रखते हुए भी थोड़ी-सी भूल हो जाने पर किसान को अधिक क्षति उठाना पड़ सकती है।

विभाजन और जातियाँ—इनफ्लोरेसेन्स में देशों के वितरण के आधार पर गन्ने को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

१. इनफ्लोरेसेन्स जिसकी धुरी पर कोई रेशे न हो—नोबुल गन्ने (Noble canes)

सैकरम अफीसिनेरम (Sacchrum officinarum)

२. इनफ्लोरेसेन्स जिसकी धुरी पर बड़े-बड़े रेशे हों।

(अ) सीलिएट (Ciliate) लाडिक्यूल वाले—सैकरम स्पान्से-नियम—कांस—यह गन्ने का जाला रूप है।

(ब) नान-सिलिएट (non-ciliate) लाडिक्यूल वाले—

(i) जिसकी पत्तियाँ संकरी हों—सैकरम बारबेरी (S. barberi)—सरेथा और मुन्नाबाइल (सरेथा और चुन्नी)

(ii) जिसकी पत्तियाँ चौड़ी हों—सेकरम साइनेन्सी (S. sinense)—पंजाबी, मुंगों (uba), नारगोरी।

नोबुल गन्ने (Noble canes)—ये गन्ने, जैसा कि पहले ही कहा गया है, सैकरम आफीसिनेरम (Saccharum officinarum) के नाम से विख्यात हैं। इनकी खेती मुख्यतः उत्तर भारत में होती है जहाँ इन्हें पौंडा के नाम से पुकारा जाता है। ये गन्ने अधिक मुलायम होते हैं जिससे इन्हें मुख्यतः चूसने के लिए प्रयोग किया जाता है। देखने में इनका आकार मोटा होता है और इनमें सुक्रोज का अश भी अधिक होता है। चूँकि यह चूसने के लिए उत्पन्न किया जाता है, अतः इसकी खेती अधिक परिणाम में नहीं की जाती। इसे शहरो के निकट बोते हैं और जब इनमें सुक्रोज की थोड़ी मात्रा भी पड़ जाती है तो इनकी कटाई धीरे-धीरे प्रारम्भ कर देते हैं।

इस श्रेणी के गन्ने की पत्तियाँ चोड़ी और जड़ें छिछली होती हैं। इनका रग चमकीला होता है और इनमें रेशे (fiber) बहुत कम होते हैं किन्तु रस बहुत अधिक पाया जाता है। ये कोमल इतने होते हैं की इन पर अनेक बीमारियों का आक्रमण होता है। मोजेक (mosaic) रोग इस श्रेणी के गन्नों पर अधिक पाया जाता है। उष्ण कटिबंधीय जलवायु में ये गन्ने सरलतापूर्वक बढते हैं और अच्छा उपज देते हैं।

पंजाबी—यह गन्ना भारतवर्ष में सब जातियों से अधिक क्षेत्रफल में उगाया जाता है। इसे 'गन्ना' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह पंजाब से लेकर आसाम तक उत्पन्न होता है। इस किस्म का गन्ना औसत मोटा होता है। सेट से निकलने वाली शाखाएँ सीधी और मजबूत होती हैं। गन्ने का वाह्य भाग टेढ़ा-मेढ़ा और अन्दर का भाग सीधा होता है। गाँठें और पोर मौजूद रहते हैं। पोर लम्बे होते हैं। पजाब में इस श्रेणी को 'काहू' और गन्ने को उबा (uba) कहते हैं।

सरेठा—गन्ने की यह श्रेणी सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित है किन्तु भिन्न स्थानों पर इसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। उत्तरप्रदेश और पश्चिम भारत में इसे

सरेठा और चीन, पंजाब में काठा, बंगाल में काहरी, मैसूर में गन्दा चेनी और पश्चिम घाट में हुलू काबू नाम से सम्बोधित करते हैं। इस श्रेणी के गन्ने विभिन्न दिशाओं में वृद्धि करते हैं और कभी-कभी पृथ्वी पर चपटे रूप में पड़ जाते हैं। इसके पोर लम्बे होते हैं और सीधे न होकर टेढ़ी-मेढ़ी अवस्था में देखे जाते हैं। ये मोटे होते हैं और इनकी मोटाई समान होती है। पत्तियाँ सिरे पर थोड़ा झुकी होती हैं। उत्तर भारत में पाई जाने वाली इस श्रेणी की जातियाँ पतले तने वाली होती हैं। इस श्रेणी के कुछ गन्ने पकने पर लाल और भूरे तने वाले हो जाते हैं और कुछ हरे रहते हैं। तने के इस गुण के कारण इन्हें दो उपविभागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम, हरे तने और दूसरे, लाल-भूरे तने। प्रथम उपविभागों में गन्दाचेनी, काहरी और हुलूकाबू आते हैं। दूसरे उपविभागों में सरेठा, कत्था और चीन सम्मिलित होते हैं। हरे तने वाले गन्ने सूनाबाइल श्रेणी के गन्ने से अधिक मिलते-जुलते हैं। लाल-भूरे गन्ने अन्य गन्नों की अपेक्षा अधिक तीव्रता से वृद्धि करते हैं।

सुनाबाइल (Sunnabile)—पंजाबी श्रेणी के गन्ने की भाँति इस श्रेणी के गन्ने भी भारतवर्ष में पंजाब से आसाम तक उत्पन्न किये जाते हैं। इन्हें बम्बई, मद्रास और मध्यभारत में भी उगाया जाता है। पंजाब में इन्हें धालू और आसाम में इन्हें मोजोरा नाम से जाना जाता है। बम्बई में इस श्रेणी के गन्ने को सुना-बाइल के नाम से ही पुकारते हैं। मद्रास और मध्यभारत में इन्हें क्रमशः नानल (naanal) और धोर (Dhor) कहा जाता है। इस श्रेणी के गन्ने शाखाएँ बहुत कम उत्पन्न करते हैं और जो निकलती हैं वे सीधी और पास-पास होती हैं। तने सीधे और समान होते हैं। गाँठों का रंग सफेद होता है।

मूंगो—यह श्रेणी भी उत्तर भारत में अधिक प्रचलित है। इनके तने शाखा-दार, पोर और गाँठों सहित होते हैं। तने समान मोटाई के और छोटे पोर वाले होते हैं। गाँठें बड़ी होती हैं। उन पर आँखें काली रङ्ग की होती हैं जो नया पौधा तैयार करने की शक्ति रखती हैं। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि इस श्रेणी के गन्ने झाड़ीदार और बौने किस्म के होते हैं। किन्तु यह गुण स्थान-स्थान पर बदलता हुआ देखा जाता है। तने का रंग हरा होता है। पत्तियाँ सँकरी चौड़ाई वाली और लम्बी शीथ वाली होती हैं।

नारगोरी—इस श्रेणी के गन्ने उत्तर भारत में उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य भारत में पाये जाते हैं। किन्तु यह इन राज्यों में पंजाबी की भाँति प्रचलित नहीं हैं।

इन्हें अन्य गन्नों से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। क्योंकि इसके सिरे पर ही छोटी और चौड़ी पत्तियाँ रहती हैं। इसके तने पतले और सीधे होते हैं। गाँठें अधिक और मजबूत होती हैं। तने का रंग ताँबे के रंग का और भूरा होता है।

गन्ने की गवेषणा—गन्ने की उन्नति का कार्य सम्भवतः सन् १९१२ से प्रारम्भ हुआ जबकि कोयम्बटूर में केन्द्रीय सुगरकेन ब्रीडिंग स्टेशन स्थापित हुआ। इस स्टेशन का सूत्रपात इस उद्देश्य से हुआ था कि यहाँ देश के प्रत्येक भाग के गन्ने की उन्नति का अध्ययन किया जायगा। कोयमबटूर में इस केन्द्र के स्थापित करने का एकमात्र कारण यह था कि वहाँ के गन्ने उस जलवायु में फूल और बीज उत्पन्न करने की शक्ति रखते थे और जैसा कि हमें ज्ञात है, गन्ने का अधिकांश क्षेत्रफल उत्तर भारत में ही है अतः कोयम्बटूर में ऐसी ही जातियों के सूत्रपात पर जोर दिया गया जो उत्तर भारत की जलवायु के लिए ठीक हों। इस स्टेशन पर थोड़े ही दिनों में इतनी तीव्रता से कार्य हुआ कि भारतवर्ष के अनेक भागों के लिए गन्ने की उन्नति जातियाँ निकाल ली गईं। इसके साथ ही आई० सी० ए० आर० की सब कमेटी ने जिसके जिम्मे भारतवर्ष में चीनी के व्यवसाय की उन्नति का भार दिया गया था, काफी योग दिया। सन् १९३२ ई० में कौन्सिल की सिफारिशों के अनुसार भारत की सरकार ने सुगर इन्डस्ट्री (प्रोटेक्शन) ऐक्ट पास किया जिसका उद्देश्य था—ब्रिटिश भारत में चीनी के व्यवसाय की प्रगति करना। १९३१-३२ में भारतवर्ष में केवल २३ चीनी की फैक्ट्रियाँ थीं। किन्तु इस ऐक्ट के प्रोत्साहन से १९४५-४६ में इनकी संख्या बढ़कर १५० हो गई। इसी समय कोयम्बटूर में रायबहादुर सर टी० यस० वैंकट रमन की अध्यक्षता में सुगरकेन रिसर्च स्टेशन कोयम्बटूर ने भी काफी योग दिया। इसके सहयोग से चीनी व्यवसाय को अधिक उपज देने वाली और अधिक चीनी की मात्रा रखने वाली उन्नत जातियाँ प्राप्त हुईं, जो विभिन्न जलवायु में भी अच्छी उपज देने की क्षमता रखती थीं। इनके योग से कोयम्बटूर और अन्य उन्नत गन्नों के क्षेत्रफल में भी अधिक वृद्धि हुई। यह क्षेत्रफल १९३० में ८,००,००० एकड़ था जब कि १९३७ में केवल सात वर्षों के पश्चात् यह ३०,००,००० एकड़ हो गया। गन्ने के कुल क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई। यह क्षेत्रफल सन् १९३० में २९,००,००० एकड़ था। १९४५-४६ में यह बढ़कर ४४,००,००० एकड़ हो गया जिनमें लगभग ९२% क्षेत्र में उन्नत गन्ने उगाये जाते थे।

जैसा कि हमने अभी कहा है, कोयम्बटूर में भिन्न-भिन्न राज्यों की भूमि और

जलवायु का विचार रखते हुए नई जातियाँ निकाली गईं। ये जातियाँ अब कृषि विभाग द्वारा स्वीकृत हैं।

पञ्जाब क्षेत्र में—इस क्षेत्र में निम्नलिखित कोयम्बटूर जातियाँ प्रचलित हैं। प्रचलन के साथ ही इन जातियों का महत्व अधिक बढ़ गया और इस समय वे गन्ने के कुल क्षेत्रफल का अधिकांश ढके हुए हैं। कोयम्बटूर जातियाँ सक्षेप में CO. नाम से सम्बोधित की जाती हैं। ये हैं CO. २०५., CO. २१३., CO. २२३ CO. ३०००. CO. ३१२.

CO. २०५—यह जाति जंगली गन्ना—कॉस और बेलाई के संयोग से निकाली गई है। कॉस एक घास है जो गन्ने से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस जाति का गन्ना बहुत सख्त होता है, इसीलिए सीधा खड़ा रहता है। प्रतिकूल अवस्थाओं में भी यह शीघ्र प्रभावित नहीं होता। मानसून के दिनों में इसका बढ़ाव बहुत तीव्रगति से होता है। पोर और गाँठ सामान्य रूप से पाई जाती हैं। पोर लंबे होते हैं और कलियाँ चौड़ी, छोटी अथवा औसत आकार की होती हैं। ये गन्ने भारी-भूमि में पुत्तियाँ सफलतापूर्वक उत्पन्न करते हैं। किन्तु ये सदैव सीधे न जाकर कभी-कभी भूमि पर रेंगते हुए पाये जाते हैं। तने के सख्त होने के कारण रस कम निकलता है। तने का रंग हरा होता है, कभी-कभी पोर के आधार पर पीले किस्म की धारी भी दिखलाई पड़ती है। प्रायः प्रत्येक पोर में दरारें पाई जाती हैं, जो इसका एक अवगुण है। यह गन्ना अधिक प्रचलित नहीं है।

CO. २२३—यह गन्ना चित्तन और नानल के संयोग से उत्पन्न किया गया है। इसकी जड़ें सफेद होती हैं किन्तु वह स्थान जहाँ से प्रांकुर निकलते हैं, पीला होता है। तने का रंग हल्का गुलाबी लिए हुये पीला होता है। इस पर कभी-कभी मोम की जमावट भी पाई जाती है। पोर ऊपर की ओर पतले होते हैं। इसपर फटने का चिह्न पाया जाता है। कभी-कभी दरारें भी पाई जाती हैं।

Co. ३००—यह गन्ना Co. २१३ और P. o. J. १४१० के मेल से निकाला गया है। यह औसत मोटाई का गन्ना है। इसका छिलका औसत दर्जे का सख्त होता है। पौधा साधा पाया जाता है। इसमें सुक्रोज का प्रतिशत १७ पाया जाता है। पोर और गाँठें अन्य गन्नों की भाँति ही पाई जाती हैं। पोर की लम्बाई ४″ के लगभग होती है। जो अन्य गन्नों की अपेक्षा कम है। आधार की ओर गाँठों से कभी-कभी जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं जो वायु वाली जड़ें कही जाती हैं। इस गन्ने

में फटाव नहीं होता। किन्तु सूखा से इसे भारी क्षति पहुँचती है। इन कोयम्बटूर जातियों के अतिरिक्त यहाँ Co. २४४ और २८५ भी प्रचलित हैं। यहाँ कुछ देशी जातियाँ भी उगाई जाती हैं जिनमें मुख्य काथा, लालरी, सरेथा, आदि हैं।

पञ्जाब में देर में तैयार होने वाली जातियों में Co. ३१२ और शीघ्र तैयार होने वाली जातियों में Co. ३१३ मुख्य हैं जिनमें गुड़ अधिक पड़ता है। अन्य जातियाँ CoL २६ और Co. ४५३ है। CoL जातियाँ पञ्जाब के लुधियान केन्द्र पर कोयम्बटूर जातियों द्वारा निकाली गई हैं।

उत्तर प्रदेश में—उत्तर प्रदेश में निम्नलिखित कोयम्बटूर जातियाँ बड़े जोर-शोर से उगाई जा रही हैं। Co. २१३, Co. २६०, co. ३१२, co. ३१३, co. ३३१, co. ३५६, co. ३६३, co. ३७०, co. ३४६ आदि हैं।

CO. २१३—यह जाति P.O.J २१३ और कन्सार जाति के गन्ने के संयोग से निकाली गई है। यह सीधी जाति है और मोटाई में औसत दर्जे की होती है। तने का रंग पीला होता है और पोर के ऊपरी भाग पर हरी धारियाँ होती हैं। पोर का आकार कली के दूसरी ओर थोड़ा फूला हुआ होता है। सम्पूर्ण पोर पीपे के आकार का होता है। तने में ग्रुव वाली गाँठें सदैव पाई जाती है किन्तु अधिक बड़ी नहीं होती हैं। कलियाँ औसत आकार की और गोलाकार होती हैं। तने में लगभग ६३% रस पाया जाता है जिसमें से सुक्रोज १५% निकलता है। यह गन्ना मुलायम होता है किन्तु इतना मुलायम नहीं होता कि गिर जाय। इस पर मोजेक रोग का आक्रमण नहीं होता किन्तु रेडराट का इसपर अभियान हो जाता है।

यह गन्ना उत्तरप्रदेश का एक प्रतिष्ठित गन्ना है, जिसे अनेक वर्षों से उत्तरी पूर्वी और मध्य भागों में उगाया जाता है। रुहेलखण्ड और कमायूँ क्षेत्र में भी यह जाति अधिक सफल है। उत्तर प्रदेश में जिन स्थानों पर भी इन्हें उगाया जाता है वहाँ कोयम्बटूर की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है।

CO. २६०—यह जाति CO. २२१ और D ७४ के संयोग से प्राप्त की गई है। मेरठ और रुहेलखण्ड क्षेत्र में इसे एक प्रतिष्ठित जाति स्वीकार किया किया जाता है। इसमें रस ६६.५% और सुक्रोज १५·७ प्राप्त होता है। यह गन्ना इतना मुलायम होता है कि इसे सरलतापूर्वक निचोड़ा जा सकता है और यही कारण है कि जंगली जानवर इस पर अधिक आक्रमण करते हैं। इसके तने दुर्बल होते हैं, जिससे अधिक बढ़ जाने पर ये भूमि पर गिर पड़ते हैं। गिरने से किसानों

को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है। अपने इस बड़े अवगुण से यह जाति धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।

CO. ३१२—यह जाति CO. २१३ और CO. २४४ के मेल से निकली है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि उत्तरप्रदेश में प्रचलित समस्त कोयम्बटूर जातियों से यह श्रेष्ठ पड़ती है। चूँकि यह CO. २१३ जाति से निकाली गई है, अतः इसके तने मुलायम होते हैं और अनुपयुक्त परिस्थिति में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक समय तक स्थिर रह सकती हैं। इसके पोर ३-४″ की लम्बाई के होते हैं और इनकी मोटाई औसत दर्जे की होती है। पत्तियाँ औसत चौड़ाई की होती हैं। पत्तियों की संख्या बहुत अधिक पाई जाती हैं। इस जाति में पुत्तियाँ अधिक निकलती हैं। इसमें सुक्रोज का प्रतिशत १३·२६ से १६·५६ होता है। गुड़ अच्छे किस्म का होता है। इन गुणों के साथ-साथ इस जाति में एक अवगुण यह पाया जाता है कि अधिक उर्वर भूमि में यह गिर पड़ती है। इस पर पायरिल और बोरर का आक्रमण अधिक होता है।

CO. ३१३—CO ३१२ की भाँति वह भी CO. २१३ और Co. २४४ के संयोग से निकाली गई है। इसके पोर ५, ७″ की लम्बाई के होते हैं और इसके तने औसत मोटाई के होते हैं। तने का छिलका मुलायम और हरे रंग का होता है। पौधा आधा सीधा होता है और इसमें अनेक पत्तियाँ निकलती हैं। इस जाति में भूमि पर गिरने का भय रहता है। इसमें सुक्रोज १६.५% तक पाया जाता है। इस जाति के पौधे में गर्मी सहन करने की अधिक क्षमता होती है। किन्तु इस पर मोजेक रोग का आक्रमण अधिक होता है।

Co. ३३१—यह जाति Co. २१३ और Co.२१४ के संयोग से निकाली गई है। यह बहुत लम्बी उगने वाली जाति है। इसके पोर भी बहुत लम्बे होते हैं जिनकी लम्बाई ६ से ८″ तक पाई जाती है। यह साधारण मोटाई का गन्ना है जिसका छिल्का साधारण किस्म का सख्त होता है। सूखे के समय में यह सरलतापूर्वक खड़ी रहने वाली जाति है क्योंकि इसमें गर्मी सहन करने की अधिक शक्ति रहती है। इसमें पुत्तियाँ अधिक संख्या में निकलती हैं। ये सीधी होती है, अतः इनके गिरने का भय नहीं रहता। पत्तियाँ बड़ी-बड़ी और सीधी होती हैं। सुक्रोज की उपस्थिति १७ से १८ प्रतिशत तक पाई जाती है जो कि एक ऊँचा प्रतिशत है।

Co ३५६—कोयम्बटूर में ज्वार और गन्ने के संयोग से अनेक नई जातियाँ

निकाली गई हैं जिनमें Co. ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६ और ३५७ उल्लेखनीय हैं। इन समस्त जातियों में Co. ३५६ का महत्वपूर्ण स्थान है। ज्वार के संयोग से होने के कारण इसमें शीघ्र तैयार होने और पानी कम चाहने का गुण होता है। इसमें गन्ने की अन्य उन्नत जातियों की अपेक्षा प्रतिकूल दशाओं को सहन करने की अधिक शक्ति होती है। इसमें सुक्रोज १६·११% पाया जाता है। उत्तर प्रदेश के उत्तरी-पूर्वी भाग में इसकी सफल खेती की जा रही है।

बिहार और उड़ीसा में—इस क्षेत्र में Co. २१३, Co, २१०, २९९, ३०१, ३१२, ३१३, ३१८, ३३१, ४२१, ५०८ आदि अधिक प्रचलित हैं। यहाँ इन उन्नत जातियो के अतिरिक्त स्थानीय जातियाँ भी उत्पन्न की जाती हैं जिनमें सरेठा श्रेणी के भूरिया और लटेरिया, पंसाही श्रेणी के पंसाही और मनेरिया मुंगो हेम्जा बुर्ली और नारगोरी श्रेणी के नारगोरी और समारी मुख्य हैं। नीचे हम कुछ उन्नत जातियो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

Co. २९९—यह जाति पी० ओ० जे० १४१० (पुरुष) और Co. २१३ (स्त्री) के संयोग से निकाली गई है। पौधा सीधा होता है किन्तु सिरे पर थोड़ा झुका हुआ पाया जाता है। इसका बढ़ाव झाड़ोनुमा होता है। बढ़ाव की गति बहुत मन्द होती है किन्तु मानसून के दिनों में इसमें तीव्रता आ जाती है। इसमें गर्मी सहन करने की शक्ति अधिक होती है। पुत्तियाँ अच्छी नहीं निकलती हैं। यह शीघ्र तैयार हो जाती हैं जिससे इसे उत्तरी बिहार में बड़े पैमाने पर उत्पन्न किया जाता है। यहाँ से यह जाति मिलों को भेजी जाती है।

Co. ३०१—यह पी० ओ० जे० १३९९ (पुरुष) और Co. २१३ (स्त्री) के सयोग से निकाली गई जाति है। आदत में यह अर्ध-सीधी और सीधी होती है। पूर्ण परिपक्वता की स्थिति में यह सीधी हो जाती है। इसके गिरने का भय रहता है। यह औसत किस्म की मोटी जाति है जो मध्यम समय में तैयार हो जाती है। नम जलवायु में इसकी वृद्धि अधिक तेजी से होती है। इसमें बाढ़ को सहन करने की शक्ति पाई जाती है। यह सूखा भी सहन कर सकती है किन्तु इसमें गिरने (Lodging) का एक अवगुण पाया जाता है।

Co. ३१८—यह गन्ना co. २१९ के स्वयं गर्भाधान (Selfing) से प्राप्त किया गया है। यह सीधी आदत वाली जाति है जो लगभग सभी प्रकार की भूमियों में समान वृद्धि दिखाती है। इसमें भूमि पर न गिरने का गुण पाया जाता है। इसलिए

कुछ स्थानों पर लोग इसे वायु-अवरोधक (wind break) की भाँति उगाने की राय देते हैं। इसमें बाढ़ के प्रभाव को सहन की अद्भुत शक्ति होती है। यह ऊसर भूमि में सफलतापूर्वक उत्पन्न की जा सकती है।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त उत्तरी बिहार में co. ४५३. co. ५१३ और B.o. ११ का अधिक प्रचार है। दक्षिण बिहार में co. ४५३ का प्रचार जोर-शोर से बढ रहा है। इसके प्रचार से co. ३३१ का महत्व कम हो गया है। co. ५१३, B.o. १०, ११ का भी इस क्षेत्र में अधिक प्रचार है। उड़ीसा में co. ३१३, co ४१६, co. ४२१ मुख्य हैं।

मद्रास में—मद्रास राज्य में मारुतियस जाति के देशी गन्ने अधिक प्रचलित हैं। यहाँ लाल मारुतियस, पीला मारुतियस, धारीदार मारुतियस, फिजी बी आदि बहुत समय से उगाई जा रही है। किन्तु जब से कोयमबटूर जातियों का प्रचलन हुआ है, तब से इन्होंने ही उनका स्थान ले लिया है। उन्नत कोयम्बटूर जातियों में co २१३, २४३, २८१, २६० आदि मुख्य हैं। अभी हाल में ही co. ४१६, ४२१ और ३५२ तथा एच० एम० ३२० का प्रारम्भ हुआ है। co. ५२७ और co. ४२१ की भी ख्याति इस क्षेत्र में अधिक है।

बम्बई में—बम्बई राज्य में कोयम्बटूर जातियों के समारम्भ के पूर्व पोंडिया नामक स्थानीय जाति अधिक प्रचलित थी। यह जाति मोटे तने वाली है और पूना, धरवार तथा दक्षिणी नहरी क्षेत्र में उगाई जाती है। नासिक और सूरत के क्षेत्र में इस जाति के स्थान पर अब पी० ओ० जे० २८७८ और ई० के० २८ तथा Co. २१३ तथा २६० उगाई जाने लगी हैं। इस समय यहाँ Co. ४१६ मुख्य उन्नत जाति है। यहाँ पी० ओ० जे० २८७८ का भी अधिक प्रचार है।

मैसूर में—इस राज्य में स्थानीय जातियाँ रस्थाली, पट्टा-पट्टी, होटेचेनी और चेनी हैं। उन्नत जातियों में एस० एम० ३२० और Co. ४१६ है। एस० एम० ३२० जाति पहले बहुत प्रचलित मानी जाती थी किन्तु जबसे Co. ४१६ का समारम्भ हुआ है, इसका महत्व जाता रहा है। अन्य उन्नत जातियाँ एच० एम० ६६१, ६५७ आई० सी० ८, २६, ७४ और १३१ तथा पी० ओ० जे० २८७८ तथा Co. २६० और Co २१३ हैं।

मध्य प्रदेश में—इस राज्य में दो प्रकार की स्थानीय जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं जिनमें एक मोटी होती है और दूसरी पतली। मोटी जातियों में पौंडिया और पच-

रग तथा पतली जातियों में कत्थई, लेदू और खारी सम्मिलित होती हैं। उन्नत जातियाँ Co. २१६, २१० और २३७ हैं।

पश्चिमी बंगाल में—यहाँ Co. २१३ का अधिक प्रचार है। गन्ने का क्षेत्रफल लगभग ८०% क्षेत्र इसी जाति द्वारा ढका है। Co. ३१३ जाति का गन्ना कुछ दिनों पूर्व अधिक सफल रहा किन्तु अब Co. ४२१ के समक्ष यह अधिक सफल नहीं है। Co. ५२७ भी इस राज्य में एक सफल जाति है। स्थानीय जातियों में पुरी, वेन्दामुकी, डैक्का, गन्देरी और शासरा मुख्य हैं।

आसाम में—आसाम राज्य में Co. २१३, co. २६०, और co. ३६० अधिक प्रसिद्ध जातियाँ हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ co. ४११, ४१६, ४२१ और पी० ओ० जे० २७१४ जातियाँ भी उत्पन्न की जाती हैं।

उत्तरप्रदेश को गन्ने की खेती के आधार पर कई भागों में विभाजित कर दिया गया है और इन विभाजनों के आधार पर इन क्षेत्रों के लिए गन्ने की उन्नत जातियों के उगाने की सिफारिश की गई है। नीचे एक सारिणी प्रस्तुत की जा रही है जिसे शाहजहाँपुर के रिसर्च डाइरेक्टर श्री आर० के टण्डन ने स्वीकृत की है।

क्षेत्र का नाम	शीघ्र तैयार होने वाली	मध्यम समय में तैयार होने वाली	औसत देर में तैयार होने वाली
पश्चिमी उत्तरप्रदेश	Co. ३२१	Co.४२१,Cos.२४५	Co. ४५३
रुहेलखण्ड क्षेत्र	Co.५२७,Cos.३२१	Cos.२४५Cos.५१० Cos. ५१४	×
फैजाबाद क्षेत्र	Co. ३१३,Co. ३३६ Co.५२७ व Cos. ४१६	Cos.१०६,Cos.४४३	Co. ४५३
मध्य उत्तरप्रदेश	Co. ३१३,Co. ५२७	Co. ५१०, Co. ३०	×
मध्य-पूर्व उ० प्र०	Co. ३१३, Co. ३६५ Cos. ४१६	Co. १०६,Cos.४४३	×
पूर्वी उत्तरप्रदेश	Co.३६५, Co.५१३ Cos. ४१६	Cos.१०६ Cos. ४४३	Co. ४५३

वानस्पतिक विवरण—गन्ना ग्रैमनेसी कुल का एक सदस्य है जिसका जीनस सैकरम (Saccharum) है। इस जीनस में कुछ घास-पात आते हैं जिनमें से काँस

(Saccharum spontaneum) से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका वानस्पतिक नाम सैकरम आफिसियेनम (Saccharum officianum) है।

अंकुरण के पश्चात् सेट (Sett) से जड़ें निकलती हैं। सर्वप्रथम एक जड़ निकलती है जो कुछ मिलीमीटर लम्बी होती है। बाद में द्वितीयक जड़े निकलती हैं जिससे प्रथम जड़ का बढ़ाव रुक जाता है। गन्ने की जड़ें रेशेदार होती हैं, जैसा कि सभी घासों में पाया जाता है। रेशे जड़ के रूप में निकलकर चारों ओर फैलते हैं। रेशेदार होने के कारण ये जड़ें अधिक गहराई तक नहीं पहुँच पातीं किन्तु फिर भी देखा गया है कि इसकी जड़ें कभी-कभी ८-१०' तक पहुँच जाती हैं। सेट से निकलने वाली जड़ें सेट जड़ (Sett root) कही जाती हैं। बाद में कलियों से प्रांकुर (Shoot) के निकलने पर दूसरी जड़ें निकलती हैं जिन्हें द्वितीयक जड़ें कहते हैं। ये जड़ें प्रांकुर जड़ (Shoot root) के नाम से सम्बोधित की जाती हैं और स्थायी होती हैं। इस स्थायी जड़ के निकलने पर सेट जड़े सूख जाती हैं और किसी काम की नहीं रहतीं। किन्तु इनका निकलना इसलिए जरूरी है कि प्रांकुर उत्पन्न करने वाली कलियों का समुचित विकास हो सके। किस तने में कितनी जड़ें निकलती हैं, यह उस स्थान की भूमि, जलवायु और तने की स्थिति पर निर्भर करता है। जिस स्थान पर गन्ना वर्षा के सहारे उगाया जाता है और सूखा के भी अवसर होते हैं वहाँ जड़ें अधिक निकलती हैं। जब जड़ें अधिक निकलती हैं तो ये भूमि की धरातल से ऊपर तने की गाँठों पर भी देखी जा सकती हैं। गन्ने की फसल के गिर जाने पर गिरे हुए तने से जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं और भूमि में जाकर वहीं से भोजन प्राप्त करने लगती हैं। भारी भूमि और उष्ण कटिबन्धीय जलवायु में जड़ें कम गहराई तक जाने वाली होती हैं। कुछ विशेष श्रेणी और जाति के गन्ने भी छिछली और गहरी जड़ वाले होते हैं। जैसे पंजाबी श्रेणी के गन्ने की जड़ें छिछली होती हैं किन्तु सरेथा और मुंगो किस्म के गन्ने गहरी जड़ वाले होते हैं।

तने सुदृढ़, सीधे और बेलनाकार होते हैं। पूरा तना गाँठों और पोरों में विभाजित होता है। गाँठे अधिकतर गन्नों में तने के अन्य भागों की अपेक्षा मोटी होती हैं किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है। कुछ जातियों में तो ऐसा देखा जाता है कि गाँठों की अपेक्षा पोर ही मोटे होते हैं। प्रत्येक गाँठ पर एक कली होती है जिसे 'आँख' कहते हैं। आँखों में नया पौधा उत्पन्न करने की शक्ति होती है जो उचित अवस्था में प्रांकुर प्रस्फुटित कर देता है। गन्ने के वानस्पतिक उत्पादन का श्रेय इन्हीं आँखों को

है जो तने सहित काट कर जब भूमि में गाड़ दी जाती है तो गन्ने का नया पौधा तैयार हो जाता है। आँखें आकार और रूप में तो बहुत छोटी होती हैं किन्तु इनका कार्य बहुत महत्वपूर्ण होता है। गन्ने की सम्पूर्ण जातियों में ये रूप और आकार में समान नहीं होतीं और न कलियों का वह भाग ही जो कली के वाह्य-छिल्के से निर्मित होकर कली का चौड़ा भाग तैयार करता है, सभी जातियों में समान होता है। इनके ये दो गुण ऐसे हैं जिनकी सहायता से जाति विशेष की पहचान की जा सकती है और उसके गुण निर्धारित किये जा सकते हैं। तने में पोरों की संख्या भी सभी गन्नों में समान नहीं होती। किन्ही में यह संख्या २० से अधिक नहीं होती किन्तु साधारण तौर पर एक गन्ने में ३०-४० पोर पाये जाते हैं। गन्ने की कुछ जातियाँ ऐसी भी होती है जिनमें पोरों की सख्या प्यू और दत्त के अनुसार ८० तक पहुँच जाती है। पोरों की लम्बाई और चौढ़ाई निश्चित नहीं होती। तने के निचले और ऊपरी भाग की ओर ये पतले और छोटे होते हैं किन्तु मध्य भाग में अपेक्षाकृत लम्बे और मोटे होते हे। गाँठों की भाँति पोरों में भी कुछ ऐसे विशेष गुण पाये जाते हैं जिनसे जाति विशेष पहचानी जा सकती है। पञ्जाबी श्रेणी के गन्ने के पोर लम्बे और कुछ टेढ़े-मेढ़े होते हैं किन्तु मुंगो में ऐसी बात नहीं होती। उसके पोर छोटे होते है। पोरों में ऐसी बात देखी जाती है कि इनमें गाँठों की कलियों के पास से एक छोटा खोखला आकार निकलता है जो वहाँ से ऊपर की ओर बढ़ जाता है। ऊपर बढ़ने पर यह पतला और सँकरा हो जाता है। कुछ जातियों में यह आकार कुछ ही दूरी तक जाता है और कुछ में इसकी गहराई अधिक और कुछ में कम होती है। दूसरी विशेषता यह होती है कि कुछ गन्ने के पोर के वाह्य छिल्के कभी-कभी फट जाते है और पोर में एक प्रकार की दरार-सी बन जाती है। यह दरार लम्बाई और गहराई में सभी जातियों में एक-सी नहीं होती। कुछ में एक पोर में ही कई दरारें फट जाती हैं किन्तु इसकी सख्या कोई निश्चित नहीं होती। पोरों का रूप बेलनाकार, त्रिभुजाकार आदि पाया जाता है।

तने का रंग भी समान नहीं होता। तने के रंग से अर्थ उसके वाह्य छिल्के के रंग से है जिसके हटाने पर गूदादार भाग दिखलाई देने लगता है। इसका रंग धारीदार, (काली और सफेद धारियाँ), सफेद, धब्बेदार, पीला, हरा, लाल आदि होता है। तने की मोटाई सभी स्थानों पर एक-सी नहीं होती। यद्यपि इसकी मोटाई कुछ-जाति के अनुसार भी होती है किन्तु इसका घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाव से होता है। उर्वर भूमि में इनकी मोटाई अधिक होती है जबकि अनुर्वर भूमि में ये बहुत कम मोटे

हो पाते हैं। प्यू और दत्त ने कहा है कि गन्ने की कुछ जातियों के तने शीशे (Lead) की पेन्सिल से अधिक मोटे नहीं होते हैं जबकि अन्य जातियाँ-जैसे हिन्दचीन में उगाई जाने वाली लगभग ३" मोटी होती है। मोटाई के आधार पर गन्ने को इस प्रकार विभाजित किया गया है।

पतले गन्ने	व्यास में २·० से० मी० से कम
औसत पतले गन्ने	२·० से २·५ से० मी०
औसत गन्ने	२·५ से ३·० से० मी०
औसत मोटे गन्ने	३·० से ३·५ से० मी०
मोटे गन्ने	३·५ से० मी० से अधिक

पत्तियाँ लेमिना और लीफशीथ (Lamina & leaf sheath) से मिलकर बनी होती हैं। लेमिना २-३" चौड़ा और ३-४ फी० लम्बा हो सकता है। कभी-कभी इसकी लम्बाई इससे भी अधिक पाई जाती है और कभी ये मुश्किल से २ फी० हो पाते हैं। लीफ शीथ गाँठों से निकलती हैं और जिस गाँठ से निकलती है वहाँ तने का पूरा भाग ढक लेती है। इसकी लम्बाई पूर्ण परिपक्व अवस्था में १२" के लगभग हो जाती है। लीफशीथ में कुछ विशेष गुण होते हैं जिनके आधार पर गन्ने की जातियों की पहचान की जा सकती है। इसमें लिग्युलर प्रासेस (Ligular process) लिगुपुल और स्पाइन (Spine) रहते हैं जिनकी बनावट कुछ ऐसी होती है कि इन्हें एक दूसरे में सरलतापूर्वक विभिन्न पाया जा सकता है। लिग्युलर प्रासेस शीथ के बगल के ऐसे बढ़ाव हैं जो लेमिना और लीफशीथ के मिलने के स्थान से निकलते हैं। स्पाइन उन बालों को कहते हैं जो शीथ के पिछले भाग से उत्पन्न होते हैं। पत्तियों के बीचो-बीच में मुख्य नस (midrib) होती है जिसे सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है। इसका रंग कुछ हरापन लिए हुए सफेद होता है। कभी-कभी यह लाल धारीदार भी देखी जाती है। पूरी पत्ती का रंग हरा होता है किन्तु सूखने पर यह गहरा भूरा हो जाता है। पत्तियाँ प्रत्येक गाँठ से निकलती हैं और इस प्रकार बँधी रहती हैं कि पोर दिखलाई नहीं पड़ता। ज्यों-ज्यों गन्ना बड़ा होता जाता है, नीचे की पत्तियाँ सूखती जाती हैं। सूखने पर पोर को छिपाये रखने की उनकी शक्ति नहीं रह जाती किन्तु सिरे की पत्तियों में यह गुण वर्तमान रहता है क्योंकि उनकी कलियाँ और आँखें सुकुमार होती हैं, उनमें कठोर गर्मी, सर्दी और सहन करने की शक्ति नहीं होती है अतः इन्हें सहनशील बनने की अवधि तक इनकी सुरक्षा अनिवार्य है।

तने में १०-१२ महीने में फूल आते हैं किन्तु फल का आना सभी जातियों में आवश्यक नहीं है। कुछ ऐसा भी जातियाँ देखी जाती हैं जिनमें किसी प्रकार के फूल आते ही नहीं। फूलों का गुच्छा जिसे इनफ्लोरेसेंस (Inflorescence) कहते हैं, तने के ऊपरी भाग पर पाया जाता है और इसकी लम्बाई २-३' तक होती है। यह शाखादार और तीरनुमा होता है इसी से लोग तीर (Arrow) के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह एक पैनिकिल (Pancle) है जिसके स्पाइकलेट (Spikelets) रेसीमोज (Recemose) हैं। रेसीमोज का यह अर्थ है कि तीर के नीचे के स्पाइकलेट पुराने हैं और ऊपर वाले नये। स्पाइकलेट एक साथ जोड़े में होते हैं जिसमें से एक डंडीदार (Stalked) होता है और दूसरी डण्डीरहित (Sessite)। प्रत्येक स्पाइकलेट के आधार पर एक सिल्की बाल होता है जिससे कुछ लोगों का विश्वास है कि गन्ने की जाति का पता लगाया जा सकता है। गन्ने के तने में गुच्छे के निकलने पर कुछ लोगों का विचार है कि इससे तने के गुणों पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। कोयम्बटूर में राव ने एक प्रयोग कर यह परिणाम निकाला कि फूल निकलने के लगभग २½ माह पश्चात् गन्ने के गुणों में कमी आने लगती है जबकि उन जातियो में जिनमें फूल नहीं निकलते हैं सुक्रोज की मात्रा बढ़ती रहती है। कुछ देहातों में देखा गया है कि गन्ने के पौधे में ज्योंही फूल आते हैं कि किसान उन्हें तोड़कर बाहर कर देते हैं। किन्तु यह बात सभी स्थानो पर प्रचलित नहीं है। बाथम और निगम ने कानपुर में काम करते हुए उपर्युक्त मत का खंडन किया और कहा कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पौधे में फूल निकलने पर रस घटने लगता है, उल्टे यह बढ़ता ही है। सुक्रोज़ की मात्रा फूल आने पर फूल वाली जातियों में फूलरहित जातियों की अपेक्षा अधिक है। हाँ ग्लुकोज की मात्रा अवश्य ही फूल वाली जातियों में अपेक्षाकृत कम होती है।

गन्ने के फूलों में जो बीज उत्पन्न होते हैं उनमें से कुछ सक्रिय और कुछ निष्क्रिय होते हैं। जो सक्रिय (fertile) होते हैं उनमें पौधे बहुत छोटे और निरीह होते हैं। यही कारण है कि गन्ना बीजों द्वारा न उगा कर वानस्पतिक ढंग से उत्पन्न किया जाता है। के० एम० गुरराज राव का कथन है कि गन्ने में फूल आना और फल लगना उत्पादकों (Breeders) के लिए अच्छा है क्योंकि इससे वे नई-नई जातियाँ निकाल सकते हैं। किन्तु किसान ऐसा नहीं चाहते क्योंकि इससे उनकी उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ए० के० ऐय्यर का कथन है कि "यदि गन्ने के सही

बीज उसी भाँति बोये जायँ जैसे अन्य दाने की कोई फसल बोयी जाती है तो जो अंकुर निकलेंगे, वे गुणों में अधिक मिश्रित होंगे। यदि लाल मारुतियस जाति के बीज बोये जायँ तो अंकुरण के पश्चात् जो पौधे प्राप्त होंगे, वे गुण में अधिक मिश्रित होंगे और उनमें से कुछ तो अपने पितृ लाल मारुतियस जाति से भी भिन्न होंगे। वे मोटे, पतले, मध्यम आकार के गन्ने वाले, अनेक रंग के छिल्के वाले लम्बे, छोटे, सीधे, या रेंगने वाले, मिठास में असमान गुण वाले पत्तियाँ उत्पन्न करने में भिन्न शक्ति रखने वाले तथा अनेक विभिन्न गुण वाले होते हैं।"

खेत की तैयारी—गन्ने के लिए खेत की तैयारी मिट्टी पलटने वाले हल, अथवा हाथ से चलाये जाने वाले औजारों से की जाती है। जहाँ जिस औजार की सुविधा होती है, वहाँ वही प्रयोग किये जाते हैं। इनका प्रयोग गन्ने के क्षेत्र पर भी निर्भर करता है। छेटे क्षेत्र में कुदाली अथवा फावड़े से ही कार्य सम्पन्न कर लिया जाता है। बड़े क्षेत्रों में ट्रैक्टर का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोगों का बिचार है कि खेत की प्रथम जुताई मिट्टी पलटने वाले हल अथवा ट्रैक्टर से करनी चाहिए और भूमि को अधिक से अधिक गहराई तक जोतना चाहिए। यदि ट्रैक्टर का प्रयोग किया जाता है तो भूमि की जुताई लगभग १२-१५" की गहराई तक होनी चाहिए। मिट्टी पलटने वाले हलों में विक्ट्री, शाबाश और यू० पी० न० १ अच्छे पड़ते हैं। इनसे भूमि की जुताई ८' के लगभग की गहराई तक बड़ी सरलतापूर्वक हो सकती है और जब भूमि की जुताई हो जाय तो उसमें से खर-पतवार दूर करने, बड़े-बड़े ढेलों को फोड़कर भुरभुरा बनाने के लिए बेलन या पाटा का प्रयोग किया जाता है। भूमि की तैयारी के लिए जुताई कुछ समय के अन्तर पर कई बार की जाती है। जुताई करते समय यदि भूमि अधिक अनुर्वर हो तो खाद का प्रयोग किया जाता है जिससे कि बोआई करने के समय तक यह भूमि में भली-भाँति घुल-मिल जायँ। कुछ स्थानों पर भूमि को उर्वरा बनाने के लिए हरी खाद भी डाली जाती है। हरी खाद की फसल ऐसे समय से बोयी जाती है कि खेत की तैयारी करने के समय तक वह भूमि में दबा दी जाय। उसके भूमि में दबाने के ८-१२ दिनों पश्चात् खेत की तैयारी प्रारम्भ होती है।

गन्ने के लिए खेत की तैयारी बहुत कुछ उसकी बोआई के ढंग पर निर्भर करती है। यदि गन्ना चौरस भूमि में हल के पीछे की विधि से बोया जाता है तो भूमि को साधारण हलों की ५-६ जुताई पर्याप्त समझी जाती है। एक पाटा देकर बड़े-

बड़े ढेले (clods) भुरभुरे कर दिये जाते हैं और भूमि का धरातल समतल बना दिया जाता है। तत्पश्चात् बोआई प्रारम्भ हो जाती है। जब गन्ना नालियों की विधि द्वारा बोया जाता है तो खेत की तैयारी रबी की फसल के कटने के पश्चात् ही प्रारम्भ कर दी जाती है। यदि गर्मी की जुताई कर दी जाती है तो भूमि की उर्वरा शक्ति पर लाभप्रद प्रभाव पड़ता है किन्तु ऐसा उसी स्थिति में किया जा सकता है जबकि खेत में पर्याप्त नमी की अनुपस्थिति में जुताई मानसून के प्रारम्भ होने पर की जाती है और खेत गर्मी भर खाली छोड़ दिया जाता है। पहली जुताई वर्षा के पश्चात् करते हैं। यह जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से अच्छी होती है। इसके पश्चात् वर्षा के दिनों मे खेत की जुताई जितनी सम्भव हो सके करते रहना चाहिए। इस जुताई की सख्या जहाँ तक हो सके ८-१० से कम नहीं होनी चाहिए। वर्षा के समाप्त होने पर पाटा द्वारा भूमि को भुरभुरी और समतल बना लेना चाहिए और जब रबी की बोआई से छुट्टी मिल जाय तो खेत में नालियाँ बनाने का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए।

जब गन्ने की बोआई मेंड़ और नालियों (Ridges and furrow) की विधि से की जाती है तो खेत में एक-दो जुताई करके मेंड़े और नालियाँ तैयार कर ली जाती हैं। नालियों के तैयार हो जाने पर बोआई कर दी जाती है। जब गन्ने की बोआई गड्ढों में की जाती है तो खेत सर्वप्रथम पूर्णरूपेण तैयार किया जाता है और जब खेत की भूमि अधिक भुरभुरी हो जाती है तो उसमे गड्ढे बनाने प्रारम्भ कर देते हैं।

बोआई—गन्ने की बोआई चार प्रकार से की जाती है—

१. समतल भूमि पर हल के पीछे की बोआई (Flat method)
२. नालियों की विधि (Trench method)
३. कूँड-मेंड़ की विधि (Ridge-furrow method)
४. गड्ढे की विधि (Pit method)

१. प्रथम विधि में गन्ने की बोआई समतल भूमि में की जाती है। इसकी तैयारी उसी प्रकार की जाती है जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में खेत की तैयारी में पढ़ा है। जब भूमि भली-भाँति तैयार हो जाती है तो बोआई प्रारम्भ कर देते हैं। इस विधि का प्रयोग उन्हीं स्थानों पर करते हैं जहाँ भूमि में अत्यधिक नमी उपस्थित होती है। इसमें हल की सहायता से २½-३′ की दूरी पर पंक्तियाँ बनाई जाती हैं और गन्ने के टोटे (Setts) लगभग २″ की गहराई पर १-१½′ के अन्तर पर डाल दिये जाते हैं। बोआई के पश्चात् टोटे १½-२″ की ऊँचाई तक मिट्टी से ढक दिये

जाते हैं और फिर पाटा देकर भूमि बराबर कर दी जाती है। यह विधि बहुत सस्ती विधि है। इसमें परिश्रम और धन बहुत कम लगता है, अतः इसे मामूली किसान भी प्रयोग में ला सकता है, किन्तु बोआई की अन्य विधियों के सामने यह ठीक नहीं मानी जाती। आपस की दूरी कम होने से गुड़ाई का कार्य सरलतापूर्वक नहीं हो सकता। इस विधि में मिट्टी चढ़ाने की भी सुविधा नहीं होती, इससे जोरों की वायु चलने पर पौधे गिर जाते हैं। यह विधि मुख्यतः हल्की भूमि में ही प्रयोग की जाती है।

२. नालियों की विधि में खेत में नालियाँ बनाई जाती हैं। नालियाँ बनाने का कार्य नवम्बर के अन्त तक समाप्त हो जाना चाहिए जिससे कि भूमि थोड़े समय तक खुली रह सके। भूमि के खुले रहने का गन्ने की उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नालियाँ फावड़े, डबल मोल्डबोर्ड हल अथवा विक्ट्री हल से बनाई जाती हैं। ये २′ चौड़ी होती हैं और एक नाली से दूसरी का अन्तर केन्द्र से केन्द्र तक ४′ होता है, इस प्रकार दो नालियों के मध्य २′ की दूरी बच रहती है। नालियाँ ६″ गहरी खोदी जाती हैं और उनकी मिट्टी उठाकर २′ की बची भूमि पर रख दी जाती है। मिट्टी रखने से यह स्थान ऊँचा हो जाता है और मेंड़ का काम करने लगता है। इसके दोनों ओर नालियाँ (trenches) तैयार हो जाती हैं जिनमें गन्ने के टोटे बोये जाते हैं। बोने के पहले नालियाँ ६′ की गहराई तक गोड़ी जाती हैं जिससे मिट्टी काफी भुरभुरी हो जाय। यदि भूमि अनुर्वर हुई तो गोबर की सड़ी खाद अथवा उर्वरक (fertilizer) की आवश्यक मात्रा मिला देते हैं। बोते समय यदि भूमि में नमी का अभाव हो तो नालियों को एक साधारण सिंचाई कर देना चाहिए ताकि ये नम बन जायँ। सिंचाई का कार्य बोआई के १५-२० दिन पूर्व ही हो जाना चाहिए। भूमि के नम बन जाने पर नालियों की गोड़ाई कर देना चाहिए। नालियों की गोड़ाई जितनी ही अधिक होगी, पौधों का बढ़ाव उतना ही सन्तोषप्रद होगा। भूमि में आवश्यकतानुसार खाद भी डाली जा सकती है किंतु इसका प्रयोग गुड़ाई के पूर्व ही करना चाहिए ताकि गुड़ाई करने से यह भूमि में अच्छी तरह मिल जाय। यदि हरी खाद में सनई का प्रयोग करना हो तो इसे अगस्त में बोकर सितम्बर के महीने तक मिट्टी में दबा देना चाहिए। नालियों की विधि भारी भूमियों में नहीं प्रयोग की जा सकती क्योंकि ऐसी भूमियों में नाली बनाने का व्यय हल्की भूमियों की अपेक्षा अधिक पड़ता है और उपज भी ऐसी होती है जिसे आर्थिक दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता। अतः जहाँ तक सम्भव हो इसे हल्की भूमि में ही काम में लाना चाहिए।

लोगों का ऐसा विचार है कि यह विधि प्रथम विधि से उत्तम होती है क्योंकि इससे निम्नलिखित सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

इस विधि को सीमित खेती (Intensive cultivation) के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इसमें पौधों को अधिक भोजन-सामग्री उपलब्ध हो पाती है। पौधों को मेड़ों से एक यांत्रिक सहायता मिलती है जिससे वे गिर नहीं पाते। नालियों में गुड़ाई का कार्य सरलतापूर्वक किया जा सकता है। भूमि-क्षरण के अवसर कम होते हैं। सिंचाई में कमी हो जाती है क्योंकि पानी केवल नालियों में ही दिया जाता है। दो पंक्तियों के बीच के स्थान में तरकारी या कोई अल्पजीवी फसल उगा ली जा सकती है। नालियों का यह ढंग जावा विधि के नाम से प्रसिद्ध है। नालियों के तैयार हो जाने पर गन्ने के टोटे नालियों के ठीक मध्य में दबा दिये जाते हैं और तत्पश्चात् ३-४" की ऊँचाई तक मिट्टी से ढँक दिये जाते हैं।

३. कूँड़ और मेंड़ विधि में खेत समतल बना लेने के पश्चात् कूँड़ें बनाई जाती हैं। कूँड़ बनाने का कार्य भारी मोल्ड-बोर्ड हल या रिजर (Ridger) से पूरा किया जाता है। कूँड़ों की पारस्परिक दूरी बोयी जाने वाली जाति पर निर्भर होती है। यदि गन्ना मोटी जाति का हुआ तो कूँड़ों के बीच का अन्तर ३' और पतली जाति के होने पर २½' रखा जाता है। इसके लिए ऐसे जुआठे का प्रयोग किया जाता है जो बैलों को ६' की दूरी पर अथवा केन्द्र से ३' के अन्तर पर रखे और कूँड़ दोनों बैलों के बीच बनती जाय। यदि खेत ढालवाँ हो तो कूँड़ ढलाव के विरुद्ध बनाना चाहिए जिससे भूमि में दी गई खाद बहकर खेत के बाहर न निकल जाय। कूँड़ों की चौड़ाई और गहराई भूमि की किस्म और बोने के समय पर निर्भर करती है किन्तु साधारणतः ये १' और ६" से अधिक नहीं रखी जातीं। कूँड़ों के तैयार हो जाने पर टोटे डाल दिये जाते हैं और फिर २½-३" ऊँची भुरभुरी मिट्टी से ढक दिये जाते हैं। ढकने के लिए पाटा चला दिया जाता है जो टोटों को कूँड़ों में दबा देता है और भूमि भी समतल बना देता है।

गन्ने के टोटों की बोआई दो ढँगों से की जाती है—(१) आँख से आँख और (२) अन्त से अन्त। प्रथम विधि में टोटे कूँड़ में इस हिसाब से रखे जाते हैं कि एक टोटे की अन्तिम आँख के निकट दूसरे टोटे की पहली आँख पड़े। दूसरी विधि में आँख का विचार नहीं किया जाता। अपितु टोटे इस प्रकार रखे जाते हैं कि एक का अन्तिम सिरा दूसरे के पहले सिरे को छूता रहे। प्रथम ढंग दूसरे से

अच्छा समझा जाता है क्योंकि इसमें रिक्त स्थान नहीं छूटता। यह उन जातियों के लिए विशेष उपयुक्त माना जाता है जिनके पोर अधिक लम्बे होते हैं।

४. गड्ढों की विधि दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित है। इसे उसी भूमि में प्रयोग किया जाता है जो काली और कठोर होती है। गड्ढे बनाने के लिए सर्वप्रथम खेत की जुताई की जाती है और मिट्टी को मुलायम बनाया जाता है। तत्पश्चात् ६' से १२' चौड़ी क्यारियाँ बनाते हैं जो १०' चौड़ी और २½' गहरी बनी हुई नालियों द्वारा एक-दूसरे से पृथक हो जाती हैं। इन नालियों की जो मिट्टी निकलती है वह इन्हीं क्यारियों में फेंक दी जाती है। मिट्टी फेंकने के पश्चात् क्यारियाँ पुनः गोड़ी जाती हैं और उनमें ३' के अन्तर पर ६" व्यास और ६" की गहराई वाले गड्ढे बनाये जाते है। इस प्रकार एक क्यारी में गड्ढो की तीन पंक्तियाँ बन जाती हैं। इनके बनाने का सरल ढंग यह है कि यदि क्यारी की चौड़ाई ६" है तो चौड़ाई में एक सीधी रेखा खींच कर उस पर ३' की दूरी पर चिह्न लगा देना चाहिए और प्रत्येक चिह्न पर ६" का व्यास या ४½" का अर्ध व्यास लेकर वृत्त बनाकर गड्ढा तैयार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार पहली से ३' के अन्तर पर दूसरी रेखा खींचकर गड्ढे
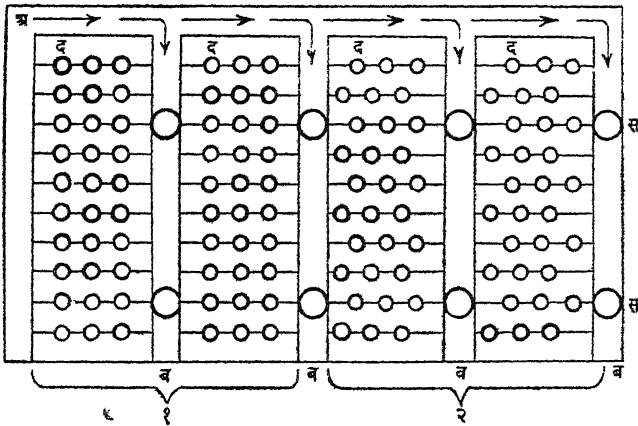
चित्र ६०—गन्ने की बुआई १. वर्गाकार आकृति २. त्रिभुजाकार आकृति

तैयार किये जा सकते हैं। गड्ढे बनाने की यह विधि वर्गाकार कहलाती है। गड्ढों की कैंचीनुमा या त्रिभुजाकार आकृति भी बनाई जा सकती है जैसा ऊपर के चित्र से प्रकट है।

जब गड्ढे बनकर तैयार हो जाते हैं तो उनमें खाद डाल दी जाती और खाद को मिट्टी में भली-भाँति मिलाकर बोआई कर दी जाती है। एक गड्ढे में दो टोटे डाले जाते है। नालियों में दो कुएँ निश्चित दूरी पर बना दिये जाते हैं जिनमें सिंचाई के समय पानी जमा कर दिया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं में से पानी निकाल कर गड्ढों में डाला जाता है।

बोने के पूर्व टोटे को दीमकों के आक्रमण से बचाने के लिए तारकोल और पानी के मिश्रण में डुबा लिया जाता है। यह मिश्रण एक गैलेन पानी में तारकोल
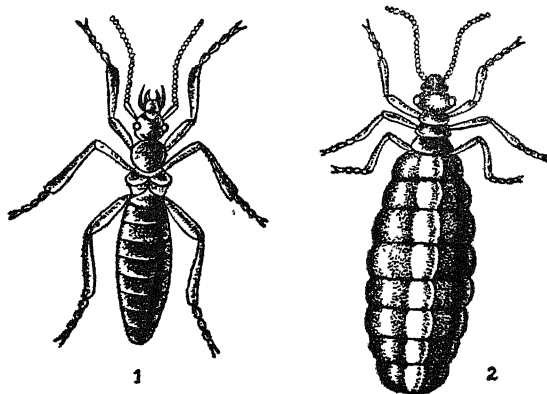
चित्र ६१—दीमक १. पुरुष २. रानी

के १० बूंद डाल कर तैयार किया जाता है। मिश्रण भली-भाँति मिलाकर खौलाया जाता है और खौलने के पश्चात् ठंडा कर लिया जाता है। जब मिश्रण ठंडा हो जाता है तो उसमें देख लेना चाहिए कि तारकोल की एक बूंद भी पानी में बिना मिली तो नही रह गई है क्योंकि ऐसी बूंद टोटे की आँखों को क्षतिग्रस्त कर देती है। ठंडे मिश्रण में टोटे डुबो लिये जाते हैं और फिर बोने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। कुछ स्थानों पर अच्छा अंकुरण और अधिक उपज के लिए टोटे चूने के घोल में डुबो लिये जाते हैं। टोटे इस घोल में लगभग आठ घंटे तक छोड़ दिये जाते हैं और इस निश्चित समय के पश्चात् बोआई में प्रयोग किये जाते हैं। प्रयोगों

से ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार साधारण टोटों की अपेक्षा २५% अंकुरण अच्छा मिलता है। ऐय्यर ने कहा है कि मैसूर में मलनाद नामक स्थान पर टोटों को बोझ में बाँध कर बहते हुए पानी में २४ घटे तक छोड़ दिया जाता है। लोगों का ऐसा विचार है कि इस क्रिया से टोटों में उपस्थित चीनी की कुछ मात्रा निकल जाती है और कलियाँ अधिक उत्साहित हो जाती हैं। के० एम० गुरराज राव ने भी इस ढंग का समर्थन किया है। जिन स्थानों पर गन्ने के स्मट (Sugarcane Smut) रोग का भय होता है वहाँ टोटे बोआई के पूर्व बोर्डों मिश्रण के घोल में डुबा लिये जाते हैं। बोआई के पूर्व टोटों की आँखों का पूर्ण अध्ययन कर लेना चाहिए। यदि आँखें मरी या क्षतिग्रस्त हों तो उन्हें बोना ही न चाहिए। जो टोटे लाल सड़ाव (Red rot) रोग से आक्रान्त हों, उन्हें छाँटकर पृथक कर देना चाहिए। इस रोग से प्रभावित टोटे का सिरा लाल रंग का होता है। मोजेक एक अन्य रोग है जिससे गन्ने के पौधे प्रभावित होते देखे जाते हैं। अतः टोटे ऐसे ही पौधों से लेने चाहिए, जिनपर इस रोग का कोई लक्षण न मिले। कभी-कभी तने पर कुछ व्याधियाँ भी देखी जाती हैं जिनके लगे रहने से अंकुरण अच्छा नहीं हो पाता। अतः टोटों के लिए तनों का चुनाव बहुत सावधानी से करना चाहिए।

जैसा कि हम जानते हैं, गन्ना प्रायः वानस्पनिक ढंग से उत्पन्न किया जाता है। इसमें तने ऐसे-ऐसे टुकड़ों में विभाजित कर लिये जाते हैं जिनमें कम से कम तीन आँखें उपस्थित हों। तनों के ये ही भाग टोटा या सीड सेट (Seed sett) कहलाते हैं। यद्यपि बीज की भाँति गन्ने का पूरा तना प्रयोग किया जा सकता है किन्तु इससे कूँड़ों को सीधा बनाने और पौधों के आपस की दूरी निश्चित करने में व्यवधान प्रस्तुत होता है। टोटे तने के प्रत्येक भाग से काट कर बीज की भाँति प्रयोग किये जा सकते हैं किन्तु ऐसा देखा गया है कि तने के ऊपर के टोटे आधार की ओर के टोटों की अपेक्षा अच्छा अंकुरण करते हैं। कुछ स्थानों पर लोग केवल ऊपरी सिरों को ही बोआई के काम में लाते हैं और निचला भाग गुड़ बनाने के काम में लाते हैं। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि गन्ना जितना ही कम आयु का हो, अंकुरण उतना ही अच्छा होता है। पके गन्ने के भिन्न-भिन्न भागों की अंकुरण शक्ति का पता लगाने के लिए किये गये प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि सिरे के टोटे शतप्रतिशत जमें जब कि तने के मध्य भाग के टोटे ४०% और आधार की ओर के केवल १९% हो जाये। प्रयोग रूप में तने के सिरे $\frac{१}{३}$, $\frac{१}{२}$ या $\frac{२}{३}$ भाग काट कर बोआई के काम में लाया जा

सकता है और शेष भाग गुड़ बनाने में प्रयोग होता है। किन्तु यह क्रिया तभी हो सकती है जबकि बोआई गुड़ बनाने के समय में की जाय। तने का ऊपरी भाग जिसे बोआई में प्रयोग किया जाता है, गुड़ बनाने के उद्देश्य से अच्छा नहीं होता क्योंकि उसमें ग्लूकोज और नानसुगर (non sugar) की मात्रा अधिक होती है जिससे गुड़ तैयार करने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। अतः अंकुरण प्रतिशत अधिक से अधिक प्राप्त करने के लिए तने के इसी भाग से टोटे लेने चाहिए।

बोआई का समय—गन्ने की बोआई साधारणतः जनवरी से लेकर मार्च तक की जाती है। उत्तर-प्रदेश में यह समय १५ जनवरी से १५ मार्च तक उपयुक्त माना जाता है। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भाग के लिए १५ फरवरी से १५ मार्च, मध्य उत्तर-प्रदेश के लिए फरवरी और पूर्वी भाग के लिए १५ जनवरी से १५ फरवरी का समय निर्धारित किया गया है। अनुभव से ज्ञात किया गया है कि फसल जितनी पहले बो दी जाती है, अंकुरण और उसकी वृद्धि उतनी ही अच्छी होगी। अगली फसल की जड़ें मई-जून में लू चलने के समय तक पर्याप्त गहराई तक नीचे चली जाती हैं जिससे लू का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ पाता। तराई के जिलों में गन्ने की बोआई अक्टूबर-नवम्बर में ही कर दी जाती है।

बीज की मात्रा—प्रति एकड़ टोटों की आवश्यक मात्रा दो टोटों के आपस की दूरी, जाति और टोटों की लम्बाई तथा बोआई की विधि आदि पर निर्भर करती है। जब टोटे आँख से आँख सटा कर बोये जाते हैं तो बीज की मात्रा अधिक लगेगी किन्तु सिरे से सिरा सटाने की विधि में यह मात्रा कुछ कम हो जाती है। वह जाति जिसके पोर लम्बे और मोटे किस्म के होते हैं, छोटे पोर और पतले तने वाली जाति से अधिक मात्रा चाहेगी। उदाहरणस्वरूप बाबुर स्ट्राइप्ड (Babbur Striped) जाति के एक टन में केवल ३,५०० टोटे होते हैं जबकि एक पतली जाति एच० एम० ६०२ के एक टन में ६,८६० टोटे आते हैं। टोटे यदि अधिक हैं तो उनकी संख्या बहुत कम लगेगी किन्तु छोटी-छोटी संख्या में अधिक आवश्यक होगी। साधारण बोआई में २-३ आँख वाले टोटे ही प्रयोग किये जाते हैं। बोआई की विधि का बीज की मात्रा से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्यू और दत्त का कथन है कि नालियों की विधि में प्रति एकड़ के हिसाब से मोटे गन्ने ६० मन और पतले गन्ने ४० मन लगते हैं जिसमें टोटों की संख्या १,३०० से २,००० तक होती है। किन्तु अय्यर के अनुसार यह मात्रा बहुत कम मालूम पड़ती है। उनका कहना है कि जब छोटे

टोटे प्रयोग किये जाते हैं, जिनमें केवल तीन आँखें होती हैं तो एक एकड़ में टोटों की संख्या कम से कम १०,००० होती है। गड्ढों की विधि के लिए भी उन्होंने यही मात्रा बतलाई है जिसमें प्रत्येक गड्ढे दूसरे गड्ढे से ३′ की दूरी पर होते हैं और जिनमें एक साथ टोटे बोये जाते हैं। उनके अनुसार कूँड-मेंड़ विधि में जिसमें कूँड़ें ३′ की दूरी पर बनी हों, टोटों की यही मात्रा पर्याप्त होती है। किन्तु इस मात्रा में उन्होंने ३-५% अधिक ऐसे बीज भी सम्मिलित किये हैं जो अस्वस्थ, क्षतिग्रस्त अथवा कटे होने पर बोआई से छाँटे जा सकते हैं। अय्यर के उक्त कथन का समर्थन इस बात पर भी हो जाता है कि "जब गन्ने की छँटाई बड़े जोर-शोर से की जाती है तो एक एकड़ की बोआई के लिए ८ से १० हजार टोटे पर्याप्त हो सकते हैं।"

खाद—गन्ने के लिए खाद बहुत आवश्यक वस्तु है क्योंकि यह अधिक खाद चाहने वाली फसल है और खाद की उपस्थिति में अच्छी उपज भी देती है। गन्ने को १५० से २०० पौंड नाइट्रोजन की आवश्यकता है किन्तु यह आवश्यकता स्थान-स्थान की भूमि में परिवर्तित होती रहती है। उत्तरप्रदेश में शाहजहाँपुर में एक प्रयोग किया गया जिससे ज्ञात किया गया कि गन्ने के लिए प्रति एकड़ १०० पौंड नाइट्रोजन पर्याप्त होता है। इसी प्रकार का एक अन्य प्रयोग मुजफ्फर नगर में हुआ जिसमें नाइट्रोजन की आवश्यकता १२० पौंड प्रति एकड़ ज्ञात की गई। गोरखपुर के प्रयोग में नाइट्रोजन की १०० पौंड और ६० पौंड प्रति एकड़ की मात्रा में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम हुआ। इन प्रयोगों के आधार पर यह निश्चत किया गया है कि उत्तरप्रदेश की भूमि को १२० पौंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन की मात्रा पर्याप्त होती है। उन स्थानों पर जहाँ भूमि कम उर्वर हो और गन्ने की अधिक ऊँची उपज प्राप्त करनी हो तो नाइट्रोजन की २००-२५० पौंड मात्रा प्रति एकड़ दी जा सकती है। शाहजहाँपुर के प्रयोग से यह भी परिणाम निकला कि यहाँ की भूमि को केवल नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है। पोटाश और फास्फोरस और केवल नाइट्रोजन के देने से ही उपज बहुत अच्छी प्राप्त होती है। किन्तु यह बात गोरखपुर की भूमि में नही पाई जाती। वहाँ फास्फोरस का अधिक अभाव ज्ञात किया गया है और यह अभाव केवल भूमि की दूसरी किस्म में ही होता है। भूमि में नाइट्रोज़न, फास्फोरस और पोटाश का प्रतिशत ज्ञात करने के लिए भारत के लगभग प्रत्येक राज्य में प्रयोग हुए हैं और इनका प्रतिशत ज्ञात कर लिया गया है। इससे यह मालूम हो चुका है कि किस स्थान की भूमि में किस तत्व का अभाव है और

किस तत्व का बाहुल्य। बिहार राज्य की भूमि में नाइट्रोज़न और फास्फोरस का अभाव है जब कि पंजाब में केवल नाइट्रोजन का। बिहार के लिए फास्फ़ोरस की ६० पौंड प्रति एकड़ मात्रा देने की सिफारिश की गई है। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि पंजाब की भूमि में फास्फोरस देने से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

मद्रास, मैसूर, बम्बई और उड़ीसा की भूमियों में नाइट्रोजन का अभाव है जिसे दूर करने के लिए नाइट्रोजन का प्रयोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रयोगों से परिमाण निकाला गया है कि सम्पूर्ण भारतीय भूमि में गन्ने की फसल के लिए नाइट्रोजन का अभाव है और इस अभाव को पूर्ण करने के लिए नाइट्रोजन प्रदान करने वाली खादें प्रयोग करनी चाहिए। फास्फोरस और पोटाश का भी प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वहीं जहाँ इनका अभाव हो।

नाइट्रोजन की मात्रा भूमि में कई प्रकार से दी जाती है। प्रथम ढंग हरी खाद का है जिसकी बोआई गन्ने की तैयारी के कुछ महीने पूर्व खरीफ में ही कर देते हैं। उत्तर प्रदेश में हरी खाद की फसलों में सनई (Crotolaria) अधिक मुख्य है जो कम समय में अच्छी बढ़वार कर लेती है। बिहार में भी यही फसल प्रचलित है किन्तु पञ्जाब में इसके स्थान पर सेंजी (Melilotus parviflora) और बंगाल और मद्रास में ढैंचा (Seshania aculeata) उत्पन्न की जाती हैं। फ़सलें जब एक निश्चित ऊँचाई तक बढ़ आती हैं तो उन्हें भूमि में दबा देते हैं और गन्ने के खेत की तैयारी शुरू करते हैं। हरी खाद नाइट्रोजन का बहुत सस्ता स्रोत है, अतः इसे नाइट्रोजन के अभाव वाली भूमि में अवश्य उगाना चाहिए। दूसरी प्रकार की खाद गोबर की खाद और कम्पोस्ट हैं। गोबर की खाद के विषय में लोगों का ऐसा विचार है कि इसे फसल में सीधे रूप से नहीं देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से दीमक के आक्रमण की आशंका होती है और मात्रा में अधिकता हो जाने से फ़सल के पकने में देर हो जाती है। अतः इसे पूर्ववर्ती फसल में दे दिया जाता है या उसी समय दे दिया जाता है जबकि खेत की तैयारी होती रहती है। गोबर की खाद १० गाड़ी प्रति एकड़ के हिसाब से देनी चाहिए। खाद की यह मात्रा नालियाँ बनाने के समय ही दी जाती है और भूमि में भली-भाँति मिला दी जाती है ताकि गन्ने की बोआई के समय तक पूर्णरूपेण सड़कर मिट्टी में घुल-मिल जाय। यदि इस कार्य में थोड़ी-सी भी भूल हुई तो दीमक का आक्रमण हो जाता है और फसल विनष्ट हो जाती है। तीसरी प्रकार की खाद खलियाँ हैं जिनमें गन्ने के लिए अरण्डी और सरसों की

खलियाँ विशेष उपयुक्त मानी जाती हैं। इन्हे प्रति एकड़ ७ मन की दर से प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग का उत्तम समय बोआई का समय है। चौथे प्रकार की खाद उर्वरक या फर्टिलाइजर हैं जिन्हे खड़ी फ़सल में कल्ले फूटते समय दिया जाता है। उर्वरको में अमोनियम सल्फेट और सुपर फास्फेट, अधिक मुख्य हैं। कुछ स्थानों पर चिलियन नाइट्रेट का भी प्रयोग होता है किन्तु इसका प्रभाव अमोनियम सल्फेट की भाँति लाभपूर्ण नहीं होता। अमोनियम सल्फेट और सुपर सल्फेट के मिश्रण में, जो अमो-फास (Ammo-phos) के नाम से प्रसिद्ध है, नाइट्रोजन और फास्फोरस दोनों अधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं। इस मिश्रण के प्रयोग से एक ही साथ दो तत्वो की पूर्ति की जा सकती है किन्तु भूमि की जाँच करके इस बात का ज्ञान अवश्य करना चाहिए कि भूमि को किस तत्व की कितनी आवश्यकता है, अतः तत्व की मात्रा आवश्यकतानुसार ही देनी चाहिए अथवा पौधों की बढ़वार पर हानिकर प्रभाव पड़ सकता है। अनुभव से ज्ञात किया गया है कि गन्ने में जब नाइट्रोजन की मात्रा अधिक हो जाती है तो उससे गुड़ नहीं तैयार हो पाता और यदि तैयार भी होता है तो घटिये किस्म का। उर्वरकों को प्रयोग करने का ढग सर्वत्र एक-सा नहीं है। कुछ स्थानों पर इसे टोंटे के बगल में गिरा दिया जाता है और फिर मिट्टी से ढक दिया जाता है। कुछ स्थानो पर मेडों पर पौधों के निकट एक छोटा छिद्र बनाया जाता है और फिर उसमें लकड़ी के एक चम्मच द्वारा अमोनियम सल्फेट भर दिया जाता है। भरने के पश्चात् गड्ढे मिट्टी से ढँक दिये जाते हैं और पैरों से दबा दिये जाते हैं। इस ढंग से उर्वरक रिस कर कम बह पाता है। छिद्रों में खाद देने का यह ढंग जावा विधि के नाम से प्रसिद्ध है। कभी-कभी ये खादें अकेले न देकर मिश्रण रूप में दी जाती हैं जैसे गोबर की खाद और अंडी की खली, गोबर की खाद और हरी खाद, गोबर की खाद और कम्पोस्ट तथा अमोनियम सल्फेट और हरी खाद। प्रयोगों से ज्ञात किया गया है कि उर्वरकों के लगातार प्रयोग से गन्ने की उपज में ह्रास होने लगता है अतः उर्वरक प्रति वर्ष नहीं प्रयोग करना चाहिए।

सिंचाई—खाद की भाँति गन्ने की फसल को सिंचाई की भी अधिक आवश्यकता है। सिंचाई की संख्या, उस स्थान पर होने वाली वार्षिक वर्षा की मात्रा, गन्ने की जाति, मिट्टी की किस्म और पानी की सुविधा पर निर्भर करती हैं। उन स्थानों पर जहाँ वर्षा अधिक होती है, फसल के सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु भारतवर्ष के गन्ना उगाने वाले उन क्षेत्रों में जहाँ पानी कम बरसता है फसल

की सिंचाई करनी पड़ती है। प्यू और दत्त ने अपनी पुस्तक "क्राप प्रोडक्शन इन इंडिया" में लिखा है कि मालिसन (Mollison) का दावा है कि बम्बई में लगभग ३०″ की वार्षिक वर्षा पर गन्ने के वृद्धि-काल में ८०″ की सिंचाई फसल को परिपक्व बनाने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने रावर्ट्स (Roberts) और फाल्कनर (Faulkner) का अनुमान बताते हुए लिखा है कि पञ्जाब में मोटी किस्म की जातियों के लिए ८०″ और पतली किस्म की जातियों की ५०-६०″ की सिंचाई आवश्यक है।

गन्ने की फसल की पहली सिंचाई उस समय करते हैं जबकि भूमि में बोआई के समय नमी का अभाव होता है। नमी के अभाव में बोआई करने से अंकुरण सन्तोषप्रद नहीं होता अतः ऐसी स्थिति में एक हल्की सिंचाई द्वारा भूमि को नम बना देना अच्छा होता है। जब गन्ने की बोआई के समय भूमि में नमी कम रहती है और बोआई कर दी जाती है तो बोआई के कुछ ही दिन पश्चात् एक हलकी सिंचाई कर देनी चाहिए अन्यथा फसल अच्छी नहीं प्राप्त हो सकती। दूसरी सिंचाई बोआई के एक माह पाश्चात् करनी चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक २०-२५ दिन के अन्तर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। सिंचाई का यह क्रम मानसून के प्रारम्भ न होने तक जारी रहता है। मानसून के समय इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु मानसून के पश्चात् सितम्बर-अक्टूबर के महीने में जबकि गन्ने में शक्कर बनता है, भूमि में नमी की उपस्थिति उतनी ही आवश्यक है जितनी कि मई-जून के महीने में कल्लों के फूटते समय आवश्यक होती है। इस प्रकार गन्ने की फसल के लिए ४-५ सिंचाइयाँ पर्याप्त समझी जाती हैं किन्तु कुछ स्थानों पर जहाँ पानी की उपलब्धता अधिक होती हैं, यह संख्या ७-८ तक पहुँच जाती है।

सिंचाई करने की विधि बहुत कुछ बोआई पर निर्भर करती है। यदि बोआई चौरस खेत में हल के पीछे की विधि से की गई है तो सारे खेत में चौड़ी-चौड़ी क्यारियाँ बना ली जाती हैं और फिर उनके बीच पानी की ऐसी नालियाँ निकाल दी जाती हैं जिनसे पानी क्यारियों तक सरलतापूर्वक पहुँच जाय। नालियों की विधि में एक लम्बी-चौड़ी नाली इस प्रकार तैयार की जाती है जिससे प्रत्येक नाली में पानी पहुँचाया जा सके। इस विधि में केवल नालियों की सिंचाई की जाती है जिससे सिंचाई का व्यय कम पड़ता है और पौधों को पानी की आवश्यक मात्रा भी उपलब्ध हो जाती है। कूँड़ों और मेड़ों की विधि में सिंचाई कूँड़ों की विधि से की जाती है। पानी मुख्य नाली द्वारा कूँड़ों तक पहुँचता है और फिर कूँड़ों में एक पौधे के बाद दूसरे

को सींचता जाता है। जब एक कूँड़ की सिंचाई हो जाती है तो दूसरी कूँड़ को सींचना प्रारम्भ करते हैं। जब पौधे एक निश्चित ऊँचाई तक बढ़ जाते हैं तो उनकी गुड़ाई की जाती है। इस गुड़ाई में मेंड़ों को काटकर वहाँ की मिट्टी कूँड़ में छोड़ देते हैं जिससे कूँड़ा मेंड़ बन जाते हैं और मेंड़े कूँड़। इस गुड़ाई के पश्चात् सिंचाई इन्हीं नव निर्मित कूँड़ों में की जाती है। गड्ढों की विधि में नालियाँ पानी से भर दी जाती हैं जिससे उनमें बने हुए तथाकथित कुएँ जलमय हो जाते हैं। इन्हीं कुँओं से पानी निकालकर पौधों की सिंचाई की जाती है। जब पौधों को अधिक नमी की आवश्यकता होती है तो कुँओं से पानी निकाला नहीं जाता है अपितु नालियों को पानी से भर दिया जाता है और तत्पचात् उनका पानी गढ्ढों की भूमि पर भला-भाँति छिड़क दिया जाता है। गुड़ाई हो जाने पर इनका रूप कूँड़ और मेड़ों जैसा हो जाता है। किन्तु यह ढंग कुछ ही स्थानों पर प्रचलित हैं, सर्वत्र नहीं। इसका प्रचार प्राय: उन्हीं स्थानों पर है जहाँ कि भूमि में जल-निकास की विशेष आवश्यकता नहीं होता। पानी जमा हो जाने वाले स्थानों पर नालियाँ अधिक सहायक सिद्ध होती हैं क्योंकि अधिक पानी इनकी सहायता से ही खेत के बाहर सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है।

गुड़ाई और मिट्टी चढ़ाना—गन्ने को गुड़ाई की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। सिंचाई और गुडाई के सम्बन्ध में घाघ की यह कहावत—तीन सिंचाई तेरह गोड़ा तब देखो गन्ने का पोड़ा, अधिक महत्वपूर्ण है। प्रथम गुड़ाई बोआई के शीघ्र पश्चात् की जाती है ताकि खेत की भूमि इतनी भुरभुरी हो जाय कि अँखुओं के निकलने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। इस गुड़ाई से भूमि की ऊपरी सतह जो सूख गई होती है फिर नम हो जाती है और भूमि में उग आई घासें भी कट जाती हैं। इस गुड़ाई के पश्चात् यदि नमी का अभाव ज्ञात हो तो शीघ्र सिंचाई करनी चाहिए। सिंचाई के पश्चात् भूमि की ऊपरी सतह के सूखते ही गुड़ाई कर देनी चाहिए। इस गुड़ाई के १०-१२ दिन पश्चात् दूसरी गुड़ाई करके मिट्टी कुरेद दी जाती है जिससे भूमि की नमी शीघ्र न सूखने पावे और उगी घास-पातें भी पलट कर भूमि में दब जायँ। इस समय की गुड़ाई में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उगते हुए अँखुए न कटने पावें। यदि किसी स्थान पर दीमक, तनाछेदक अथया टोटे की अस्वस्थता आदि कारणों से अंकुरण न हो सका हो और वहाँ रिक्तता हो तो उसे भरने के लिए नये स्वस्थ टोटे लगा दिये जाते हैं। इस समय यदि जमाव की गति सन्तोषप्रद न हो तो अमो-

नियम सल्फेट अथवा खलियों की हल्की मात्रा भी प्रयोग की जा सकती है। प्रति सिंचाई के पश्चात् भूमि को २-३ बार गोड़ना चाहिए। इस गुड़ाई से घास-पात तो विनष्ट होते ही हैं, भूमि में नमी भी अधिक काल तक स्थिर रहती है। इस प्रकार गन्ने के खेत में गुड़ाइयों की कुल संख्या १०-१२ तक पहुँच जाती है। जिन स्थानों पर पानी की अधिक सुविधा होती है, वहाँ गुड़ाइयों की संख्या कम करके सिंचाइयों की संख्या बढ़ा दी जाती है। वहाँ सिंचाई के पश्चात् एक ही गुड़ाई की जाती है और इस प्रकार कुल गुड़ाइयाँ ७-८ से अधिक नहीं होती। मानसून के प्रारम्भ होनेपर गुड़ाई की क्रिया नहीं की जाती है क्योंकि लगातार पानी बरसने से गुड़ाई का समय ही नहीं मिल पाता, किन्तु यदि समय मिले तो प्रथम वर्षा के पश्चात् एक गुड़ाई अवश्य कर देनी चाहिए। इस गुड़ाई में यह बात नहीं भूल जाना चाहिए कि पौधे काफ़ी बढ़ गये होते हैं और उनकी जड़ें भी अधिक दूरी तक फैल गई होती है, अतः पौधों की जड़ों के पास कदापि गुड़ाई नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे जड़ों के कट जाने की आशंका होती है। गुड़ाई के कार्य के लिए कुदाली, अकोला हो और प्लेनेट जूनियर कल्टिवेटर काम में लाये जाते हैं।

गन्ने की जड़ों पर मिट्टी चढ़ाने का कार्य गुड़ाई के साथ ही चलता रहता है। यह कार्य केवल नालियों और कूँड-मेंड़ की विधि से बोयी गई फसलों में होता है। गुड़ाई करते समय मेंडों की मिट्टी धीरे-धीरे काटते जाते हैं और उसे कूँड़ों में गिराते जाते हैं। पौधों को २ ३′ की ऊँचाई तक होने तक मेंड़े और कूँड़ समतल बना दी जाती है। जब गन्ने के खेत की भूमि समतल बन जाय तो मेंड़े के स्थान की मिट्टी कूँड़ के स्थान पर जमा करना प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे मेंड़ के स्थान पर नाली और नाली के स्थान पर मेंड़ बन जाती हैं। यह कार्य वर्षा के प्रारम्भ होने के पूर्व ही समाप्त हो जाना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर पौधे के गिरने का भय रहता है। मेंड़ों की यह मिट्टी जड़ों को भली-भाँति ढक लेती हैं और पौधो को सुदृढ़ बना देती है। कुछ स्थानों पर जब मेंड़े की जगह कूँड़ और कूँड़ की जगह मेंड़ बनाने का कार्य प्रारम्भ होता है तो भूमि में अमोनियम सल्फेट और खलियों की भारी मात्रा दी जाती है। खलियाँ प्रयोग के पूर्व भुरभुरी कर ली जाती है और अमोनियम सल्फेट के साथ भूमि में दे दी जाती है।

गन्ने की बँधाई (wrapping and tying)—इस क्रिया में गन्ने की नीचे वाली पत्तियाँ झुकाई जाती हैं और एक साथ लपेट कर इस प्रकार बाँधी जाती हैं कि दो-तीन पौधों के पूरे गन्ने उसमें आ जाते हैं। इस क्रिया से गन्ने भूमि पर

गिरने नहीं पाते, अतः यह उन्हीं जातियों में अधिकतर प्रयोग किया जाता है जो लम्बी होती हैं और जिनके गिरने का भय अधिक होता है। पतले छिल्के वाली मुलायम जातियों के लिए भी यह क्रिया लाभप्रद होती है। इनपर कीड़े-मकोड़ों और शृगाल, साही, चूहे जैसे जानवरों का आक्रमण होता है। पौधों की बँधाई के पश्चात् आक्रमण कम हो जाता है। बँधाई की क्रिया अधिक व्ययशील है अतः इसे सर्वत्र नहीं प्रयोग किया जाता। यह क्रिया उस समय प्रारम्भ की जाती है जबकि पौधे लग-भग ५ महीने की आयु के हो जाते हैं और कुछ समय के अन्तर पर चार बार की जाती है। इस क्रिया का प्रभाव किनारे के पौधों पर नहीं पड़ पाता, अतः उन्हें गिरने से बचाने के लिए बाँस के खम्भे या तार प्रयोग किये जाते हैं। दो पत्तियों के गन्ने के सिरे एक साथ लाकर रस्सियों से बाँध दिये जाते हैं और बाँस के खम्भों को पंक्तियों के सिरों पर गाड़कर आधार बनाये जाते हैं। मद्रास में पूर्वी घाट पर यह विधि अधिक प्रयोग होती है किन्तु आजकल इनके स्थान पर तारों को काम में लाया जाने लगा है। जिन जातियों के गिरने का अधिक भय होता है उनके सम्पूर्ण खेत में तार बाँधने का कार्य किया जाता है। इस क्रिया से पौधों को गिरने से बचाने और जंगली जानवरों के आक्रमण से रोकने के अतिरिक्त पोर फटने के दोष (Splitting of internodes) से भी कुछ सीमा तक बचाया जा सकता है। इस क्रिया से खेत में आने-जा ने की भी सुविधा हो जाती है।

कुछ स्थानों पर पौधों को गिरने से बचाने के लिए पत्तियाँ छुड़ाने की विधि (Trashing) प्रयोग की जाती है। इस विधि का लाभ वहीं उठाया जा सकता है जहाँ जोरों की हवाएँ चलती हैं। अन्य स्थानों पर यह लाभप्रद नहीं कही जा सकती क्योंकि पत्तियों के छुड़ाने से उनके नीचे के भाग जो गाँठों में लगे रह जाते हैं, कीड़ा या फफूँदी के स्पोर के बढ़ने के लिए आश्रय प्रदान करते हैं। अत. यह ढग बहुत कम स्थानों पर प्रचलित है।

कटाई—जब गन्ने पक जाते हैं तो उनकी कटाई प्रारम्भ कर दी जाती है। गन्ने की कटाई उनके पकने पर ही करनी चाहिए। इसके लिए कुछ लक्षण हैं जिन्हें प्रत्येक गन्ने की खेती करने वाले कृषक को जानना चाहिए। यद्यपि ये लक्षण सभी जातियों में समान नहीं होते किन्तु फिर भी ऐसा देखा जाता है कि पकने पर इनकी पत्तियों का रंग हरा से पीला होने लगता है और ये कुछ सूखी-सूखी-सी लगती हैं। कुछ जातियों में फूल निकलना प्रारम्भ हो जाता है जो प्रायः पौधों के पक जाने

पर ही होता है। फूल निकलने पर गन्ने पूर्ण परिपक्व माने जाते हैं और उनकी कटाई शुरू कर दी जाती है। किन्तु ये लक्षण केवल अनुमान-मात्र हैं, इनसे पकने की सही स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता है। इसकी सही जाँच के लिए थोड़े-से पौधे काटकर मशीन में पेरे जाते हैं और रस निकाल कर उनका गुड़ तैयार किया जाता है। यदि गुड़ का प्रतिशत अधिक होता है और उसकी दशा भी अच्छी होती है तो गन्ना पका हुआ समझा जाता है। अधिक सही जाँच रासायनिक ढंग से की जाती है जिसमें प्रत्येक प्लाट (Plo) से ४ या ६ गन्ने लिये जाते हैं। इन गन्नों के रस निचोड़ लिये जाते हैं और फिर इनके सुक्रोज का प्रतिशत ज्ञात किया जाता है। यदि ग्लूकोज ५ या इससे कम प्रतिशत में उपस्थित होता है तो गन्ने को पका हुआ समझते हैं। गन्ने की कटाई यदि समय के पूर्व कर दी जाती है तो गुड़ में सुक्रोज की आवश्यक मात्रा नहीं उपलब्ध हो पाती और न गुड़ ही अच्छा बन पाता है। कटाई में देरी हो जाने पर भी गन्ने के गुणों में कुछ दोष आ जाते हैं। फूल निकलने पर यदि गन्ने अधिक समय तक खेत में खड़े छोड़ दिये जाते हैं तो गन्ने के निचले भाग खोखले हो जाते हैं और उनकी आँखों से कल्ले फूटने लगते हैं।

गन्ने की कटाई हँसिए या गँड़ासे की सहायता से की जाती है। तने भूमि की सतह से सटा कर काटे जाते हैं ताकि तने का थोड़ा-सा भाग भी व्यर्थ न जाय। काटने के पश्चात् तने से पत्तियाँ पृथक की जाती हैं। पत्तियों के पृथक करने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सूखी पत्तियाँ एक ओर और हरी दूसरी ओर पड़ें क्योंकि सूखी पत्तियाँ ईंधन या छप्पर के काम में प्रयोग की जाती हैं और हरी पत्तियों को जानवर बड़े चाव से खाते हैं। तने का ऊपरी सिरा जहाँ से पत्तियों का निकलना कठिन हो जाता है और पोर भी अधिक नये लगते हैं वहाँ पत्ती छुड़ाना बन्द कर देते हैं और ऊपरी सिरा हरे चारे के काम में लाते हैं। किन्तु ऊपरी सिरा किस दूरी पर तने से अलग किया जाय, यह अच्छी तरह ज्ञात कर लेना चाहिए क्योंकि इसमें भूल होने से पके पोर भी अलग हो सकते हैं और अन्ततोगत्वा उपज में कमी आ सकती है। तने साफ करने के पश्चात् बोझों में बना लिये जाते हैं। और तब ये या तो मशीनों में पेरने के लिये ले जाये जाते हैं अथवा मिलों को भेज दिये जाते हैं। इनके पेरने का कार्य कटाई के शीघ्र पश्चात् होना चाहिए। देरी होने से सुक्रोज की मात्रा में कमी आने लगती है।

गन्ने के कीड़े और रोग—गन्ने की फसल पर अनेक प्रकार के कीड़े

आक्रमण करते हैं और इस प्रकार फसल को क्षति पहुँचाते हैं। इन कीड़ों में पायरिला तना छेदक (स्टेम बोरर), जड़ छेदक (रूट बोरर) अधिक मुख्य हैं। यहाँ प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जायगा।

पायरिला (Pyrilla) —यह कीड़ा पायरिला परप्युसिला वाक (Pyrilla perpusilla Walk) कहलाता है। इसका आर्डर होमोप्टरा तथा कुल फलगोरिडी
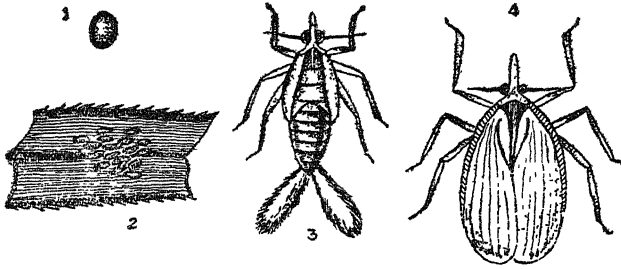
चित्र ६२—पायरिला १. अंडा, २. पत्ती पर अंडे, ३. मादा कीड़ा और ४. नर कीड़

(Fplgoridae) है। यह गन्ने की फसल को बहुत अधिक क्षति पहुँचाता है जिससे फसल के गुण और परिमाण दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। गन्ने में चीनी का प्रतिशत लगभग आधा कम हो जाता है और गुड़ स्वादरहित हो जाता है। कीड़े के प्रौढ़ और शिशु दोनों पत्तियों के निचले धरातल पर आक्रमण करके रस चूसते हैं और उन पर एक प्रकार का रसदार पदार्थ छोड़ देते हैं जिससे फसल पर फन्जाई आदि के आक्रमण की आशंका रहती है। रस चूसने में छोटे-छोटे छेद बन जाते हैं जिनसे इसकी उपस्थिति पहचानी जा सकती है।

पायरिला भूसे के रंग का पीला कीड़ा है जो लगभग ५ मिलीमीटर लम्बा होता है। सिर लम्बा होता है। पीछे की ओर सफेद-भूरे रंग के दो एनल प्रासेसेज (Anal-processes) होते हैं जिनकी सहायता से यह हिल सकता है। इन्हें रोकने के लिए अण्डों को विनष्ट कर देना चाहिए। अण्डों पर निकोटीन सल्फेट का छिड़काव अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। निकोटीन सल्फेट का भुरकाव भी अच्छा काम करता है। गैमेक्सीन ६६६ या बी० एच० सी० ·०२५% भी सफलता पूर्वक प्रयोग किये जा सकते हैं। क्रूड रेंडी का तेल गोली के साथ प्रयोग किया जा सकता है। प्रौढ़ और शिशु कीड़ों को जाली द्वारा भी पकड़ कर मारा जा सकता है।

गन्ने की सफेद मक्खी—गन्ने की सफेद मक्खी (Aleurolobus barodenis Mask) अल्यूरोलिडी (Aleurolidae) कुल में सम्मिलित होती है। कीड़े
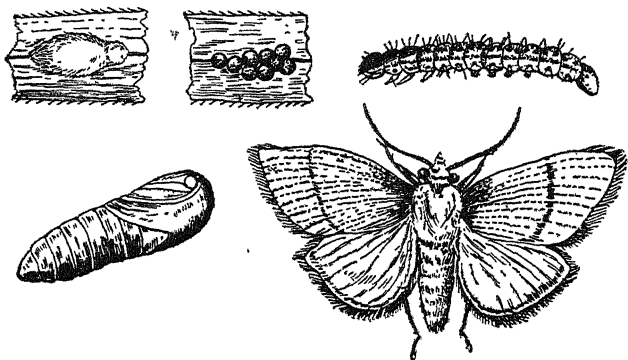
चित्र ६३—तनाछेदक गन्ने का कीड़ा प्रभावित पत्तियाँ, गिडार प्यूपा और प्रौढ़कीड़ा

प्रौढ़ावस्था में छोटे आकार के, काली आँखवाले, पंख सहित लगभग २·२५ मिली मीटर लम्बे होते हैं। रंग चमकदार होता है। ये कीड़े पत्तियों के निचले धरातल या बन्द पत्तियों के सिरे पर होते हैं। इनके आक्रमण से पौधा रोगी हो जाता है और उनका रंग पीला हो जाता है। चीनी कम हो जाती है और गुड़ अच्छा नहीं हो पाता। भयंकर आक्रमण होने पर लगभग आधी फसल बर्बाद हो जाती है। इस मक्खी का प्रभाव जुलाई से नवम्बर तक रहता है। पेड़ी फसल पर इनका आक्रमण अधिक होता है। इनकी रोक थाम के लिए पेड़ी फसल की निगरानी करनी चाहिए। मक्खियों से प्रभावित पत्तियाँ जला या भूमि में गाड़ देनी चाहिए। रोजिन-वाश (Rosin-wash) का छिड़काव करना चाहिए।

गन्ने का तना छेदक (Stem borer)—यह कीड़ा डायट्रीबेनेसोटा (Diatroea venosata W.) पायरलिडी (Pyralidae) कुल से सम्बन्ध रखता है। यह हरे-पीले रंग का माथ है जिसके ऊपर गहरी और चमकीली धारियाँ बनी होती हैं। अगले पंख संकरे और लम्बे होते हैं। यह केवल रात को बाहर निकलता है और दिन भर पत्तियों में घुसा रहता है। यह ४-५ सप्ताह की आयुवाले पौधों पर अधिक आक्रमण करता है और यह आक्रमण उस समय तक जारी रहता है जब तक कि पौधों

जाय। लार्वा अधिक हानि पहुँचाता है। यह गन्ने के भीतर घुस कर गन्ना नष्ट कर देता है जिसे डेड हार्ट (Dead hearts) कहते हैं। इस कीड़े की रोक-थाम के लिए अंडे नष्ट कर दिये जाते हैं। पेड़ी नहीं रखना चाहिए। बोने से पहले टूकड़े पानी में भिगो लेने चाहिए इससे छेदक मर जाते हैं। खेत में पानी भर देने से भी ये नष्ट हो जाते हैं। नाइट्रोजन की खाद देने से कीड़ों का आक्रमण कम हो जाता है। को० ३११ किस्म इस कीड़े का आक्रमण सहन करने की क्षमता रखती है।

सिरा छेदक (Top shoot-borer)—शिरा छेदक (Scirpophaga nivella Fabr) गन्ने का अधिक भयंकर कीड़ा है जो शिरे पर ४-५ गाँठों पर
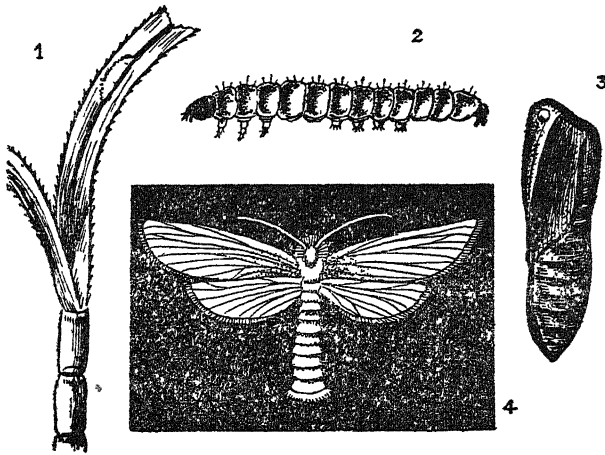
चित्र ६४—सिरा छेदक कीड़ा। १. सिरे पर अंडे, २. गिड़ार, ३. प्यूपा और ४. प्रौढ़ कीड़ा

आक्रमण करता है। आक्रमण से पत्तियों में ऐठन आ जाती है और वे सूखने लगती हैं जिससे डेड हार्ट रोग हो जाता है। कीड़ा चाँदी के रंग का माथ है। इसकी आँखें काली होती है। स्त्री कीड़े में पिछले भाग पीले-नारंगी या भूरे रंग के पाये जाते हैं जिनसे स्त्री-पुरुष सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते हैं। इन्हें रोकने के लिए अण्डे नष्ट कर देने चाहिए। डेड हार्ट वाले तने चुनकर निकाल देना चाहिए और उनमें उपस्थित गिड़ारें मार डालनी चाहिए। लाइट ट्रेप द्वारा कीड़ों को पकड़ कर मारना चाहिए। पेड़ी नहीं रखना चाहिए।

गन्ने का जड़ छेदक (Root-borer)—जड़ छेदक (Emmalocera depressella Swinn) पायरैलिडी कुल में आता है। सिरा छेदक की भाँति यह कीड़ा
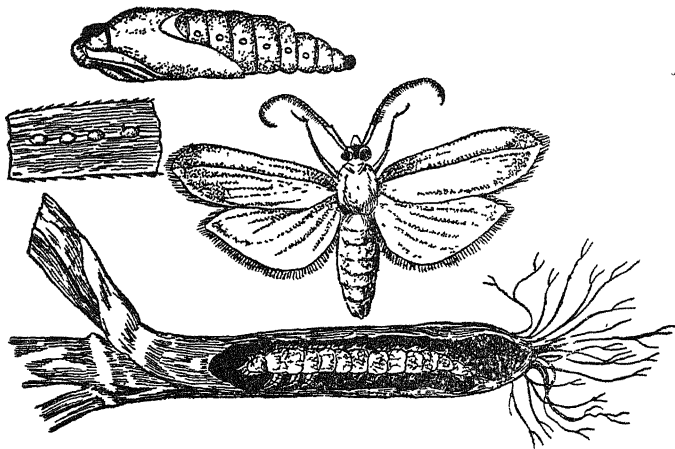
चित्र ६५—गन्ने का जड़ छेदक कीड़ा, अंडा, गिड़ार, प्यूपा और प्रौढ़

भी तने का भयंकर शत्रु है। इनकी गिड़ारें फसल को अधिक हानि पहुँचाती हैं। ये नये पौधों की जड़ों के पास अधिकतर पाये जाते हैं। इनके आक्रमण के फलस्वरूप सर्वप्रथम तने के सिरे का मध्य भाग सूख जाता है। ये धरातल के पास तने में छेद करते हैं और उसके भीतर ही पड़े रहते हैं, ऊपर नहीं जाते। प्रभावित नये पौधे सूख जाते हैं और प्रौढ़ पौधे दुर्बल हो कर गिर जाते हैं। यह कीड़ा एक माथ है जो अपने रंग से सरलतापूर्वक पहचाना जा सकता है। पंख के फैलाव पर इसकी लम्बाई लगभग २० मिलीमीटर होती है। अगले पंखों पर गहरी धारियाँ होती हैं। पिछले पंख सफेद, छोटे और चौड़े होते हैं। कीड़ों के प्रभाव से फसल को बचाने के लिए प्रभावित पौधे उखाड़कर खेत से अलग कर देना चाहिए। अवरोधी जातियाँ जैसे को० २६६ और ३१३ बोनी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पेड़ी नहीं रखनी चाहिए।

गन्ने का हिस्पा (A Sugarcane hispa)—हिस्पा (Asmangulia cuspidata) का लार्वा गन्ने की फसल को अधिक क्षति पहुँचाता है। ये पत्तियों में छेद कर देते हैं जिससे वे हल्के,या भूरे रंग की हो जाती हैं और इससे अपना कार्य

उचित रूप से नहीं कर पाती हैं। यह एक छोटा कीड़ा लगभग $\frac{1}{8}$ इंच लम्बा होता है। इसका रंग काला होता है और शरीर पर काले काँटे उपस्थित होते हैं। इन कीड़ों का प्रकोप जुलाई-अगस्त में बढ़ जाता है। इनकी रोक-थाम के लिए प्रभावित या कीड़ों से ग्रसित पत्तियाँ खेत से निकाल कर गाड़ या जला देना चाहिए। कीड़े पकड़ कर भी मारे जा सकते हैं।

दीमक (White ants or termite)—दीमक भी गन्ने की फसल पर बहुत अधिक आक्रमण करते हैं। ये अधिकांशतः गन्ने के टोटे (Setts) या जड़ों पर ही सीमित रहते हैं। कभी-कभी मुख्य तने और पत्तियों का भी शिकार करते पाये जाते हैं। इनका आक्रमण पौधे के जिस अंग पर हो जाता है, वहाँ ये बुरी तरह लपट जाते हैं और तब तक लिपटे रहते हैं जब तक कि पूरा पौधा मुरझा या सूख न जाय। टोटों पर आक्रमण करके ये उन्हें काट डालते हैं, उनमें स्थान-स्थान पर छिद्र हो जाते हैं। गाँठें और आँखें खराब हो जाती है, जिससे उनमें अंकुरण की शक्ति नहीं रह जाती। खेत में ताजे गोबर डालने से इनका आक्रमण अधिक होता है। अतः इनकी रोक-थाम के लिए बिना सड़ी हुई खाद खेत में मिला कर भी नहीं डालनी चाहिए। 'दीमक की रानी' को मारने की चेष्टा करनी चाहिए। नीम की खली या क्रूड आयल इमल्शन् का प्रयोग करना चाहिए। क्रूड आयल इमल्शन (२·५%) सिंचाई के पानी के साथ देनी चाहिए। पेरिसग्रीन या गोंडाल मिश्रण का प्रयोग भी सफल सिद्ध होता है। गन्ने के टोटे बोआई के पूर्व डी० डी० टी० के ५% घोल में या पेरिसगीन, फेनाइल या गैमेक्सीन में डुबो लेना चाहिए।

इन कीड़ों के अतिरिक्त गन्ने की फसल पर मीली बग (mealy bug) का भी आक्रमण होता है किन्तु इससे फसल को बहुत कम क्षति होती है।

रोग—गन्ने की फसल पर कीड़ों की ही भाँति अनेक प्रकार के रोगों का आक्रमण होता है जिनमें लाल सड़न (Red Rot), स्मट, ब्राउन लीफस्पाट (Brown leaf spot) और मोजेक अधिक मुख्य हैं। हम यहाँ केवल लाल सड़न का उल्लेख करेंगे।

लाल-सड़न (Red Rot)—यह रोग गन्ने की फसल के लिए अधिक भयंकर होता है। भारत के अतिरिक्त अन्य गन्ना उगाने वाले देशों में भी इसका प्रहार होता पाया जाता है। भारतवर्ष में यह लगभग सभी स्थानों पर आक्रमण करता है। यह रोग एक फफूँदी (Colletotrichum fulcatum) द्वारा उत्पन्न होता है।

गन्ने का राब या गुड़ बनाना--गन्ने को अच्छी तरह साफ करके कोल्हू में लगाते हैं। कोल्हू में बैल जोते जाते हैं जिससे गन्ने की पेराई होती है। गन्ना पेरने वाला कोल्हू अच्छे किस्म का होना चाहिए। तीन बेलन वाला कोल्हू अच्छा काम करता है। यह गन्ने का रस ५७-६५% तक निकाल सकता है जबकि साधारण किस्म के कोल्हू ५० से ५५% तक ही रस निकाल पाते हैं। अगर अधिक गन्ने की पेराई करनी हो तो इंजन वाले कोल्हुओं का इस्तेमाल करना चाहिए। कोल्हू अगर घटिया किस्म के होते हैं तो रस अधिक नहीं निकलता है और इससे किसान को नुकसान होता है।

रस निकालने के बाद उसे उबालकर गुड़ बनाया जाता है। उबालने के लिए भट्ठियाँ या चूल्हे बनाये जाते हैं। पुराने ढंग की भट्ठियाँ अच्छी नहीं होतीं। इनमें ईंधन अधिक लगते हैं और गुड़ भी अच्छा नहीं बन पाता। आजकल नई किस्म की भट्ठियाँ बनने लगी हैं जो किसानो के लिए अच्छी सिद्ध हुई हैं। इनमें तूफान, हादी, जालन्धर आदि का नाम आता है। इन भट्ठियों में ईंधन कम लगता है। आँच सब जगह बराबर लगती है। इससे रस जल्दी ही पक जाता है। इन भट्ठियों से बना राब या गुड़ दानेदार और चमकीला होता है। इनमें राख निकालने का अच्छा इन्तजाम भी होता है। रस पकाने के लिए भट्ठियो पर एक लोहे की चद्दर का बना कढ़ाव रखा जाता है। इन कढ़ावों का आकार तरह-तरह का होता है। भट्ठियाँ कढ़ावों की ही नाप से बनाई जाती हैं। कढ़ाव जितनी ही मोटी चद्दर का होगा, गुड़ उतना ही अच्छा बनेगा।

कढ़ाव में जब रस उबलने लगता है तो पौने से रस की मैल को काटते जाते हैं और इसे अलग किसी दूसरे बर्तन में जमा कर देते हैं। मैल के न काटने से गुड़ गन्दा और घटिया किस्म का हो जाता है। गुड़ को ज्यादा साफ बनाने के लिए भिण्डी व देवला के हरे तने व जड़ और फालसा तथा सेमल की हरी छाल को पानी में भिगोकर कूट कर छोड़ना चाहिए। कूटने से एक मुलायम लुवाब निकलता है। इसे रस में डालने से मैल कटती है। रस साफ बनाने के लिए सोडा या सज्जी का पानी भी छिड़का जाता है। अण्डी का तेल व पानी का छींटा देने से गुड़ साफ होता है। इस तरह जितना ही गुड़ साफ किया जायेगा, चीज उतनी ही अच्छी रहेगी।

जब गुड़ पक जाता है तो उसका रंग बदल जाता है। इस समय एक अच्छे अनुभवी की जरूरत होती है जो गुड़ की चासनी पहचान सके। पहचान की कमी से

थोड़ा-सा भी इधर-उधर हो जाने पर गुड़ खराब हो जाता है। ठीक चासनी पर कढ़ाव गुड़ समेत भट्ठी से उतार दिया जाता है। उतारने पर उसे ठंडा किया जाता है। इसके लिए गुड़ को इधर-उधर डुलाना पड़ता है। राब की हालत में कढ़ाव से उसे अलग नाँदों या दूसरे बर्तन में उँडेल देते हैं और उसे थोड़ी देर तक डुलाने के बाद छोड़ देते हैं। लेकिन गुड़ बनाने पर उसे कढ़ाव में ही सुखाते हैं। सूख जाने पर उसे काट कर छोटे-छोटे लड्डू बना लेते हैं। राब के लिए कुछ हलका पाग उतारा जाता है किन्तु गुड़ के लिए कड़े पाग की जरूरत होती है। इसी राब या गुड़ का फिर शक्कर बनाया जाता है।

पेड़ी रखना—हमारे यहाँ गन्ने की पेड़ी आज से नहीं बल्कि बहुत पुराने जमाने से रखी जाती रही है। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि लोग पेड़ी से मौन रहते हैं। वे इसकी उतनी हिफाजत और देख-भाल नहीं करते जितनी नई फसल की करते हैं। लोग इसमें न तो खाद देते हैं और न समय पर पानी। गुड़ाई भी ठीक तरह से नहीं हो पाती। नतीजा यह होता है कि फसल कमजोर और घटिया किस्म की हो जाती है। अगर किसान थोड़ी-सी भी इधर रुचि लें, समय पर सिंचाई-गुड़ाई आदि करें, उचित खाद मिलावें और बराबर देख-भाल करते रहें तो पेड़ी नई फसल के बराबर उपज दे सकती है।

पेड़ी रखने वाले गन्ने की कटाई भूमि से थोड़ा ऊपर से की जाती है। इससे कल्ले अधिक फूटते हैं। पेड़ी के खेत की बिखरी पत्तियों को जला देना चाहिए। जला देने से ये खाद बनकर पौधे के काम आ जाती हैं। इसके अलावा फसल को खाद की अच्छी मात्रा भी देनी चाहिए। ३०० मन गोबर की खाद लगभग १२० पौं० नाइट्रोजन देती है जो एक एकड़ के लिए काफी होती है। खाद देकर तुरन्त ही फसल की सिंचाई कर देनी चाहिए। इसके बाद सभी क्रियाएँ नई फसल की तरह करनी चाहिए। पेड़ी रखने में अगर अच्छी तरह मिहनत की जाती है तो पैदावार नई फसल से कम नहीं हो सकती। इसमें चीनी की मात्रा पहले ही अधिक पड़ जाती है। इससे फसल तैयार होने में कम ही समय लगते हैं और बीज तथा मिहनत दोनों की बचत हो जाती है।

गन्ना भारतवर्ष में देशी चीनी और गुड़ बनाने के अर्थ में प्रयोग होता है। केवल कुछ ही वर्षों से विदेशों की सस्ती चीनी आयात होना प्रारम्भ हुई जिसे दूर करने के लिए सन् १६३०-३१ से निरन्तर प्रयास जारी है। इस प्रयास में गन्ने का

क्षेत्रफल बढ़ गया है तथा उन्नत जातियों का भी काफी प्रचार है किन्तु गन्ने की प्रति एकड़ औसत उपज में कोई वृद्धि नहीं हो सकी है। जैसा कि निम्नलिखित आँकड़े से प्रकट है—

	उमज प्रति एकड़
सन् १६३०-३१	१४.१ टन
सन् १६४७-४८	१४.३ टन
सन् १६४८-४६	१३.० टन
सन् १६५०-५१	१३.५ टन

अतः गन्ने की प्रति एकड़ उपज पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए फसल में खाद, सिंचाई तथा गुड़ाई की क्रियाएँ आवश्यकतानुसार करना चाहिए। रोग और कीड़ों की रोकथाम के लिए उपयुक्त उपाय प्रयोग करना चाहिए। पेड़ी रखने पर अधिक जोर न देना चाहिए। क्योंकि कृषक प्रायः इसकी उपेक्षा करते हैं।

फसलों का हेर-फेर

दो वर्ष	मक्का—आलू—गन्ना
चार वर्ष	मटर—हरी खाद—गन्ना—पड़ती—गेहूँ—कपास

गन्ने की फसल की लागत का ब्यौरा—एक एकड़ के लिए

१—रबी की फसल के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई	एक जोड़ी बैल और दो आदमी	८)
२—हरी खाद के लिए सनई की बोआई	एक मन बीज	१५)
	एक आदमी तथा एक जोड़ी बैल	६॥)
३—सनई की पलटाई	२ आदमी और एक जोड़ी बैल	८)
४—सनई की दूसरी पलटाई	"	८)
५—देशी हल की ७ जुताई	७ आदमी और ७ जोड़ी बैल	४२)
६—खाद का मिलाना ४ मन अमोनियम सल्फेट	१२) प्रति मन के हिसाब से	४८)
७—बोआई के लिए ४० मन बीज	१॥) मन बीज	६०)
८—गन्ने को साफ करना और उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटना	४ आदमी	६)
६—बोआई के लिए	३ जोड़ी बैल ६ आदमी	२४)

१०—सिंचाई लगभग ३ बार	एक बार में १५)	५४)
११—गुड़ाई पूरी फसल में कम से कम ६ बार	६ आदमी एक बार	५४)
१२—गन्ने की जड़ों पर मिट्टी चढ़ाना	१८ आदमी एक दिन	२७)
१३—फसल की कटाई	२० आदमी एक दिन	३०)
१४—गन्ने की पेराई कुल खर्च		१००)
१५—पकाई		८०)
१६—खेत की लगान		१०)
१७—दूसरे खर्च		१०)
कुल खर्च		५७५॥)
कुल आमदनी		
उपज १०० मन गुड़ १०) मन के भाव से		१०००)
२०० मन हरा चारा १) मन के दर		२००)
		१२००)

बचत १२००)—५७५॥)=६२४॥) एक एकड़ में

अध्याय १३

मक्का

(Zea maize)

दाने वाली फसलों में मक्का महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसे विश्व के अनेक स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में सबसे अधिक मक्का उगाने वाला देश है जहाँ इसे भारतीय कार्न या केवल कार्न (Corn) नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसका दाना वहाँ लगभग प्रत्येक प्रकार के जानवरों को खिलाया जाता है और तने तथा पत्तियाँ स्वादिष्ट हरा चारा प्रदान करती हैं। भारतवर्ष में इसका दाना मनुष्य के भोजन में सम्मिलित होता है। लोग इसे चावल की भाँति खाते हैं या आटा बना कर रोटियाँ तैयार की जाती हैं।

मूल स्थान और इतिहास—मक्का का मूल स्थान अमेरिका में मैक्सिको बतलाया जाता है। लोगों का यह अनुमान है कि यह यहाँ लगभग ४,००० वर्षों से उत्पन्न किया जा रहा है। किन्तु अब तक यहाँ मक्का का कोई जंगली पौधा नहीं उपलब्ध हो पाया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि टियोसिन्टर (Euchlaena mexicana) इसका पूर्वज है जिससे संयोग कर यह तैयार किया गया। कुछ लोग जो इस सम्मति से सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि मक्का का मूल स्थान पेरू-बोलीविया के ऊँचे स्थान में ही कहीं है। कुछ विद्वान अमेजन नदी की घाटी में क्यूबा के निकट कहीं इसका मूल स्थान बतलाते हैं।

मक्का यूरोप में सर्वप्रथम कोलम्बस द्वारा सन् १४६२ ई० में लाया गया और वहाँ से यह अन्य स्थानों पर पहुँचा। भारतवर्ष में यह सत्रहवीं शताब्दी में लाया गया और अब इसे यहाँ कई स्थानों पर कुछ न कुछ मात्रा में उत्पन्न किया जाता है।

वितरण—मक्का की खेती विश्व में अनेक स्थानों पर की जाती है। अमेरिका में इसे भूमध्य रेखा से लेकर कनाडा की सीमा तक उगाया जाता है। संयुक्त राज्य

अमेरिका के अतिरिक्त इसकी खेती अर्जेन्टाइना, चिली, रूमानिया, मिश्र, दक्षिणी अफ्रीका, फ्रांस, हंग्री, इटली और भारत में होती है। भारत में इसे पञ्जाब, बम्बई, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है। कुल भारत संघ का क्षेत्रफल सन् १६५६-५७ में ६,२४४ हजार एकड़ और उत्पादन ३,०२० हजार टन तथा सन् १६५५-५६ तक में क्षेत्रफल ६,११६ हजार एकड़ और उत्पादन २,५५४ हजार टन है। उत्तर प्रदेश में कुल क्षेत्रफल का लगभग ३२% उगाया जाता है।

भूमि—इसके लिए जल-निकास युक्त उर्वर भूमि सर्वोत्तम पड़ती है जो दोमट हो और अधिक गहरी हो। सिल्ट या सिल्ट-दोमट भूमि, साधारण दोमट भूमि तथा अलूवियल भूमि में भी इसकी खेती की जा सकती है किन्तु इनमें नमी और जल-निकास का उचित प्रबन्ध होना अधिक आवश्यक है। मक्का के लिए भारी भूमि अच्छी नहीं समझी जाती। पानी का भूमि में जमा होना भी फसल के लिए हानिकर सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा होने से जड़ों का उपयुक्त बढ़ाव नहीं हो पाता। इसके लिए अम्लीय भूमि ऊसर भूमि की अपेक्षा कुछ अच्छी पड़ती है। भूमि का P^H ५·५ से ८ तक अच्छा रहता है। इस श्रेणी में इस फसल का दबाव उपयुक्त होता है। हल्की भूमि जिसमें नमी और खाद्य पदार्थों का अभाव हो और जो जीव-अंश में भी निर्धन हो, मक्के की खेती के लिए अच्छी नहीं समझी जाती। ऐसी भूमि में पौधे उगते अवश्य हैं किन्तु उनका बढ़ाव सन्तोषजनक नहीं हो पाता। भारी भूमि में यदि नमी और खाद्य पदार्थों की कुल मात्रा उपस्थित रही तो पौधों का बढ़ाव साधारण रहता है और बाद में यह बढ़ाव रुक जाता है। बंगाल में पर्वतीय प्रदेशों की कंकड़ीली भूमि भी कुछ लोगों के अनुसार मक्के के लिए उपयुक्त होती है। किन्तु इसकी खेती उसी भूमि में सफलतापूर्वक हो सकती है जो हल्की, जल-निकास-युक्त-दोमट हो और जिसमें कृषि सम्बन्धी कार्य सरलतापूर्वक हो सके।

जलवायु—भारतवर्ष में मक्का बहुधा खरीफ की फसल के रूप में उगाया जाता है, क्योंकि यह एक ऐसी फसल है जिसके उगने और बढ़ने के समय अत्यधिक नमी और प्रकाश की आवश्यकता होती है। उन स्थानों पर जहाँ सिंचाई की उत्तम व्यवस्था है, वहाँ इसे जायद फसल के रूप में बोया जाता है। इस फसल को इस समय बोने में व्यय तो अधिक पड़ता है किन्तु आय की भी बड़ी सम्भावना रहती है। मक्के के बढ़ाव के दिनों में यदि भूमि में नमी का अभाव हो जाय तो पौधों का बढ़ाव

रुक जाता है और वे लगभग उसी ऊँचाई के रह जाते हैं। अतः फसल के बढ़ाव के प्रारम्भिक दिनों में उपयुक्त नमी की अधिक आवश्यकता होती है। इसे उन स्थानों पर जहाँ ६०″ वार्षिक वर्षा होती है, अधिक सफलतापूर्वक उगा सकते हैं। इससे कम वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर सिंचाई का प्रबन्ध रखना चाहिए।

मक्के की फसल ५०° से १००° फारेनहाइट के तापक्रम में अच्छा बढ़ाव कर पाती है। यदि तापक्रम नीचे की ओर जाता है तो पौधों का बढ़ाव रुक जाता है किन्तु उनकी भौतिक व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। तापक्रम के बढ़ने पर ऐसी स्थिति नहीं होती परन्तु तापक्रम १००° फारेनहाइट के ऊपर ज्योंही बढ़ने लगता है कि पौधों का बढ़ाव संतोषजनक हो जाता है। फसल जब जाड़े के दिनों में बोयी जाती है तो इस पर पाले का अधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि इसे रबी में नहीं उगाते। वर्षा के दिनों में जब दिन को बदली रहती है और कभी-कभी धूप भी निकल आती है तो पौधों का बढ़ाव अधिक उत्साहपूर्वक होता है। भुट्टे बड़े-बड़े होते हैं और दाने भी भली प्रकार लगते हैं। किन्तु बदली का बराबर लगा रहना और अधिक वृष्टि का फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि पानी लगातार ८-१० दिनों तक बरसता रह जाता है और उसी प्रकार बदली भी लगी रहती है तो पौधों की बाढ़ पर बुरा प्रभाव पड़ता है। भुट्टों पर दाने भी अधिक नहीं पड़ पाते इसके लिए अच्छा यह होता है कि वर्षा हो और शीघ्र ही धूप भी निकल आये, खेत में वर्षा का पानी रुकने न पावे।

वानस्पतिक विवरण—मक्का जिसे जिया मेज़ (Zea mays) कहते हैं, घास के कुल अर्थात् ग्रैमिनी (Gramineae) से सम्बन्ध रखता है। यह लम्बा, हरा और एक वर्षीय पौधा है। इसकी ऊँचाई ३′ से लेकर १०′ तक पाई जाती है। जड़ें झकड़ादार (Fibrous) और गहरी होती हैं, सहायक जड़ें अधिक संख्या में निकलती हैं और इधर-उधर फैलकर भूमि में घुस जाती हैं। जड़ों का भूमि में घुसना नमी की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि नमी अधिक होती है तो यह उथली रहती हैं और नमी के अभाव में अधिक गहराई तक जाती हैं। इन जड़ों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी जड़ें पाई जाती हैं जो तने की निचली गाँठों से निकलती हैं, इन्हें एडवेन्टिशस (Adventitious) जड़ें कहते हैं। ये भूमि की धरातल के ऊपर से निकलती हैं और भूमि में चली जाती हैं। ये पौधे को मजबूती से पकड़े तो रहती ही हैं, उन्हें भूमि से भोजन भी प्रस्तुत करती हैं। तना मोटा, गोला और लम्बा होता है। इसमें गाँठें

और पोर होते हैं जो पिथ (Pith) से भरे होते हैं। गाँठें मोटी होती हैं किन्तु पोर चौड़े और फूले हुए होते हैं। विशेषकर लीफ-सीथ (Leaf sheeth) के दूसरी ओर का भाग कुछ चौड़ा या उठा होता है। मक्के के पौधे में पुत्तियाँ (Piller) प्रायः निकलती हैं लेकिन ऐसा उन्हीं बीजों में होता है जिनमें यह पैतृक होता है। पुत्तियों का निकलना भूमि और जलवायु पर भी निर्भर करता है। ये प्रायः बौनी जातियों में निकलती हैं। पत्तियाँ तने पर एक के बाद दूसरी इस प्रकार निकलती हैं कि एक पत्त में एक के बाद तीसरी ही आती है, अर्थात् पत्तियों की व्यवस्था आल्टरनेट (Alternate) रहती है। पत्तियों की संख्या सभी पौधों में समान नहीं रहती। ये चौड़ी और अधिक लम्बी होती हैं। इनकी चौड़ाई बहुत कुछ जातियों पर निर्भर करती हैं।

पौधों में फूल दो प्रकार के निकलते हैं। (१) पुरुष फूल जो तने के शिरस्थ भाग पर गुच्छों के रूप में निकलते हैं। इन्हें टैसिल (Tassel) भी कहते हैं। (२) स्त्री फूल जो कि तने के बीच में भुट्टे के रूप में किसी गाँठ से निकलता है। यह पौधे के एक बगल से निकलता है। इसकी संख्या एक तने में बहुधा एक ही होती है, किन्तु यह एक से अधिक भी पाया जाता है। पुरुष फूल में ऐसी बात नहीं होती; उनकी संख्या एक शाखा में एक ही होती है। स्त्री फूल तने की गाँठ से एक छोटी सी शाखा पर निकलता है जिसे शैन्क (Shank) कहते हैं इस पर कुछ रूपान्तरित पत्तियाँ उपस्थित रहती हैं जो पूरे भुट्टे को ढक लेती हैं। ढक लेने पर इन्हें हुस्क (husk) कहते हैं। स्त्री भाग का स्पाइकलेट एक मोटी धुरी पर जिसे काब (Cob) कहते हैं, निकलता है। प्रत्येक मादा स्पाइकलेट से दो फूल निकलते हैं। किन्तु कुछ स्पाइकलेट एक फूल वाले भी होते हैं। फूल में ग्लूम, पेलिया, ओवरी, और स्टाइल तथा स्टिगमा होते हैं। ओवरी बाद में बढ़ कर दाना बनाती है। स्टाइल बढ़कर एक प्रकार की सिल्क की रचना करते हैं जो पत्तियों के समूह को भीतर ही भीतर पार कर सिरे की ओर चला जाता है और एक गुच्छा सा बना लेता है। इनका अन्त स्टिगमा होता है जो पराग को आश्रय देता है। पुरुष स्पाइकलेट दो फूल वाले होते हैं और उनमें स्टेमन की संख्या तीन होती है।

मक्का साधारणतः परसेचित होता है क्योंकि इसका यह प्राकृतिक नियम ही है। कभी कभी स्वयंसेचन भी हो जाता है। किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि पुरुष फूल से स्टेमन सीधे मादा फूल के स्टिगमा पर आता है। परसेचन क्रिया प्रायः वायु द्वारा

सम्पन्न होती है। सेचन क्रिया के पश्चात् ओवरी बढ़कर दाने का रूप धारण कर लेती है जिसे हम फल कहते हैं।

विभाजन—मक्का को प्रधानतः ६ वर्गों में विभाजित किया गया है जो मुख्यतः हुस्क और इन्डोस्पर्म (Endosperm) की बनावट पर निर्भर करता है। (१) जियामेज ट्यूनिकेटा (२) जियामेज सकारेटा (३) जियामेज इन्डूरेटा (४) जियामेज इन्डेन्टेटा (५) जियामेज एवरेटा और (६) जियामेज एमाइलेसिया। ये वर्ग एक दूसरे ढंग से भी पुकारे जाते हैं। इस प्रकार टूनिकेटा को फली मक्का या पाडकार्न (Pod corn), सेकेरेटा को मीठा मक्का या स्वीट कार्न, इन्डूरेटा को फ्लीन्ट कार्न (Flint corn) इन्डेन्टेटा को डेन्ट कार्न (Dent corn), एवेरटा को पाप कार्न (Pop corn) और एमाइलेसिया को साफ्ट कार्न (मुलायम भुट्टा) कहते हैं। इनकी पहचान के लिए कुछ ऐसे लक्षण हैं जिनसे एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक करना सरल हो जाता है। जैसे—ट्यूनिकेटा में प्रत्येक दाने पर भूसी लगी होती है और वे ऊपर की पत्तियों से भली-भाँति ढकी होती हैं। अन्य वर्गों में ऐसा नहीं पाया जाता। उनमें पत्तियाँ प्रत्येक दाने को ढक नहीं पातीं। एमाइलेसिया का दाना अधिक मुलायम होता है। सेकेरटा चिकने होते हैं। किन्तु प्रथम वर्ग के दाने सिरे पर दाँतेदार नहीं होते जबकि दूसरे वर्ग में ऐसा पाया जाता है। इमाइलेसिया का इन्डोस्पर्म कड़ा नहीं होता क्योंकि इसका भुट्टा ही मुलायम वर्ग से सम्बन्ध रखता है। सेकेरेटा में चीनी की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक उपस्थित रहती है।

उन्नत जातियाँ—मक्के की कुछ उन्नत जातियाँ भी निकाली गई हैं जो दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक उपज देती है। इनमें से टाइप १३, टाइप १६ और टाइप ४१ अधिक प्रसिद्ध हैं। यहाँ हम प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे :—

टाइप १३—यह जाति उत्तर प्रदेश के लिए विशेष उपयुक्त समझी जाती है। इसके तैयार होने में ८० से ६० दिन लगते हैं। उपज २२ से ३० मन तक प्रति एकड़ प्राप्त हो जाती है। बीज सफेद होते हैं।

टाइप १६—टाइप १३ की भाँति यह जाति भी उत्तर प्रदेश के लिए अच्छी पड़ती है। इसके तैयार होने में ६५ सें १०० दिन लगते हैं। उपज २५ से ३० मन प्रति एकड़ मिलती है। बीज मोटे और सफेद रंग के होते हैं।

टाइप ४१—यह जाति उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों के लिए उत्तम सिद्ध हुई

है। इसके तैयार होने में लगभग १०० दिन का समय पर्याप्त होता है। उपज प्रति एकड़ २५ से ४० मन मिलती है। बीज मोटे और हल्के पीले रंग के होते हैं।

जौनपुर—यह स्थानीय जाति (Local variety) है जिसके दाने बड़े और मोटे होते हैं। इसकी उपज बहुत अच्छी मिलती है। यह जाति जौनपुर तथा अन्य पूर्वी जिलों के लिए उपयुक्त होती है।

जौनपुर जाति के अतिरिक्त कुछ और भी स्थानीय जातियाँ हैं जिनमें कानपुर ३१, मेरठ ३, और मेरठ एलो (yellow) अधिक प्रसिद्ध हैं।

खेत की तैयारी—जैसा कि हमने पहले ही कहा है; मक्का के लिए जल-निकास-युक्त उर्वर भूमि की आवश्यकता होती है। ऐसी ही भूमि में खेत की तैयारी आरम्भ की जाती है। बुआई के लिये खेत की तैयारी स्थान, ऋतु, भूमि आदि की स्थितियों के अनुसार की जाती है। उत्तर भारत के मैदानी भागों में मक्का का खेत मानसून शुरू होने पर मिट्टी पलटने वाले हल से एक या दो बार जोत दिया जाता है। तत्पश्चात् देशी हल की दो-तीन जुताइयाँ की जाती हैं। खेत में यदि अभी तक खाद न दी गई हो तो इस समय अवश्य दे देना चाहिए। इससे यह लाभ होता है कि जुताई के साथ मिट्टी उलट-पलट कर भूमि में भली-भाँति मिल जाती है। देशी जुताइयों के पश्चात् पाटा या हैरो चलाया जाता है जिससे कि भूमि भुर-भुरी और समतल हो जाय तथा खेत में उपस्थित खर-पतवार निकल कर बाहर हो जायँ। इस प्रकार खेत बुआई के लिए तैयार हो जाता है। मक्का खरीफ के अतिरिक्त रबी और जायद में भी उत्पन्न किया जाता है। रबी और जायद की फसलों के साथ उगाने में खेत की तैयारी मानसून ऋतु की भाँति होती है।

बुवाई का समय—मक्के की बुवाई जब खरीफ की फसल के साथ होती है तो इसके लिए जून का तीसरा और चौथा सप्ताह अधिक उपयुक्त होता है। इस समय यदि समय से वर्षा न हुई तो बुवाई में देरी हो सकती है जो अच्छी उपज के लिए ठीक नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में यदि सिंचाई की उत्तम व्यवस्था हो तो पानी चला कर फसल की बुवाई समय पर अवश्य कर देनी चाहिए। बुआई में देरी होने पर बीजों का अंकुरण तथा उनका बढ़ाव उपयुक्त नहीं हो पाता क्योंकि एक तो, लगा-तार मानसून से नमी अधिक हो जाती है और आर्द्रता बढ़ जाती है और दूसरे, घास-पात इतनी अधिक मात्रा में उग आते हैं कि उनकी फसल के पौधों से होड़ लग जाती है। फसल की बुवाई जब रबी में की जाती है तो इसे अक्टूबर के महीने में बो दिया

जाता है। अक्टूबर का प्रथम सप्ताह विशेष उपयुक्त होता है क्योंकि इससे फसल के देर में तैयार होने का प्रश्न ही नहीं होता। जायद की फसल के रूप में मक्के की बुवाई फरवरी के महीने में कर दी जाती है।

बीज की मात्रा—बीज की मात्रा बहुत कुछ बुआाई की विधि पर निर्भर करती है। यदि बुआाई पंक्तियों में की जाती है तो प्रति एकड़ ५ से ८ सेर बीज पर्याप्त होता है। यह बुवाई बोने की मशीन द्वारा या हल के पीछे की विधि में प्रयोग की जाती है। छिटकवाँ विधि में बीज की मात्रा अधिक लगती है। इसके लिए १० से १४ सेर बीज आवश्यक होता है। १० सेर बीज उस समय लगता है जब कि मक्के की बुआाई दाने के लिए विशुद्ध फसल के रूप में की जाती है। १४ सेर बीज चारे की फसल में लगता है। बीज की यह मात्रा भारी भूमि में और भी अधिक हो सकती है।

बुआाई की विधि और पौधे से पौधे की दूरी—मक्के की बुआाई पंक्तियों में और छिटकवाँ ढंग से की जाती है। बुवाई का छिटकवाँ ढंग वैज्ञानिक नहीं है। इसमें बीज अधिक लगता है और उपज भी अच्छी नहीं मिल पाती। अतः कृषकों को चाहिए कि इस विधि का प्रयोग वे कभी न करें। पंक्तियों की बुआाई की विधि अधिक अच्छी पड़ती है और इसका प्रयोग भी अधिक किया जाता है। मशीन की बुवाई सभी विधियों से अच्छी पड़ती है। किन्तु इसका प्रयोग वहीं किया जा सकता है जहाँ मक्के की खेती विस्तृत क्षेत्र में होती है। जब मक्के की बुवाई मिश्रित रूप में करनी हो तो छिटकवाँ विधि ही अपनानी चाहिए। हिल विधि (Hill Sowing) एक ऐसी विधि है जिसमें खेत में निश्चित भुजा वाले वर्ग बना लिये जाते हैं और उन वर्गों के प्रत्येक कोने पर तीन बीज डाले जाते हैं। एक स्थान पर तीन बीज डालने का उद्देश्य यह है कि खेत में अनिश्चितता का अवसर कम रहे और पौधे सभी स्थान पर समान रूप से उपस्थित रहें।

पौधे से पौधे की दूरी ९″ से १२″ और पंक्ति से पंक्ति की दूरी १८″ से २४″ तक रक्खी जाती है। कभी-कभी कतारों की यह दूरी बढ़ा कर ३०″ भी कर दी जाती है। किन्तु ऐसा उसी स्थिति में किया जाता है जब कि फसल की बुवाई मिश्रण-रूप में की गई हो। कहीं-कही पंक्तियों की अधिकतम दूरी ३′ से ३½′ तक रक्खी जाती है लेकिन इतनी दूरी उपादेय नहीं सिद्ध होती। २१″ की दूरी पर बैलों द्वारा निराई-गुड़ाई की जा सकती है। अतः २१″ से २४″ की दूरी पर्याप्त होती है। फसल

की बुवाई जब चारे के लिए की जाती है तो पंक्तियों से पंक्तियों की दूरी १५′ से १८″ और पौधे से पौधे की दूरी ४″ से ८″ रक्खी जाती है। मक्के को छिटकवाँ ढंग से बोने पर पौधे या पंक्ति से पंक्ति की दूरी का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता।

मिश्रण—मक्के की फसल कुछ अन्य फसलों के साथ भी उत्पन्न की जाती है। इन फसलों में दालें, साँवा, कोदो, काकुन, तिल, पटसन, सनई आदि सम्मिलित होती हैं। दाल वाली फसलों में मूंग, सेम, सोयाबीन, लोबिया और अरहर हैं, जिनसे फसल को अधिक लाभ पहुँचता है। पटसन और सनई की बुवाई खेत के चारों ओर बार्डर क्राप (Border crop) की भाँति बोते हैं।

सिंचाई—मक्के की फसल जब मानसून के दिनों में तैयार की जाती है तो इसे सिचाई की बिलकुल आवश्यकता नहीं होती। केवल उस समय ही इसे पानी दिया जाता है जब कि वृष्टि काफी दिनों के लिए रुक जाती है। जायद की फसल के रूप में उगाने पर इसे केवल सिंचाई के आधार पर उत्पन्न किया जा सकता है। इसे इस समय ७ से १० रोज के अन्तर पर पानी को लगातार आवश्यकता होती है। सिंचाई के इस क्रम में अड़चन पड़ने पर उपज पर इसका सीधा असर पड़ता है। अत्यधिक सिंचाई करने से भी फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः सिंचाई अधिक समझ-बूझ कर उचित रूप से करनी चाहिए। मक्के की बुआई जब अगेती फसल के रूप में होती है तो इसे मानसून प्रारम्भ होने के पहले ही बो दिया जाता है। ऐसी स्थिति में कुछ सिंचाइयाँ करनी पड़ती हैं। एक सिंचाई करके फसल बो देते हैं और बीजों के अंकुरण के पश्चात् प्रति सप्ताह सिंचाई करते जाते हैं। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि मानसून नहीं प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार तैयार की गई फसल समय से पहले ही भुट्टा देने लगती है, जिसका बाजारों में अधिक से अधिक मूल्य मिल पाता है। मक्का जब रबी में बोया जाता है तो इसे नवम्बर के पश्चात् सिंचाई की आवश्यकता होती है और तब इसकी प्रति माह एक सिंचाई की जाती है। मक्के की सिंचाई में इस बात का अधिक ध्यान रखना चाहिए कि खेत में पानी देर तक न खड़ा रहे। वर्षा का पानी भी बरसने के बाद शीघ्र ही खेत से निकाल दिया जाना चाहिए क्योंकि मक्के के पौधे खड़े पानी में अधिक समय तक क्रियाशील नहीं रह पाते।

निराई-गुड़ाई—मक्के के खेत में निराई-गुड़ाई का विशेष महत्व है। यह क्रिया बीजों के अंकुरण के कुछ दिन पश्चात् ही प्रारम्भ हो जाती है। प्रारम्भिक

अवस्था में पंक्तियों और पौधों की दूरी ठीक की जाती है। जिस स्थान पर पौधे घने और बिना क्रम के उग आये होते हैं, वहाँ उनकी संख्या निश्चित् की जाती है और क्रम भी ठीक किया जाता है। पंक्तियों और पौधों की निश्चित् दूरियों पर अधिक ध्यान उस समय दिया जाता है जबकि फसल दाने के लिए उगाई जाती है। अंकुरण अच्छा होने पर पौधों का बढ़ाव अच्छा होता है और उपज भी अधिक मिलती है। जब पौधे छोटे होते हैं और कतारों से कतारों की दूरी यथेष्ठ होती है तो यह कार्य देशी हल, हैरो या निरायकों से लिया जाता है। यदि बीजों के अंकुरण के पूर्व वर्षा हो गई तो मिट्टी की ऊपरी धरातल कड़ी हो जाती है और एक ऐसी पर्त बना लेती है जिसे अंकुरित होने वाले बीज तोड़ कर बाहर आने में असमर्थ हो जाते हैं। फलतः अंकुरण नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में ब्लाइन्ड हैरोइंग (Blind harrowing) अन्धी जुताई करनी चाहिए। यह जुताई किसी हल्के हैरो जैसे स्प्रिगटूथ से भूमि की ऊपरी पर्त को तोड़ने के लिए की जाती है जिससे बीजों का जमाव हो सके। इससे पर्त टूट जाती है और बीजों को उगने में सरलता हो जाती है, जैसा कि हमने अभी कहा है। पौधों की प्रारम्भिक अवस्था में जबकि उनकी ऊँचाई लगभग ५″ से ६″ हो, निराई-गुड़ाई देशी हल या हैरो द्वारा की जाती है। यह क्रिया खुरपी, कुदाली या कल्टीवेटर से भी की जाती है। कुदाली या खुरपी से निराई-गुड़ाई अच्छे ढंग से होती है। प्रत्येक स्थान की मिट्टी गुड़ जाती है और घास-पात पूर्णरूप से विनष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी घास-पातों को निकालने के लिए विडिसाइड (weedicids) भी प्रयोग किये जाते हैं। दूसरी निराई-गुड़ाई की क्रिया पौधों की १८″ से २४″ की ऊँचाई पर और तीसरी २४″ से ३०′ की ऊँचाई पर की जाती है। यदि खेत में घास-पात अधिक हो तो आवश्यकता समझ कर बीच-बीच में और भी निराइयाँ की जानी चाहिए। जड़ों पर मिट्टी रखने की क्रिया (earthing) भी मक्के के लिए अधिक महत्व की है। इसमें जड़ों पर तीन-चार इंच मिट्टी चढ़ा दी जाती है, जिससे जड़ें अधिक मजबूत हो जाती हैं और पौधे गिरने नहीं पाते।

कटाई—यदि मक्का हरे भुट्टे के लिए बोया जाता है तो इनकी कटाई उसी समय कर दी जाती है जबकि वे हरे होते हैं। भुट्टे तोड़ कर बाजार ले जाये जाते हैं और डंठल काट कर जानवरों को खिला दिये जाते हैं। भुट्टे भूनकर खाये जाते हैं। जब फसल बीज के लिए तैयार की जाती है तो पौधे खेत में उस समय तक रक्खे जाते हैं जब तक कि भुट्टों के दाने पूर्णरूपेण पक न जायँ। पकने पर भुट्टे के ऊपर

की पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं और दानें अधिक कड़े हो जाते हैं। ऐसे पके भुट्टे तने से अलग कर लिए जाते हैं और धूप में सूखने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। भुट्टे बहुधा पत्तियों सहित सुखाये जाते हैं और कभी-कभी उन्हें पत्तियाँ हटा कर सुखाया जाता है। सूखने पर दाने अलग कर लिये जाते हैं। दानों को अलग करने के लिए छोटे परिमाण में हाथ से ही काम लिया जाता है। बड़े परिमाण पर बैलों की दायँ चलाई जाती है। भारतवर्ष में भुट्टों को सुखाने की एक प्रणाली यह है कि लोग आठ-दस भुट्टों की पत्तियाँ हटाकर एक बंडल में बाँध लेते हैं और उन्हें ८-१० फीट की ऊँचाई पर बाँस के सहारे आँगन या कहीं सुरक्षित खुले स्थान पर टाँग देते हैं और इन्हें तब तक सूखने देते हैं जब तक कि एक-दो दाने भुट्टों से गिरने न लगें। ऐसी दशा में पैरों से कुचल कर या हाथ से मलकर दाने छुड़ा लिये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में दाना छुड़ाने का कार्य माउन्टेड मेकैनिकल पिकर्स (Mounted mechanical pickers) से किया जाता है।

भुट्टों की तुड़ाई के पश्चात् खेत से मक्के के डण्ठल, हँसिया या अन्य किसी हथियार से काट लिये जाते हैं। अमेरिका में इस कटाई के लिए कम्बाइन (combine) प्रयोग किया जाता है। डंठल बोझ बना कर गोशाले के पास जमा कर दिये जाते हैं और उन्हें काटकर पशुओं को खिला दिया जाता है।

जब फसल दाने के लिए बोई जाती है तो अल्पकालिक जातियाँ २ या २½ महीने में तैयार हो जाती हैं किन्तु दीर्घकालिक जातियों के तैयार होने में लगभग ६ माह लग जाते हैं। फसल जब चारे के लिए तैयार की जाती है तो इसे २ या २½ महीने के पश्चात् काटकर पशुओं को खिलाया जा सकता है। जब इसे पास्चर (Pasture) के लिए उत्पन्न किया जाता है तो बुआई के एक माह पश्चात् काम में लाया जा सकता है। साइलेज (Silage) के लिए पौधों की कटाई उस समय की जाती है जबकि भुट्टों के पकने में १० या १५ दिन की देरी हो।

उपज— मक्के के दाने की फसल से एक एकड़ में १२,००० से १५,००० भुट्टे मिलते हैं। दाने की तौल ८ से १० मन होती है। उन्नत जातियों से खाद और सिंचाई आदि की उत्तम व्यवस्था पर १५ से २० मन प्रति एकड़ उपज मिल सकती है। अमेरिका में मक्के की संकर जातियों से ३०० बुशेल (एक बुशेल = ६० पौंड) प्रति एकड़ की उपज प्राप्त की जाती है और भुट्टों की संख्या २० हजार से ३०

हजार तक मिल जाती है। भारत में मक्के का एक पौधा प्रायः एक भुट्टा उत्पन्न करता है लेकिन उन्नत जातियों के पौधे एक से अधिक भुट्टे भी उत्पन्न करते हैं।

उपयोग—मक्के का उपयोग अनेक ढंगों से किया जाता है। प्रथम तो इसका प्रयोग खाद्य.पदार्थ के रूप में होता है। लोग इसे भून कर खाते हैं। कुछ स्थानों पर इसका आटा बना लिया जाता है। कहीं-कहीं पर इसे चावल की भाँति भी खाते हैं। इसके दाने पशु अधिक चाव से खाते हैं। भुट्टे के सिल्क छन्ना (फिल्टर) बनाने के काम में लाये जाते हैं। हुस्क की चटाइयाँ बनती हैं। भुट्टों के कागजी परतों को कुछ सिगरेट का रैपर बनाने में प्रयोग किया जाता है। डंठल और भुट्टे से परफ्यू-राल तैयार किया जाता है। डन्ठल के पिथ से काग बनाए जाते हैं। दाने से भुट्टे का तेल निकलता है जो प्राकृतिक रबर के स्थान पर प्रयोग होता है। दानों से स्टार्च प्राप्त किया जाता है जिससे ग्लूकोज, डेक्सट्रिन और अमेरिकन गम तैयार किये जाते हैं। स्टार्च खाया जाता है और धोबियों के घरों में कपड़ों में माड़ी देने के काम आता है। इससे बिस्कुट और मिठाइयाँ भी बनाई जाती हैं। माल्ट सिरप (Malt syrup) दानों से तैयार किये जाने वाली एक महत्वपूर्ण वस्तु है। दाने से लैक्टिक एसिड, एसिटोन, हेयर टानिक आदि बहुमूल्य वस्तुयें तैयार की जाती हैं। इन उपयोगों के अतिरिक्त मक्के को साइलेज, हरे चारे आदि के लिए प्रयोग किया जाता है जो लोबिया, रिजका जैसी दाल वाली फसलों के साथ मिलाने पर अधिक स्वादिष्ट चारा प्रदान करती हैं।

रासायनिक विश्लेषण—मक्के के दानेमें औसत रूप में निम्नलिखित पदार्थ उपस्थित रहते हैं।

पदार्थ	कार्बोहाइड्रेड	पानी	प्रोटीन अल्बुनियाड	चर्बी	क्रूडरेशा	राख
प्रतिशत	७०.२	१०.५	१०.४	५.०	२.०	१.४

मक्के के पौधों का रासायनिक विश्लेषण समय-समय पर किया गया जिसमें निम्नलिखित पदार्थ विभिन्न परिणाम में प्राप्त हुए :—

मक्के का रासायनिक विश्लेषण एकड़ के आधार पर—

बढ़ाव की दशा में	हरे चारे की तौल	जैविक पदार्थ	क्रूड प्रोटीन	चर्बी	रेशा	राख	नाइट्रोजन रहित अंश
४ फीट की ऊँचाई पर	५, १३८ पौण्ड	७३१	१४६	४०	१७०		२८२
सिल्क निकलने पर	२४,३२७ पौण्ड	४,५६७	४३६	४६	१,२०३	२७२	२०६
साइलेज	२५,२७५ पौण्ड	८,६२६	६६०	२१५	१,६०२	३६०	६०८

रोग और कीड़े—मक्के की फसल पर अनेक प्रकार के रोगों और कीड़ों का आक्रमण होता है। रोगों में मुख्य हेडस्मट, कामनस्मट, डाउनीमिल्डयू, धड़ या जड़ गलन, रस्ट और लीफ ब्लाइड अधिक मुख्य हैं।

(१) हेडस्मट रोग—यह एक प्रकार के फफूँदी से उत्पन्न होता है, जिसे अस्टिलागो रिलायना (Ustilago reillan) कहते हैं। इसका आक्रमण नर और माद फूलों पर होता है। आक्रमण के अनुसार फूल काले स्पोर से भर जाते हैं। इनकी रोक थाम के लिए अवरोधक जातियाँ उगानी चाहिए। प्रभावित-अंग विनष्ट कर देना चाहिए और उपयुक्त फसल चक्र काम में लाना चाहिए।

(२) कामनस्मट—अस्टीलागो जिया (Ustilago Zeae) नामक फफूँदी से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से दानों के स्थान पर गिल्टियाँ निकल आती हैं। इनकी रोक थाम के लिए फसल-चक, प्रभावित अंगों का विनष्टीकरण और गरम जल का उपचार (Hot water treatment) अच्छा पड़ता है।

(३) डाउनीमिल्डयू—यह स्कलरोस्पोरा मेडिस (Sclerospora maydis) फफूँदी से उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव प्रायः नये पौधों पर होता है।

(४) धड़ या जड़ गलन—इससे जड़ें, डंठल और भुट्टे सभी प्रभावित होते हैं। इन्हें रोकने के लिए अवरोधक जातियाँ अधिक सफल होती हैं।

(५) रस्ट—यह पकसीनिया मेडिस (Puccinia maydis) से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से पत्तियों पर भूरे रंग के अनेक धब्बे निकलते हैं जिनसे पत्तियाँ नीचे गिर जाती हैं।

(६) लीफ ब्लाइट|(Leaf blight)—इसके प्रभाव से पत्तियों पर अंडाकार या गोले-पीले धब्बे निकलते हैं। यह रोग हेलसेन्थो स्पोरियम स्पेसीज से उत्पन्न होता है।

मक्के पर आक्रमण करने वाले कीड़ों में टिड्डा मक्का तनाछेदक कटवार्म, वायर वार्म, तथा ग्रेनमाथ अधिक मुख्य हैं।

(१) टिड्डा—यह फसल की पतियों और टहनियाँ पर आक्रमण करता है और इन्हें कुतर-कुतर कर क्षति पहुँचाता है। इसका नाम हीरो ग्लाइफस नीग्रोरिपलीटस (Hierogliphus nigro repletus) है। इनकी रोक-थाम के लिए विष की गोलियाँ प्रयोग की जाती है जो लेड आरसीनेट, पेरिसग्रीन और चोकर से बनाई जाती हैं।
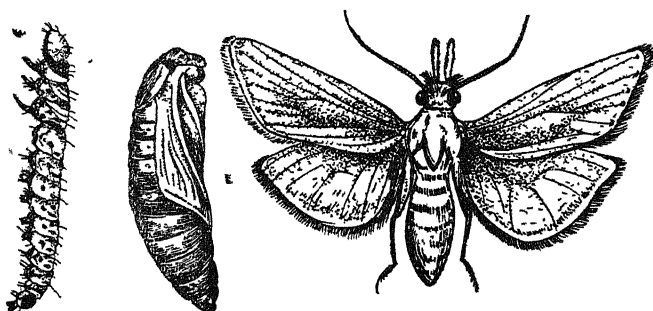
चित्र ६६—मक्का तना छेदक। गिड़ार, प्यूपा तथा प्रौढ़

(२) मक्का तना छेदक (Maizstem borer) यह कीड़ा मक्के का

एक प्रबल शत्रु है। यह तने पर आक्रमण करता है तो उसमें एक स्थान पर छिद्र करके भीतर प्रवेश कर जाता है। इसके प्रवेश से पूरा तना बेकार हो जाता है। सिरा सूख जाता है और वहाँ अगल-बगल से शाखाएँ निकल आती हैं। यह कीड़ा सेसामिया इन्फेरेन्स (Sesamia inferens, W) नाम से प्रसिद्ध है। प्रौढ़ कीड़ा एक माथ है जो पीले-भूरे रंग का होता है। पेट के भाग पर पीले-भूरे रंग के स्केल पाये जाते हैं। अग्र पंखों का रंग पिछले से गहरा होता है और पिछले पंख सफेदी लिये हुए भूरे रंग के होते हैं।

कीड़े की रोक-थाम के लिए प्रभावित पौधों को खेत से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए और उन्हें विनष्ट कर देना चाहिए। खेत के निकट उपस्थित झाड़ियाँ आदि काट देनी चाहिए जहाँ कीड़े शरण लेते हों। माथ पकड़ कर भी मारा जा सकता है।

कटवार्म (Cut worm)—यह कीड़ा साधारण किस्म का है जो फसल की बहुत कम क्षति कर पाता है। इसके प्रौढ़ लगभग ½" चौड़े और भूरे रंग के होते हैं। इनका आक्रमण प्रायः पड़े पौधों पर ही होता है। लारवा और प्रौढ़ दोनों नवांकुर काटते हैं और उन्हें विनष्ट करते हैं। इनसे रोक-थाम के लिए प्वाय-जन बेट अच्छा पड़ता है जो पेरिस ग्रीन या लेड आर्सिनेट ४-६ पौं० सीरा १ गैलन तथा चोकर या इसी १०० पौं० के मिश्रण से तैयार किया जाता है।

(४) **वायर वार्म** (Wire worm)—ये लाल रंग के चमकदार कीड़े हैं जिन्हें चिक बीटिल के नाम से पुकारा जाता है। इन्हें रोकने के लिए उपयुक्त फसल-चक्र प्रयोग करना चाहिए तथा क्लोरो आयोडिन से छिड़काव करना चाहिए।

(५) **मक्के का छेदक** (Maize borer)—यह मक्के और ज्वार का अधिक भयंकर कीड़ा है जिसका आक्रमण केवल छोटे पौधों पर ही होता है। कीड़ा शिरे पर एक छिद्र बना कर भीतर प्रवेश करता है और फिर तने पर कहीं छिद्र बना कर बाहर निकल आता है। यह पौधों के सैप पर अपना निर्वाह करता है जिससे वे सूख जाते हैं। यह एक पीलापन लिये हुए भूरे रंग का माथ है जिसके अगले पंख २५ से २८ मिलीमीटर लम्बे होते हैं। यह माथ (Chilo Zonellus) नाम से विख्यात है और पैरालिडी कुल में सम्मिलित किया जाता है। यह केवल रात को

निकलता है। इसकी रोक-थाम के लिए प्रभावित अंग अलग कर देना चाहिए। पेड़ी कभी न छोड़नी चाहिए। प्रकाश की सहायता से इन्हें पकड़कर मारा जा सकता है। ५% डी०डी० टी० का भुरकाव सफल सिद्ध होता है।

इन कीड़ों के अतिरिक्त ग्रेन माथ (Grain moth) भी एक भयानक कीड़ा है जो भण्डार घर में आक्रमण करता है। इनकी रोक-थाम के लिए कार्बन टेट्रा-क्लारोइड का फ्यूमिगेशन (Fumigation) करना चाहिए। दानों को धूप में फैलाने से भी इनकी संख्या कुछ कम हो जाती है।

अध्याय १४

ज्वार

(Andropogon sorghum)

ज्वार भारतवर्ष की शुष्क भूमि में उगाई जाने वाली एक प्रसिद्ध फसल है। इसे यहाँ की अनेक प्रादेशिक भाषाओं में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। हिन्दुस्तानी में इसे ज्वार, मलयालम और तामिल में चोलम, कनाड़ी में जोला, और तेलगू में जोनैलू के नाम से सम्बोधित किया जाता है। हिन्दुस्तानी में कुछ स्थानों पर इसे जोंधरी भी कहा जाता है।

मूलस्थान और इतिहास—ज्वार नई फसल नहीं है। इसकी खेती बहुत प्राचीन समय से हो रही है। तथ्यों के आधार पर इसे मध्य अफ्रीका और अफ्रीका के कुछ अन्य भागों में जो भूमध्य रेखीय क्षेत्र में आते हैं, सर्वप्रथम १९०० ई० पूर्व में उगाया हुआ बतलाया जाता है। एबिसीनिया, अरब और भारतवर्ष में भी इसके मूलस्थान के कुछ स्रोत उपलब्ध होते हैं। इसका मूल आधुनिकतम अनुसंधानों के आधार पर जानसन घास से हुआ बतलाया जाता है। यह घास भारतवर्ष के उत्तरी भागों में अधिकतर पाई जाती है, जिसका नाम बारू है। बारू घास की एक वार्षिक किस्म सुडान घास है। कुछ लोगों के अनुमान के अनुसार ज्वार का मूल इससे भी हुआ माना जाता है। स्नोडन ने बहुत खोज करने के पश्चात् यह तथ्य प्रकाशित किया कि उगाई जाने वाली ज्वार की फसल के चार पूर्वज हैं, जिनमें प्रथम, सारघम-सुडानेनसी जो सुडान घासके नाम से प्रसिद्ध है, दूसरे, सारघम आरून्डीनेसियम तीसरे, सारवम वल्टीसिलीफ्लोरम और चौथे, सारघम एथीयोपिकम हैं। अतः इस आधार पर भी सूडान को ज्वार का मूल ठहराया जा सकता है।

ज्वार को भारतवर्ष में उगाने के अधिक तथ्य वर्तमान हैं, अतः अगर इसका मूलस्थान यहीं कहा जाय तो कोई, अनुचित नहीं होगा। आजकल यह अपने मौलिक स्थानों पर ही नहीं उगाई जाती बल्कि इसका प्रचार विश्व के अनेक भागों में हो गया है। यह उत्तरी चीन, जापान, और आस्ट्रेलिया से लेकर अफ्रीका और संयुक्त-

राज्य अमेरिका के गरम भागों तक उत्पन्न की जाती है। भारतवर्ष में यह लगभग प्रत्येक राज्य में उगाई जाती है। भारतवर्ष में उसका क्षेत्रफल ४१.३१४ हजार एकड़ है। यह आँकड़ा १९५६-५७ के भारत संघ के अनुमान के आधार पर है। इस समय इसका उत्पादन ७.४२७ हजार टन अनुमान किया गया है। १९५५-५६ में इसका क्षेत्रफल ४२,९०४ हजार एकड़ और उत्पादन ६,६०१ हजार टन था। इस देश में इसे राजस्थान, मध्य भारत, बम्बई, मैसूर, हैदराबाद और उत्तर प्रदेश में विस्तृत क्षेत्रफल में उगाया जाता है।

भूमि :—ज्वार के लिए हल्की दोमट भूमि विशेष उपयुक्त होती है क्योंकि इसकी जड़ें भूमि की ऊपरी धरातल तक ही सीमित रहती हैं, निचले धरातल तक नहीं जा पातीं। इसकी सम्पूर्ण जड़ें ऊपरी धरातल पर ही फैली रहती हैं और वहीं से भोज्य पदार्थ लेती हैं। इससे यह धरातल खाद्य पदार्थों से शीघ्र ही रहित हो जाता है। अतः इसे उसी भूमि में उगाना चाहिए जो यथेष्ठ उर्वर हो। यद्यपि उसे प्रत्येक प्रकार की भूमियों में उत्पन्न किया जाता है किन्तु बलुई भूमि उसके लिए बिल्कुल अनुपयुक्त पड़ती है। उत्तर भारत की अलूवियल भूमि और दक्षिण भारत की कपास की काली भूमि में यह अधिक उपज देती है। कपास की काली भूमि भारी भूमि है। अतः नमी के अभाव में शीघ्र ही कड़ी हो जाती है किन्तु कृषि कार्यों के समय पर प्रारम्भ कर देने से इनमें ज्वार की खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है और यही कारण है कि दक्षिण भारत में ज्वार का अधिक क्षेत्रफल इसी भूमि में निहित है। दक्षिण भारत की हल्की लाल और राखवाली भूमियाँ भी ज्वार की खेती के लिए उपयुक्त होती हैं। इसकी सबसे अच्छी उपज चिकनी दोमट भूमि में प्राप्त होती है। किन्तु इन भूमियों में पानी का जमा रहना फसल के लिए अत्यन्त अहितकर है। यदि खेत में पानी थोड़ी देर के लिए भी खड़ा रह जाता है तो पौधा रंग बदलना प्रारम्भ कर देता है। उनमें रोग लग जाता है और अन्तोगत्वा उपज मारी जाती है। पथरीली और कंकरीली भूमि में ज्वार की खेती नहीं की जाती।

प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि ज्वार की फसल अधिक खुराक लेने वाला है। अनुभव से भी ऐसा विदित हुआ है कि एक वर्ष जिस खेत में ज्वार की फसल ली गई वह खेत बिल्कुल निर्धन हो जाता है। यह बात भी सही है। जैसा कि हमने अभी कहा है, ज्वार की जड़ें ऊपरी धरातल तक ही सीमित रहती हैं, इस-लिए और फसलों की अपेक्षा यह धरातल से अधिक खुराक लेती है और भूमि

को प्राप्त भोज्य पदार्थों में निर्धन कर देती है। दूसरी बात यह है कि ज्वार की जड़ों और पौधों के बचे भागों को सड़ाने के लिए सेल्यूलोज का सड़ाव करने वाली वेक्टीरिया काम करती हैं। इस क्रिया में ये प्राप्त होने वाले नाइट्रोजन को अप्राप्य बना देती हैं जिससे भूमि में उगे पौधे नाइट्रोजन नहीं पा पाते। किन्तु ज्वार की फसल के ये प्रभाव अस्थायी होते हैं और एक या दो वर्षों में उपयुक्त फसल-चक्र द्वारा सरलतापूर्वक दूर किये जा सकते हैं। यदि फसल-चक्र में दाल वाली फसलें सम्मिलित की जाती हैं तो ये प्रभाव और भी शीघ्र दूर हो जाते हैं। यदि फसल की कटाई के पश्चात् शीघ्र ही जुताई कर दी जाय तो जड़ों का सड़ाव शीघ्र हो जाता है और अगली फसल तक ये खाद बन जाती हैं। ज्वार की फसल का प्रभाव जैविक खाद देकर भी दूर किया जा सकता है।

जलवायु—ज्वार को भारतवर्ष में मुख्यतः खरीफ की फसल के रूप में उगाया जाता है। किन्तु दक्षिण भारत तथा पश्चिम भारत में इसे रबी की फसल के रूप में भी उगाया जाता है। साधारण तापक्रम और औसत वार्षिक वर्षा वाले स्थान इसके लिए अधिक उपयुक्त पड़ते हैं। ४०″ के लगभग औसत वार्षिक वर्षा वाले स्थान की जलवायु में यह संतोषप्रद उपज दे देती है। किन्तु अधिक वर्षा वाले स्थान अच्छे नहीं होते क्योंकि वहाँ खेतों में पानी जम जाने का भय बना रहता है। यह फसल शुष्क और गर्म मौसम के प्रभावों को सहन करने की असाधारण क्षमता रखती है। यही कारण है कि इसे उन स्थानों पर भी उत्पन्न किया जाता है जहाँ कि मक्के की फसल असफल सिद्ध होती है। तापक्रम के नीचे गिरने का इस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे मौसम में पौधे केवल अपना बढ़ाव रोक देते हैं और इसी स्थिति में उस समय तक पड़े रहते हैं जब तक कि मौसम अनुकूल नहीं बन जाता। मक्का ऐसे मौसम में क्षतिग्रस्त हो जाता है। बढ़ाव के समय इसे औसत तापक्रम ८०° से ६०° फा० तक अच्छा पड़ता है। जब तापक्रम १०५° फा० के ऊपर जाता है तो यह तापक्रम फसल के लिए उपयुक्त नहीं होता। ज्वार के लिए मैदानी भाग अच्छे सिद्ध होते हैं। किन्तु इसे ३,००० फीट की ऊँचाई पर मैसूर के पठार में भी उगाया जाता है।

वानस्पतिक विवरण—ज्वार का पौधा ऐन्ड्रोपोगन सारघन (Andropogon sorghum) से प्रसिद्ध है। कभी-कभी इसे सारगम वलगेयर (Sorghum vulgare) भी कहा जाता है। इसे घास कुल ग्रोमिनी (Gromineae) में सम्मिलित किया जाता है। इसका पौधा लम्बा लगभग ४′ से १२′ की ऊँचाई का होता है। जड़ें

पूर्णरूप से विकसित, झकड़ेदार और ऊपरी धरातल तक ही सीमित रहती हैं। इनकी लम्बाई अधिक से अधिक १½' तक होती है। लेकिन कभी-कभी यह ४' से ६' की गहराई तक में भी पाई जाती हैं। जड़ें घनी और चौड़ी होती हैं जिससे ये भूमि के अधिक से अधिक पदार्थ और नमी प्राप्त कर सकें। ये तने के कुछ निचली गाँठों से निकलती हैं। ये जड़े प्रायः एरियल (aerial) ही होती हैं किन्तु कभी-कभी ये भूमि के भीतर प्रवेश कर जाती हैं और जड़ का कार्य करने लगती है। तना बेलनाकार, गाँठों और पोर वाला होता है। गाँठों की संख्या सभी पौधों में समान नहीं होती। देशी ज्वार के पोर अमेरिकन जातियों की अपेक्षा लम्बे होते हैं। इनकी मोटाई १" से २½" की व्यास की होती है। यदि फसल अधिक घनी बोई हो तो तनों की मोटाई और भी कम हो सकती है। तनों में रस की मात्रा भी एक-सी नहीं पाई जाती। देशी जातियाँ पिथ (pith) वाली होती हैं। इससे इनमें रस बहुत कम होता है। चारे की कुछ अमेरिकन जातियाँ अधिक रसवाली होती हैं और उनका रस भी मीठा होता है। पत्तियाँ उत्पन्न करने की शक्ति जातियों पर निर्भर करती है। देशी जातियाँ अधिक पत्तियाँ नहीं उत्पन्न करतीं जबकि अमेरिकन जातियाँ ऐसा करती हैं। पत्तियाँ तनों की गाँठों से निकलती हैं। उनकी संख्या सभी पौधों में एक सी नहीं होती। पत्तियों की लम्बाई २' से ३½' लम्बी और १" से ३" चौड़ी होती है। मध्य नस (mid rib) अधिक विकसित और सफेद रंग की होती है। पत्तियाँ चिकनी होती हैं किन्तु इनका किनारा खुरदरा होता है। पत्तियों का रंग मटमैला हरा होता है। ज्वार के फूल का गुच्छा (Inflorescence) पैनिकिल (panicle) होता है जो सघन और ढीला हो सकता है। गुच्छों की बनावट के अनुसार ज्वार के तीन विभाग होते हैं। ये विभाग सघन, अर्धसघन या मध्यम और ढीले हैं जो पूर्णतया जातियों पर निर्भर करते हैं। कुछ गुच्छे बिल्कुल खुले हुए पाये जाते हैं। इनकी बनावट समान नहीं होती। बनावट गोलाकार, बेलनाकार आदि किस्म की होती है। पैनिकिल को हेड (head) भी कहा जाता है, जो पैडिंकिल (Peduncle) के सहारे जिसे बहुधा गर्दन कहा जाता है, खड़ा होता है। ये एक से दो फीट की लम्बाई के पाये जाते हैं। इनका आकार सीधा, पूरा झुका हुआ या आधा झुका हुआ होता है। एक पैनिकिल में अनेक स्पाइकलेट पाये जाते हैं जो जोड़े रूप में रहते हैं। एक जोड़े में एक स्पाइकलेट डंठल रहित (Sessile) और दूसरा डंठलसहित होता है। डंठलसहित स्पाइकलेट चौड़ा, मोटा और क्रियाशील होता है, जबकि दूसरा डंठल

रहित सँकरा लम्बा और स्टैमिनेट (Staminate) होता है। इससे इसमें फल नहीं निकलता, केवल डंठल सहित स्पाइकलेट ही फल पैदा करता है। डंठल सहित स्पाइकलेट में दो फूल निकलते हैं, जिनमें केवल एक ही क्रियाशील होता है। इसलिए एक स्पाइकलेट में एक ही बीज लग सकता है। कभी-कभी एक स्पाइकलेट में एक से अधिक दाने निकले पाये जाते हैं। भारतवर्ष में दो बीज वाले दाने जिन्हें दो-दनियाँ कहते हैं, अधिक प्रसिद्ध हैं। आयंगर के अनुसार एक स्पाइकलेट में छः दाने तक उपस्थित पाये जाते हैं। दानों की इस बढ़ती को मल्टिपुल सीडेडनेस (multiple Seededness) कहते हैं। ज्वार में फूल आने की स्थिति को बूट (boot) कहते हैं। पहला फूल शिरे पर निकलता है और सबसे पहले खिलता भी है। इसके पश्चात् नीचे के फूल खिलना प्ररम्भ करते हैं। ज्वार में स्वयं सेचन और परसेचन दोनों क्रियाएं होती हैं; किन्तु स्वयं सेंचन ही अधिकतर देखा जाता है। पटेल के अनुसार, जो सूरत में ज्वार पर खोज कर रहे थे, परसेचन २५% तक होता पाया जाता है। दाने गोले, नुकीले होते हैं। सिरे पर थोड़ा-सा दबाव पाया जाता है। छिल्का मोटा और पतला दोनों होता है।

विभाजन—उगाये जानेवाली ज्वार की किस्में अनेक प्रकार से विभाजित की गई हैं। कुछ स्थानों पर पैनिकिल की दशा सघन या ढीली, रस का परिमाण और मिठास आदि के आधार पर विभाजन किया गया। भारत में विभाजन का कार्य कई वैज्ञानिकों द्वारा अपनाया गया। उन्होंने अनेक प्रकार से ज्वार के विभाजन किये। इनमें से स्नोडन (Snowden) का विभाजन आधुनिकतम और अधिक विश्वसनीय है। उसके अनुसार इसकी ६ उपश्रेणियाँ हैं। (१) गूनीनसिया (२) नरवोसा (३) बाईकोलोरिया (४) दूरी (५) कैफरा और (६) ड्रमण्डाई हैं। प्रथम चार उपश्रेणियों में ही भारत में उगाई जानेवाली ज्वार की जातियाँ सम्मिलित होती हैं।

उन्नत जातियाँ—ज्वार की अनेक उन्नत जातियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों के लिए स्वीकृत की गई हैं। इनमें कुछ का उल्लेख नीचे किया जायगा।

५ टाल—यह जाति उत्तर-प्रदेश के लिए तैयार की गई है। इसकी उपज (दानों में) १३ से २० मन प्रति एकड़ मिलती है। फसल का चारा भी बहुत स्वादिष्ट होता है। यदि इसे हरे चारे के लिए बोया जाय तो इसकी उपज ३५० से ४५० मन प्रति एकड़ होती है।

८ बी—यह जाति भी उत्तर-प्रदेश के लिए उपयुक्त होती है। इसकी दाने की उपज प्रति एकड़ १४ से २० मन और हरे चारे की उपज २५० से ५०० मन तक मिलती है।

टाइप ४१०१ और टाइप ४१०६—ये जातियाँ उत्तर-प्रदेश में किसी भी स्थान पर उगाई जा सकती हैं। इन्हें विशेषकर चारे के लिए ही उगाया जाता है। हरे चारे की उपज ३५० से ५०० मन प्रति एकड़ प्राप्त होती है।

टाइप २०—यह जाति सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए उपयुक्त चारे की जाति है। यह चारे के लिए अधिक प्रसिद्ध है। इसे भारतवर्ष में ही तैयार किया गया।

सी० ओ० ११—टाइप २० की भाँति यह जाति भी सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए उपयुक्त मानी गई है। यह भी चारे के लिए उपयुक्त होती है।

इन जातियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो भारतीय स्थितियों में अधिक उपज देती हैं, यद्यपि उनका मूलस्थान अमेरिका है। इनमें हेगारी, काफिर, शैलू, दूबरा अधिक मुख्य हैं।

हेंगारी—इसका पौधा ४′ से ६′ की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसमें पत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जो बहुत थोड़ी होती हैं। तने का रस बहुत मीठा होता है और अधिक परिमाण में निकलता भी है। पौधे पर रोग और कीड़ों का अधिक आक्रमण होता है। पत्तियों पर भूरे रंग के लाल धब्बे उपस्थित रहते हैं।

शैलू—यह जाति पश्चिम और दक्षिण भारत में उत्पन्न की जाती है। यह रबी की फसल के साथ बोयी जाती है और देर में तैयार होती है। तना पतला होता है, पत्तियाँ सँकरी और लम्बी होती हैं। इसके बीज छोटे और सफेद रंग के होते हैं। कभी-कभी इनका रंग भूरा या दूध के रंग का भी पाया जाता है। यह किस्म चारे के लिए उपयुक्त नहीं होती। फसल पर स्मट रोग का अधिक आक्रमण होता है।

खेत की तैयारी—ज्वार की फसल के लिए खेत की तैयारी उस प्रकार नहीं की जाती जैसा अन्य दाने वाली फसलों में हमने देखा है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, ज्वार की खेती उत्तर भारत की अलूवियल भूमि तथा दक्षिण भारत की कपास की काली भूमि में होती है। जब इसे कपास की काली भूमि में बोया जाता है तो खेत की तैयारी उन्नतिशील हल से शुरू की जाती है। यह हल बक्खर है जो इस क्षेत्र में बहुधा प्रयोग किया जाता है। जब खेत में अधिक घास-पात उगे होते हैं तो

खेत की जुताई बक्खर या किसी मिट्टी पलटने वाले हल से की जाती है। तत्पश्चात् हैरो चलाया जाता है। हैरो चलाने से घासें पूर्णतया निर्मूल हो जाती हैं। इसके पश्चात् दो-तीन जुताइयाँ करके पटेला चलाया जाता है और जब खेत की मिट्टी भुरभुरी तथा समतल हो जाती है, तो ज्वार की बुवाई कर दी जाती है। खेत की जुताई में समय और नमी का अधिक ध्यान रक्खा जाता है, क्योंकि यदि भूमि थोड़ी सी भी असावधानी से नमी के अभाव में कड़ी हो जाती है तो ऐसी स्थिति में जुताई एक समस्या बन जाती है। यह मिट्टी भारी होती है और भारी वर्षा होने पर जुताई करना मुश्किल हो जाता है। उत्तर भारत में अलूवियल भूमि में खेत की तैयारी के लिए मिट्टी पलटने वाले हल की एक जुताई और देशी हल की दो-तीन जुताइयाँ पर्याप्त होती हैं। ये जुताइयाँ आर-पार करनी चाहिए। इससे खेत की पूरी भूमि जुत जाती है। आवश्यकता समझ कर एक या दो बार हैरो भी चलाया जा सकता है। मिट्टी भुरभुरी करने के लिए एक या दो पटेला चला देना काफी होता है।

बोने का समय—ज्वार की बुवाई उत्तर भारत में खरीफ के समय की जाती है। वर्षा प्रारम्भ होने पर जुताइयाँ शुरू कर दी जाती हैं और खेत ज्योंही तैयार होता है बुआई कर दी जाती है। कुछ स्थानों पर जहाँ सिंचाई की यथेष्ट सुविधा होती है, वहाँ वर्षा में देरी होने पर पानी चला कर बुवाई कर दी जाती है। दक्षिण भारत में इसे रबी के मौसम में बोया जाता है। वहाँ साल में इसकी दो फसलें ली जाती हैं। एक अल्पकालिक और दूसरी दीर्घकालिक। अल्पकालिक फसल दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के प्रारम्भ होने पर और दीर्घकालिक किस्में इस मानसून के अन्त होने पर बोई जाती है।

बोआई—ज्वार की बोआई छिटकवाँ रूप से या पंक्तियों में की जाती है। जब इसे छिटकवाँ रूप से बोते हैं तो पौधों की पारस्परिक दूरी का कोई महत्व नहीं रहता, इससे कहीं अधिक बीज और कहीं कम बीज पड़ जाता है। पंक्तियों में जब बोआई की जाती है तो बोआई हल के पीछे की बोवाई अपनाई जाती है। बोवाई की मशीन और नाई द्वारा भी पौधों की दूरियाँ निश्चित रक्खी जा सकती हैं। जब बोआई पंक्तियों में की जाती है तो पंक्तियों की दूरी १८" से ३०" और पौधे से पौधे की दूरी ६" से १२" होती है। जब फसल चारे के लिए उगाई जाती है तो पंक्तियाँ १४" से २४" और पौधे ६" से ८" की दूरी पर बोये जाते हैं। पौधों और पंक्तियों

के बीच दूरी, भूमि की उर्वरता, उसकी दशा, नमी की उपस्थिति, बोआई का समय बीज की स्थिति आदि बातों पर निर्भर करती है।

जब ज्वार की बोआई दाने के लिए की जाती है तो प्रति एकड़ बीज की मात्रा ५ से १० पौंड लगती है। औसत बीज-मात्रा ८ पौंड ही होती है। चारे के लिए बोआई करने पर बीज की मात्रा १६ सेर प्रति एकड़ आवश्यक होती है। लोगों का ऐसा कहना है कि चारे के लिए बीज की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उपज उतनी ही बढ़ेगी। घने पौधे कोमल और रसदार होते हैं जिससे चारा अच्छा मिलता है। जिन स्थानों पर ज्वार की फसल पर स्मट रोग अधिक प्रचलित है, वहाँ प्रतिवर्ष इसका फसल पर आक्रमण होता है और कृषकगण काफी क्षति उठाते हैं। इससे बचने के लिए कापर सल्फेट के घोल से बीजों का उपचार करना चाहिए। कापर सल्फेट पानी के साथ १:१०० के अनुपात में एक मिट्टी के बर्तन में घुलाया जाता है। ज्वार के बीजों को इसी घोल में डालकर १० मिनट तक हिलाया जाता है और तत्पश्चात् छान कर बाहर निकाल लिया जाता है। निकालने पर इन्हें हवा में सुखाया जाता है और तब बोआई की जाती है। कापर सल्फेट की १६ औंस की मात्रा आधे गैलन पानी के लिए काफी पड़ती है। कुछ स्थानों पर कापरसल्फेट का प्रयोग न कर सल्फर या सल्फर के फूल का प्रयोग किया जाता है।

मिश्रण—ज्वार की बोआई अनेक फसलों के साथ की जाती है। इनमें दाने, रेशेवाली फसलें, तेलवाली फसलें और मिलेट मुख्य हैं। खरीफ के मौसम में मूंग, उर्द, लोबिया, सोयाबिन, पटसन, सनई, तिल, सावाँ, कोदो, काकुन, आदि फसलें हैं। जब इसे रबी की फसलों के साथ बोया जाता है तो इसे जौ, कुसुम, बरसीम, मूंगफली आदि के साथ बोया जाता है। इसे बार्डर क्राप (Border crop) तथा कैच क्राप (Catch crop) की भाँति भी उत्पन्न किया जाता है। कैच क्राप में फसलें दो मुख्य ऋतुओं के बीच तैयार की जाती हैं या उन्हें किसी विशेष अवसर पर बोया जाता है जब कि खेत बेकार रहता है और फसल बोकर उससे कुछ उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर जोरों की वर्षा के समय खेत खाली रहता है। उस समय ज्वार उगाकर दाना प्राप्त किया जा सकता है। बार्डर क्राप खेत के चारों ओर उगाई जाती है।

सिंचाई—ज्वार की फसल खरीफ में सींची नहीं जाती किन्तु मानसून में जब कभी सूखा पड़ जाता है और खेत में नमी का अभाव हो जाता है तो आवश्यकता-

नुसार सिंचाई कर दी जाती है। बहुधा मानसून के अन्त में ऐसी परिस्थितियाँ सम्मुख आती हैं। रबी में फसल को पानी की आवश्यकता कुछ दिनों के अन्तर पर पड़ती है। ये अन्तर २० से २५ दिनों का रहता है। यदि भूमि इस अन्तर पर भी काफी नम रहती है तो अन्तर कुछ दिनों तक और बढ़ा दिया जा सकता है। बीच में यदि पानी बरस गया तो अन्तर और भी बढ़ा दिया जा सकता है। दीर्घकालिक जातियों की बोआई पर अधिक समय लगता है और सिंचाई भी अधिक की जा सकती है। सिंचाई करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि खेत में पानी अधिक समय तक न रुकने पावे क्योंकि ऐसा होने से ज्वार के पौधे भूमि पर झुकना प्रारम्भ कर देते हैं और झुकने से उपज संतोषप्रद नहीं मिल पाती। अनावश्यक पानी खेत से बाहर करने के लिए जल-निकास का उचित प्रबन्ध रखना चाहिए। यदि जमीन नीची हो और जल-निकास का कोई प्रबन्ध न हो तो ज्वार की बोआई २-३ इंच की ऊँचाई की मेड़ों पर करनी चाहिए। ऐसा करने से अनावश्यक पानी का प्रभाव प्रतिकूल नहीं पड़ने पाता।

खाद्—जैसा कि हमने ऊपर कहा है, ज्वार की फसल को खाद की अधिक आवश्यकता होती है क्योंकि यह एक अधिक खाद्य पदार्थ लेने वाली (Heavy feeder) फसल है। इसे नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटाश तीनों तत्वों की आवश्यकता होती है। इसे नाइट्रोजन प्रति एकड़ ३० पौंड से ५० पौंड आवश्यक होती है। जो भूमि में जैविक रूप या उर्वरक रूप में दिया जाता है। जैविक रूप में यह तत्व गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद और खलियों से लिया जाता है। इन खादों से आवश्यक नाइट्रोजन की लगभग आधी मात्रा उपलब्ध करनी चाहिए और शेष मात्रा उर्वरकों से लेनी चाहिए। जैविक खादें फसल की बोआई के पूर्व प्रयोग की जाती हैं। बोआई के लगभग ४-६ सप्ताह पहले भूमि में पूर्णरूप से सड़ी खाद छोड़ दी जाती है जो जुताई के साथ मिट्टी में भली भाँति मिल जाती है। यदि भूमि में खलियों का प्रयोग करना हो तो उन्हें बारीक कर बोआई के २-३ सप्ताह पूर्व खेत में छोड़ देना चाहिए। इससे पौधो के अंकुरण तक मिट्टी में घुल-मिल कर वे काम आने लगती हैं। उर्वरकों का प्रयोग अंकुरण के पश्चात् खड़ी फसल में किया जाता है। इनके देने की विधि समय के अनुसार निश्चित् की जाती है। यदि फसल अल्पकालिक है तो उर्वरक का प्रयोग अंकुरण के शीघ्र पश्चात् करना चाहिए। अन्यथा देरी होने पर फसल उचित रूप से लाभान्वित नहीं हो पाती। नाइट्रोजन की आव-

श्यकता पूरी करने के लिए उर्वरक अमोनियम सल्फेट काम में लाना चाहिए किन्तु आजकल यूरिया (urea) अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है। फासफोरस २० से ३० पौंड की मात्रा में देनी चाहिए। इसे प्राप्त करने के लिए सुपरफास्फेट अथवा बेसिक-स्लैग का प्रयोग करना चाहिए। यदि भूमि में चूने का अभाव हो तो इस अभाव को भी दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

निराई-गुड़ाई—ज्वार की बोआई यदि छिटकवाँ रूप में होती है बो निराई-गुड़ाई की क्रिया पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। मिश्रण रूप में बोने पर इसकी निराई-गुड़ाई मुख्य फसल के साथ ही हो जाती है। कतारों में बोने पर अच्छी उपज लेने के लिए निराई-गुड़ाई की क्रिया अवश्य करना चाहिए। ऐसी अवस्था में जब कि बोआई पंक्तियों में होती है, बैलों से चलाए जाने वाले यन्त्र काम में लाए जा सकते हैं। इससे कार्य शीघ्र और कम व्यय में होता है। बैलों से चलाये जाने वाले कल्टिवेटर या निरायक प्रयोग किये जा सकते हैं। स्पाइकटूथ या स्प्रिंगटूथ हैरो भी अच्छा काम देते हैं। किन्तु इनका प्रयोग तभी करना चाहिए जब पौधे कम से कम ३-४" की ऊँचाई के हों। हाथ से निराई-गुड़ाई खुर्पी या कुदाली की सहायता से की जाती है जिसमें श्रम और समय अधिक लगता है। खेत में जब घास-पात अधिक हों तो हाथ की निराई ही अच्छी होती है।

फसल की गुड़ाई उस समय अधिक आवश्यक होती है जबकि बीजों के अंकुरण के पूर्व ही पानी बरस जाता है। ऐसे समय हल्के हैरो या कल्टिवेटर चलाये जाते हैं जिससे ऊपरी धरातल पर बनी हुई पर्त टूट जाय और अवरोधपर्त (mulch) बना दी जाय। निराई-गुड़ाई की क्रिया प्रति १५ दिन पर करते रहने से घास-पात के बढ़ाव को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता और फसल का बढ़ाव अच्छे ढंग से हो पाता है।

फसल की कटाई—जब फसल दाने के लिए बोई जाती है तो पौधों की कटाई दानों के पकने पर होती है। दाने पकने पर कड़े हो जाते हैं। अल्पकालिक जातियाँ ३-४ महीने में तैयार हो जाती हैं, जबकि दीर्घकालिक जातियों के पकने में २½ से ५ महीने का समय गगता है। फसल के तैयार हो जाने पर पौधे जड़ से काट लिये जाते हैं और बोझ बनाकर उन्हें खलिहान में इकट्ठा कर दिया जाता है। कटाई की क्रिया हँसिये से होती है परन्तु विस्तृत क्षेत्र में कम्बाइन का प्रयोग करना चाहिए। खलिहान में बालियाँ डंठल से अलग कर ली जाती हैं और उन्हें अच्छी तरह सुखा

कर बैलों की दाँय चला लेते हैं। दाँय चलाने के पश्चात् बीज ओसाई द्वारा भूसे से अलग कर लिया जाता है। डठल छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर करबी के रूप में पशुओं को खिलाया जाता है।

ज्वार जब चारे के लिए बोया जाता है तो उसकी कटाई हरी अवस्था में ही की जाती है। जब उसे स्वायलिंग (Soiling) के रूप में प्रयोग करते हैं तो हरे पौधे काटकर हरी अवस्था में ही पशुओं को खिलाया जाता है। ऐसी फसलें स्वायलिंग फसल (Soiling crops) कहलाती हैं। इनकी कटाई उस समय की जाती है जब पौधों में फूल आना प्रारम्भ हो जाते हैं। उस समय पौधे में क्रूसिकअम्ल बहुत कम परिमाण में उपस्थित होता है और अन्य लाभप्रद तत्वों की मात्रा अधिकाधिक रूप में उपस्थित होती हैं। पौधे गँड़ासे या हँसिया से काट लिये जाते हैं और फिर उन्हें गँड़ासे या चैफ कटर (कुट्टी की मशीन) से कुट्टी कर पशुओं को खिलाया जाता है। जब ज्वार की फसल साइलेज (Silage) के लिए तैयार की जाती है तो पौधों की कटाई दो माह पश्चात् की जाती है।

उपज—दाने की उपज जातियों, खाद और उर्वरक की मात्रा तथा जलवायु के अनुसार १० से २५ मन प्रति एकड़ तक मिलती है। चारे की उपज एक एकड़ में २५० से ४५० मन तक उपलब्ध होती है। दक्षिण भारत की शुष्क भूमि में दाने की उपज ७०० से ८०० पौंड प्राप्त होती है। किन्तु कपास की काली भूमि में यह १,२०० से १,६०० पौंड तक मिलती है।

उपयोग—ज्वार का दाना भोजन में प्रयोग होता है। इसके दाने को तोड़ कर चावल बनाया जाता है और आटे की तरह पीसकर रोटी बनाई जाती है। पशुओं के लिए यह संतृप्त भोजन की भाँति प्रयोग होता है। विदेशों में इससे स्टार्च तैयार किया जाता है जिससे ग्लूकोज तैयार होता है। दक्षिण भारत में इसे माल्टोज बनाने के काम में लाया जाता है। इससे माल्ट भी प्राप्त किया जाता है। मीठे किस्म का ज्वार सीरप, लिक्वर सुगर आदि बनाने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। डण्ठल और पत्तियों से हरे चारे, सूखे चारे, करबी और साइलेज तैयार करते हैं। जड़ें ईंधन के काम आती हैं।

रासायनिक विश्लेषण—ज्वार के दाने में अनेक तत्व पाये जाते हैं। तत्वों की यह मात्रा सफेद और लाल दानों में अलग-अलग होती हैं, जिसका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जायगा।

दाने	पानी	कार्बोहाइड्रेट	अल्बुमिनायड	क्रूडफाइबर	चर्बी	राख
लाल दाना	१२.२	०१.५	६.६	१.२	३.२	२.१
सफेद दाना	१२.०	७४.४	७.१	१.४	३.१	१.६
अन्य दाने	१२.५	७२.३	६.३	२.२	२.०	१.७
चारा (प्रथम श्रेणी)	७.४	४६.२	२.४	३१.४	२.१	१०.६
चारा (द्वितीय श्रेणी)	८.७	३६.७	२.१	३६.८	१.५	८.४

रोग और कीड़े—ज्वार की फसल पर अनेक प्रकार के रोग और कीड़े आक्रमण करते हैं। रोगों में रेड स्पाट, (Red spot), रस्ट, स्मट, डाउनी मिल्ड्यू, हेड-स्मट, लूज स्मट, और लांगस्मट आदि होते हैं।

(१) **रेड स्पाट**—यह रोग रेड लीफ़ स्पाट (Red leaf spot) भी कहलाता है। यह कौलैटोट्रैकम ग्रैमिनिकोलम (Collettorichum graminicolum) नामक फफूँदी से उत्पन्न होता है। इस रोग के आक्रमण पर पत्तियों पर लाल धब्बे पड़ जाते हैं जिससे ये लाल हो जाती हैं। ये धब्बे पत्तियों के ऊपर और निचले धरातल पर उपस्थित होते हैं। धब्बों के केन्द्र में एक काला बिन्दु होता है। धब्बों के प्रभाव से पत्तियाँ सूखने लगती हैं जिससे अन्त में उपज घटिया पाई जाती है। इस रोग की रोक-थाम प्रभावित पौधों या उनके अंगों को विनष्ट कर की जाती है। (२) **रस्ट** (Rust)—यह रोग ज्वार में बहुत अधिक प्रचलित है। यह एक प्रकार की फफूँदी पक्सीनिया परप्यूरिया (Puccinia purpurea) द्वारा उत्पन्न होता है। इसके आक्र-

मण से पत्तियों पर पीले रंग के चमकीले धब्बे पड़ जाते हैं, जिनका किनारा अधिक गहरे रंग का होता है। इसकी रोक-थाम के लिए आवश्यक कदम उठाना चाहिए। (३) **डाउनीमिल्डू**—यह रोग स्कलरोस्पोरा ग्रेमिनिकोला (Sclerospora graminicola) द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग का प्रभाव ज्वार की अपेक्षा बाजरे पर अधिक पड़ता है। (४) **हेड स्मट**—यह रोग अस्टिलागो टिलायना (Ustilago teliana) द्वारा पैदा होता है। इस रोग के प्रभाव से दाने की बाली काले बुरादे से भर जाती है। जो फफूँदी के स्पोर और फिलामेन्ट होते हैं। ये स्पोर भूमि पर गिरते हैं और दूसरी फसल तक जीवित रहते हैं। अतः इन्हें दूर करने के लिए भूमि का उपचार करना चाहिए। **५. लूज स्मट** (Loose smut)—इस रोग को उत्पन्न करने वाली फफूँदी का नाम स्फेसिलोथिका क्रूवेन्टा (Sphaecelotheca cruenta) है। **६. ग्रेन स्मट** (Grain smut)—यह स्फेसिलोथिका सारघाई (sphaecelotheca sorghi) फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग से ज्वार के दाने ही प्रायः प्राभावित होते हैं और दाने स्पोर के चूर्ण से भर जाते हैं। इसको दूर करने के लिए बोआई के पूर्व बीज का उपचार करना चाहिए जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है। **७. लाँग स्मट** (Long smut) यह रोग टोलिपोस्पोरियम फिलिफेरम (Tolyposporium filiforium) से उत्पन्न होता है। **८. ब्लाइट और हालो स्टेम** (Blight and hollow stem)—इसे मैक्रोफोमिना फेजियोलाई (Macrophomina phaseoli) नामक फफूँदी उत्पन्न करता है। यह रोग दक्षिण भारत तथा बम्बई की ज्वार की उन फसलों पर अधिक आक्रमण करता है जो देर में बोई जाती हैं। भूमि में नमी की प्रचुरता और तापक्रम के अधिक होने पर इस रोग को प्रोत्साहन मिलता है।

कीड़े—कीड़ों में अधिक मुख्य ब्लस्टर बीटल (Blister beetle) एफिड, टिड्डा आदि हैं। किन्तु इनका आक्रमण अधिक भयंकर नहीं होता है। कुछ कीड़े ऐसे हैं जो गन्ने की फसल पर आक्रमण करते हैं और कभी-कभी ज्वार की फसल पर भी आ जाते हैं। इन कीड़ों में मुख्य तना छेदक (Stem borer) है, जिसकी रोक-थाम की विधि का वर्णन गन्ने की खेती के साथ ही किया गया है। **२. ब्लिस्टर बीटिल**—इस कीड़े का आक्रमण फसल के फूल पर होता है। यह तीन रूप में पाया जाता है। प्रथम, भूरे रंग में जिसे ब्राउन ब्लिस्टर बीटिल, दूसरा नारंगी रंग का ब्लिस्टर बीटिल और तीसरा, हरे रंग का ग्रीन ब्लिस्टर बीटिल हैं। **३. एफिड**—

(Aphids) ज्वार के खेत में कभी-कभी ये कीड़े बहुत अधिक परिमाण में मिलते हैं। ये पत्तियों, तनों और नई बालियों पर आक्रमण कर उनका सैप शोषित करते हैं। इससे पौधों की बाढ़ रुक जाती है। ४. **टिड्डा**—यह दक्षिण भारत में ज्वार और रागी की फसल पर अधिकतर आक्रमण करता है। इनकी रोक-थाम के लिए जालियाँ या झोले प्रयोग किये जाते हैं जिनके द्वारा इन्हें पकड़ कर मार डाला जाता है। भण्डार गृह में दानों पर घुन का आक्रमण होता है, जो दाने को एकदम खोखला बना देते हैं। इनसे रक्षा के लिए दाने धूप में सुखाये जाते हैं।

अध्याय १५

बाजरा

(Pennisetum typhoideum)

बाजरा को तामिल भाषा में कम्बू, तेलगू से सजालू या गनतालू, कनाड़ी में सज्जी, मलयालम में कम्पम और हिन्दुस्तानी में बाजरा कहते हैं। यह दाने की फसल है जो स्माल मिलेट (Lmall millet) में सम्मिलित होती है।

मूलस्थान और इतिहास—बाजरा का मूल-स्थान अभी अब भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। किन्तु लोगों का ऐसा अनुमान है कि इसका मूल अफ्रीका और भारतवर्ष में कहीं है क्योंकि इसकी खेती यहाँ अधिक परिमाण में होती है। यह अरब और दक्षिणी यूरोप में भी उगाई जाती है और आजकल तो इसे संयुक्तराज्य अमेरिका में भी जाने लगे हैं। ऐसा कहा जाता है कि स्वीट्जरलैंड में इसकी खेती २,७०० ई० पूर्व से ही की जाती है। चीन में भी इसे बहुत अधिक प्राचीनकाल से उगाया जा रहा है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह भारतवर्ष में चीन से लाई गई और भारत से इसे वेस्टइंडीज (West Indies) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका पहुँचाई गई।

वितरण—जैसा हमने अभी कहा है, बाजरा भारतवर्ष और अफ्रीका में अधिक क्षेत्रफल में उत्पन्न किया जाता है। इन देशों के अतिरिक्त इसे चीन, वेस्ट-इंडीज, संयुक्त राज्य अमेरिका में भी उत्पन्न किया जाता है। भारतवर्ष में बम्बई, हैदराबाद, मद्रास, मध्यप्रदेश, राजस्थान, और उत्तर-प्रदेश में उगाया जाता है। सम्पूर्ण भारत में बाजरा का क्षेत्रफल ११५५-५६ में २८,०२४ हजार एकड़ और १९५६-५७ में २७,५४२ हजार एकड़ था और उत्पादन क्रमशः ३,३७९ हजार टन तथा २,९२६ हजार टन रहा। बम्बई में ५५-५६ का क्षेत्रफल ४,००० हजार एकड़ और उत्तरप्रदेश में २,२५० हजार एकड़ था।

भूमि—बाजरा के लिए बलुवार दोमट भूमि विशेष उपयुक्त होती है। इसके लिए ऐसी भूमि भी अच्छी पड़ती है जो अन्य दानों के लिए अनुपयुक्त हो। हल्की भूमि में जिसमें जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध हो, बाजरे की खेती सफलता-पूर्वक ली जा सकती है। दक्षिण भारत में इसे कपास की काली भूमि तथा लाल और भूरी बलुई भूमि में उत्पन्न किया जाता है। लाल भूमि यदि गहरी और कंकड़-पत्थर रहित होती है तो उपज संतोषप्रद मिलती है।

जलवायु—इसकी खेती उत्तर भारत में खरीफ में की जाती है। इसे कभी-कभी जायद ऋतु में भी उगा लेते हैं। किन्तु प्रधानतः इसे खरीफ में ही उगाते हैं। इसकी बोवाई उस समय की जाती है जबकि वर्षा की प्रचुरता कुछ कम होती है। पौधे को अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती। कम पानी में ही यह अच्छी उपज देता है। उन स्थानों पर जहाँ १७-३५″ वार्षिक वर्षा होती है, सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। ३५″ से अधिक की वर्षा अच्छी उपज के दृष्टिकोण से अच्छी नहीं होती इसके लिए १७″-२०″ वार्षिक वर्षा वाले स्थान श्रेष्ठतम सिद्ध होते हैं। इसे उन भूमियों और जलवायु में भली-भाँति उत्पन्न किया जा सकता है, जहाँ ज्वार और मक्के की फसल असफल सिद्ध होती है।

वानस्पतिक विवरण—बाजरा ग्रेमीनेसी कुल का सदस्य है जिसे पेनीसेटम टाइफोडियम (Pennisetum typhoideum) कहा जाता है। इसे स्माल मिलेट (Small millet) में सम्मिलित किया जाता है। इंगलिश में इसे पर्लमिलेट, वलरस मिलेट और कैप्टेल मिलेट के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसका पौधा सीधा, लम्बा और लगभग ३′-८′ की ऊँचाई का होता है। पौधे की ऊँचाई भूमि की उर्वरता के अनुसार बदलती रहती है। जड़ें झकड़ादार होती हैं जो भूमि के भीतर जाकर अधिक मोटी हो जाती हैं। इन मोटी जड़ों से सहायक जड़ें निकल कर इधर-उधर फैल जाती हैं। किन्तु पूरी जड़ उथली होती है और भूमि के ऊपरी धरातल से ही अपना आहार पूरी करती है। तने लम्बे पीथदार (Pithy) शाखा सहित होते हैं। शाखाएँ कभी-कभी कोणों से निकलती हैं और दो या तीन गाँठें और पोर बना लेती हैं। टिलर का निकलना बाजरे की फसल में पौधों के आपस की दूरी और बीज की जाति पर निर्भर करता है। पत्तियाँ लम्बी लेनस्योलेट होती हैं जिनका ··· रा लम्बा होता है। इन सिरों पर दोनों ओर रेशे निकले होते हैं। पत्ती का शीथ (Sheath) उसके लेमिना से मोटा होता है और तने को ढकता हुआ दिखलाई पड़ता है। लिग्यूल की

लम्बाई ४-५ मिलीमीटर की होती है। फूल का गुच्छा कम्पाउन्ड स्पाइक होता है जिसकी लम्बाई ६-१४" के लगभग होती है। फूल इसी गुच्छे में शाखाओं पर निकलते हैं जिन्हें रैचिली (Rachillae) कहा जाता है। रैचिली पर दो या दो से पाँच स्पाइकलेट निकलते हैं। गुच्छे में फूल दो किस्म के पाये जाते हैं। एक पहले निकलता है, जिन्हें हरमाफ्रोडाइट (Hermophrodite) कहते हैं और दूसरे बाद में निकलते हैं जिन्हें स्टैमिनेट कहते हैं। फूल के गुच्छे की लम्बाई ८"-१२" और व्यास १"-१½" का होता है। इसका आकार बेलनाकार होता है। रंग कुछ पीलापन लिये हुए पीला, हरा होता है। किन्तु कभी-कभी लाल धारियाँ भी पाई जाती हैं। इसे हेड या बाली कहते हैं। फूलों में परसेचन अधिक होता है। बीज छोटे लगभग ३ से ४ मिलीमीटर की लम्बाई के होते हैं। इनकी तौल २-१० मिली ग्राम से अधिक नहीं होती। बीज का रंग भूरा गहरा या फीका हल्का हरा होता है। इनका आकार अण्डे जैसा या एक ओर से चपटा होता है।

विभाजन—बाजरे का विभाजन क्रमवार ढंग से अभी नहीं हो पाया है। कुछ लोग बालियों की लम्बाई टूँड़ की उपस्थिति या अनुपस्थिति में तैयार होने की अवधि आदि के आधार पर इसके कुछ वर्ग करते हैं, जो अधिक प्रचलित नहीं हैं।

उन्नत जातियाँ—बाजरा की कुछ उन्नत जातियाँ भी निकाली गई हैं, जिन्हे दाने और चारे अथवा दोनों के लिए प्रयोग किया जाता है। टाइप ११, टाइप १५ और टाइप १६ ऐसी जातियाँ हैं जिन्हें केवल दाने के लिए तैयार किया जाता है। ये अधिक उपज देने वाली और रोग-अवरोधी होती हैं। A/३ जाति मुख्यतः चारे के लिए उगाई जाती है। इसके बीज अधिक छोटे होते हैं। यह अल्पकाल में ही तैयार हो जाती है। ग्वालियर २ और ग्वालियर ५ ऐसी जातियाँ हैं जिन्हें दाने और चारे दोनों के लिए उगाया जा सकता है।

खेत की तैयारी—बाजरे के लिए खेत की तैयारी पूर्ण रूप से की जाती है। जिस खेत में बाजरा बोना हो उसे गर्मी के दिनों में मिट्टी पलटने वाले हल से एक या दो बार जोत देना चाहिए। तत्पश्चात् मानसून में देशी हल की दो-तीन जुताइयाँ खेत की तैयारी के लिए यथेष्ट होती हैं। देशी हल की अपेक्षा स्प्रिंगटूथ हैरो अधिक अच्छा पड़ता है। भूमि भुरभुरी और समतल बनाने के लिए एक या दो बार पटेला चला देना चाहिए। यदि बोआई ज़ायद में करनी होती है तो खेत की तैयारी गर्मी के दिनों में ही कर ली जाती है। उस समय मिट्टी पलटने वाले हल अधिक

उपयुक्त होते हैं। दक्षिण भारत में खेत की तैयारी के लिए बक्खर का प्रयोग किया जाता है।

बोआई—उत्तर भारत में बाजरे की बोआई प्रायः अकेले नहीं की जाती। उसे उर्द, मूंग, अरहर, तिल, रेड़ी आदि के साथ मिलाकर बोया जाता है। बोआई का अधिक प्रचलित ढंग छिटकवाँ है। किन्तु पंक्तियों में बोने से उपज अधिक प्राप्त की जा सकती है। बोआई जब पंक्तियों में की जाती है तो एक पंक्ति से दूसरे पंक्ति की दूरी ३′ से ६′ रक्खी जाती है। बाजरे की दो पंक्तियों के बीच मिलवाँ फसल की ३-४ पंक्तियाँ बोई जाती हैं। यह दूरी दाने की फसल में रक्खी जाती है। जब बाजरा चारे के लिए बोया जाता है तो पंक्तियों की पारस्परिक दूरी १½′ से २′ रक्खी जाती है और बोआई बोने वाली मशीन से की जाती है। खरीफ में इसे भारी वर्षा के समाप्त होने पर बोते हैं। यह समय १५ जुलाई से अगस्त के प्रथम सप्ताह तक होती है। ज़ायद में इसकी बोआई मार्च के मध्य से अप्रैल के मध्य तक अवश्य कर देनी चाहिए। बाजरे की फसल जब मिलवाँ रूप में बोई जाती है तो बीज की मात्रा प्रति-एकड़ १ से १½ सेर लगती है। यह मात्रा मिलवाँ फसल के गुण और संख्या पर निर्भर करती है। अकेली फसल में बीज की मात्रा ३ से ५ सेर आवश्यक होती है। जब बाजरे को चारे के लिए उत्पन्न किया जाता है तो ६ से ८ सेर बीज एक एकड़ खेत के लिए यथेष्ट होता है। बीज की मात्रा छिटकवाँ ढंग में अधिक लगती है परन्तु बोआई की मशीनों या हल के पीछे की बोआई में अपेक्षाकृत कम बीज की ही आवश्यकता होती है। बीजों की बोआई लगभग आधे इंच की गहराई पर होनी चाहिए और बोआई के पश्चात् पाटा चला देना चाहिए।

सिंचाई और खाद—बाजरे के लिए प्रायः सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह एक ऐसी फसल है जो कम पानी चाहती है और नमी के अभाव में भी अच्छी फसल देती है। इसके लिए मानसून ऋतु का पानी ही पर्याप्त होता है। सूखा के समय यदि भूमि में नमी बिल्कुल न रह जाय और पौधे सूखने लगें तो आवश्यकतानुसार सिंचाई श्रेयस्कर होती है। जब फसल ज़ायद में उगाई जाती है तो इसे कई सिंचाइयों की आवश्यकता होती है। पहली सिंचाई खेत की तैयारी के लिए की जाती है। बोआई के पश्चात् १५-२० दिनों के अन्तर पर सिंचाई करते जाते हैं, जब तक कि फसल तैयार न हो जाय।

खरीफ की फसल में सिंचाई की भाँति खाद भी नहीं दी जाती। मिलवाँ फसल में जब फलीदार फसलें सम्मिलित होती हैं तो बाजरे के पौधों को नाइट्रोजन का अभाव नहीं होने पाता। दाने के फसल में ५० पौंड सुपरफास्फेट और १०० पौंड बोनमील दे देना चाहिए क्योंकि पौधों को यदि किसी तत्व का अभाव होता है तो वह फासफोरस ही होता है। यदि भूमि में चूने का भी अभाव हो तो सुपरफास्फेट के साथ लाइम मिला देने से उपज में अभिवृद्धि हो जाती है। यह मात्रा ५६ पौंड सुपरफास्फेट के साथ २ हन्डरवेट के अनुपात में होनी चाहिए। उपज पर गोबर की खाद कम्पोस्ट तथा खलियों का भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

निराई-गुड़ाई—दाने की फसल में निराई-गुड़ाई अवश्य करनी चाहिए। इससे घास-पात निकल जाते हैं, पौधों की दूरी ठीक हो जाती है और भूमि अधिक खुली तथा अवरोध-परत-युक्त हो जाती है। पंक्तियों में बोई गई फसल की निराई-गुड़ाई निरायकों या बैलों द्वारा चालित यन्त्रों से होती है जब कि छिटकवाँ फसल में हाथ की गुड़ाई खुर्पी या छोटे-छोटे निरायकों द्वारा की जाती है। चारे के खेत में निराई-गुड़ाई आवश्यकतानुसार करनी चाहिए लेकिन साधारणतौर पर जब पौधे दो फीट से अधिक ऊँचाई के होते हैं तो उनमें निराई-गुड़ाई की क्रिया बन्द कर दी जाती है। निराई-गुड़ाई क्रिया से एक लाभ यह होता है कि पौधों में टिलर अधिक संख्या में निकलने प्रारम्भ हो जाते हैं।

कटाई—फसल की कटाई दाने के लिए बालियों के पकने पर की जाती है जो बोआई के तीन-चार महीने पश्चात् सितम्बर,-अक्टूबर, में तैयार हो जाती हैं। चारे की फसलें उसी समय काटी जाने लगती है जब कि पौधे काफी बड़े हो जाते हैं। उनकी कटाई हँसिए की सहायता से की जाती है। दाने की फसलें खलिहान में जमा की जाती हैं और फिर उनकी बालियाँ अलग कर उनकी मड़ाई कर लेते हैं। डन्ठल कुट्टी की मशीन या गँड़ासे द्वारा काट कर पशुओं को खिलाये जाते हैं।

उपज—दाने की उपज औसत रूप में ४½ से ६ मन प्रति एकड़ है। किन्तु उपयुक्त दशाओं में बाजरे का दाना ८ से १० मन प्रति एकड़ प्राप्त हो जाता है। चारे की उपज साइलेज में १०० से ११० मन, हे (Hay) रूप मे ११५ से १२५ मन तथा हरे रूप में १३० से १५० मन तक मिलती है। बाजरे का सूखा चारा १२ से १३ मन प्रति एकड़ है।

उपयोग—बाजरे को अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं। दाना बीज और चावल तथा आटा तैयार करने में काम आता है। इसे भुना कर लावा बनाया जाता है। चावल बनाने के लिए कूट कर भूसी हटा ली जाती है। रोटी बनाने के लिए गेहूँ की भाँति आटा तैयार किया जाता है। डंठल और पत्तियाँ, हरे चारे, सूखे चारे, साइलेज, पाश्चर (Pasture) और हे आदि की भाँति प्रयोग की जाती है। डन्ठल से कभी-कभी छप्पर भी तैयार किया जाता है।

रासायनिक विश्लेषण—बाजरे के दाने में कार्बोहाइड्रेट ६७.१ से ७१.५ प्रतिशत, अल्बुमिनायड ८.६ से ११.६ प्रतिशत, पानी ११.३ से १२.४ प्रतिशत, चर्बी ३.३ से ५.८, रेशे .६ से १.२ और राख १.८ से ७.७ प्रतिशत होता है।

रोग और कीड़े—बाजरे पर अनेक रोगों का आक्रमण होता है जिनमें ग्रेनस्मट और ग्रीनइयर रोग अधिक भयंकर हैं। ग्रेनस्मट टोलीपोस्पोरियम पेनिसिलेरिया (Tolyposporium penicillaria) नामक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसे दूर करने के लिए फसल-चक्र उपयुक्त रखना चाहिए। पौधों के प्रभावित भाग तोड़कर खेत से अलग कर देना चाहिए। बाजरे की रोग अवरोधी जातियाँ उत्पन्न करनी चाहिए। अग्रासेन जी० एन० प्रयोग करना चाहिए। ग्रीनइयर (Green ear) स्कलरोस्पोरा ग्रेमीनिकोला (Sclerospora graminicola) द्वारा पैदा होता है। इसके प्रभाव से बालियों पर दानों की जगह ऐंठी हुई छोटी-छोटी पत्तियाँ निकल आती हैं जिससे उपज बिल्कुल मारी जाती हैं। साधारण अवस्था में पत्तियाँ कम होती हैं किन्तु भयंकर स्थिति में बाली में एक भी दाने नहीं बन पाते। प्रारम्भ में ये पत्तियाँ धवल रंग की होती हैं, परन्तु बाद में भूरी हो जाती हैं। इस रोग की रोक-थाम के लिए प्रभावित बालियाँ या पौधे विनष्ट कर दिये जाने चाहिए। फसल-चक्र का भी प्रभाव पड़ता है। अग्रासेन जी० एन० के भुरकाव से रोग पर काफी रोक लगाई जा सकती है। बाजरे के पौधे पर रस्टरोग का भी प्रभाव पाया जाता है जो पकसीनिया पेनीसेटी फसल में (Puccinia pennisetti) द्वारा उत्पन्न होता है।

साधारण तौर पर बाजरे की किसी भी कीड़े का भयंकर आक्रमण नहीं होता, कुछ कीड़े फसल की क्षति अवश्य करते हैं। इनमें ज्वार का टिड्डा, लाल सिर वाला कैटरपिलर पर हरा बग (green bug) आदि हैं। ज्वार का टिड्डा कोमल पौधों और पत्तियों को चाट जाता है। इसे रोकने के लिए फसल की कटाई के पश्चात्

गहरी जुताई करनी चाहिए। टिड्डों को पकड़कर मार डालना चाहिए। बी० एच० सी० अथवा गैमेक्सीन डी० ·०२५% का भुरकाव करना चाहिए। गैमेक्सीन लकड़ी की राख के साथ १:६ में मिलाकर भुरकी जाय तो अच्छा प्रभाव पड़े। लाल सिर वाले कैटरपिलर (Red headed caterpillar) की रोक-थाम १०% बी० एच० सी० के भुरकाव से की जानी चाहिए। कीड़े पकड़कर हाथ से भी मारे जा सकते हैं। हरा बग भी जो नजारा विरिडुला (Nazara virudula) के नाम से प्रसिद्ध है फसल पर आक्रमण करता है। इसे भी पकड़ कर मार डालना चाहिए। ब्लिस्टर बीटिल (Blister beetle) एक अन्य कीड़ा है जो फसल पर कभी-कभी आक्रमण करता है।

अध्याय १६

सरसों

(Mustard Crops)

सरसों को तेल वाली फसलों में सम्मिलित किया जाता है। इसमें चार फसलें आती हैं जो राई (Brassica juncea), सरसों (Brassica compestris var sarson), तोरियाँ या रेप (Brassica napus) और तारामीरा (Eruca sativa) जिसे धुवाँ तारामिरा या सेहुवाँ के नाम से पुकारते हैं। सरसों की ये चारों किस्में भारतवर्ष में उगाई जाती हैं।

मूलस्थान और इतिहास—सरसों, राई और तोरिया का जन्मस्थान यूरोप बतलाया जाता है। ये वहीं से हिन्दुस्तान लाई गई। सेहुवाँ का मूलस्थान दक्षिणी अफ्रीका है। भारतवर्ष में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर की ओर ये अधिकतर उगाई जाती हैं।

वितरण—सरसों की खेती एशिया में भारत, चीन, जापान, यूरोप के अनेक देशों में, सोवियत रूस और दक्षिणी अफ्रीका में होती है, जिनमें भारत और चीन सरसों और रेप के लिए अधिक सिद्ध हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती उत्तर भारत में पूर्व में आसाम से लेकर पश्चिम में पंजाब तक उगाई जाती है। दक्षिण भारत में मैसूर, मद्रास और आन्ध्रप्रदेश में इसका बहुत कम क्षेत्रफल पड़ता है। पश्चिम भारत में बिहार और राजस्थान में इसे कुछ अधिक परिमाण में उगाया जाता है। १६५६-५७ के अनुमान के अनुसार भारतवर्ष में राज्यों के आधार पर इसका वितरण और उत्पादन इस प्रकार है—

भारतवर्ष में सरसों और रेप (Rape) का अनुमान (१९५६-५७)
(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्रप्रदेश	२	३	५०० से नीचे	५०० से नीचे
आसाम	२	२८०	५६	५१
बिहार	१५३	१७६	१६	२१
बम्बई	७१	७२	१५	१५
जम्मू काश्मीर	५८	५८	१३	५३
मध्यप्रदेश	३५३	३५६	५२	न६
मद्रास	२	२	५०० से नीचे	५०० से नीचे
मैसूर	६	६	१	१
उड़ीसा	१२७	१२७	२१	२१
पंजब	७०७	६६२	१११	१०५
राजस्थन	६३५	६१६	१०६	८७
उ० प्र० अकेले	३५७	४००	५८	४६
मिश्रण	३,४२०	३,२६७	५३६	३८०
योग	३,५९७	३,६६७	५९७	४२६
दिल्ली	४	२	५०० से नीचे	५०० से नीचे
पश्चिमी बंगाल	१९१	२३७	२६	३६
हिमाचल प्रदेश	८	६	१	१
त्रिपुरा	१०	१०	२	२
योग	६,२११	६,३१७	१,०१७	८४८

उपर्युक्त सारिणी से व्यक्त है कि उत्तर प्रदेश सबसे अधिक सरसों उगाने वाला राज्य है । इस राज्य में बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, फर्रुखाबाद, इटावा, मथुरा, बहराइच, सीतापुर, खीरी, कानपुर, बस्ती और गोरखपुर के जिले अधिक प्रसिद्ध हैं ।

भूमि—सरसों की चारों जातियों के लिए मटियार-दोमट भूमि उपयुक्त पड़ती है। अधिकांशतः उसे मिश्रित रूप में बोते हैं। इसलिए मुख्य फसल की भूमि में ही इसे उत्पन्न किया जाता है। दक्षिण भारत की कपास की काली मिट्टी या चिकनी

काली मिट्टी इसके लिए अच्छी नहीं पड़ती। गेहूँ या जौ जिस भूमि में बोये जाते हैं, उसमें इनकी अच्छी उपज प्राप्त की जाती है। चने और मटर के साथ भी इसे बोया जाता है। दक्षिण भारत में इसे रागी की फसल के साथ उत्पन्न किया जाता है। इसके लिए भूमि अम्लीय नहीं होनी चाहिए। उदासीन या थोड़ी बहुत क्षारीय प्रतिक्रिया वाली भूमि उपयुक्त होती हैं। भूमि का PH. ७ से ८ हो तो अच्छा हो।

जलवायु—सरसों की फसलें उत्तर भारत में रबी में उत्पन्न की जाती हैं क्योंकि इन्हें ठंडी जलवायु अधिक प्रिय होती है। तापक्रम का अधिक नीचे गिरना फसल के उपयुक्त बढ़ाव के लिए अच्छा नहीं होता। जब तापक्रम १° सें० के नीचे जाता है तो फसल अपना बढ़ाव बिल्कुल बन्द कर देती है। ओले या बर्फ की वर्षा से फसल को अधिक हानि होती है। फूल आने या दाना बनने के समय पाले का गिरना अधिक हानिकर है। क्योंकि ऐसी स्थिति में दाने गाँठ बन कर (Malformation) ही रह जाते हैं। सरसों की खेती अधिक वर्षा वाले स्थानों पर सफलतापूर्वक नहीं होती। ३०" से ५०" वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर इसकी उपज सतोषजनक प्राप्त की जाती है। बोने के पश्चात् वर्षा का होना बीजों का अंकुरण रोक देता है। बढ़ाव या फूल आने के समय नमी का बढ़ना अनेक रोगों और कीड़ो के आक्रमण को प्रोत्साहन देता है। ऐसी स्थिति में एफिड (Aphids) का आक्रमण प्रायः होता है।

वानस्पति विवरण तथा विभाजन—सरसों के पौधे क्रूसीफेरी (Crucifery) कुल से सम्बन्ध रखते हैं। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इसमें चार किस्में सम्मिलित होती हैं जो सरसों, राई, तोरिया और सेहुवाँ हैं। इन चारों किस्मों का वानस्पतिक विवरण हम पृथक-पृथक प्रस्तुत करेंगे।

सरसों (Brassica campestris var sarson)—इसका पौधा ३-४ इंच लम्बा होता है। पत्तियाँ अर्धरूप से तने से जुड़ी होती हैं जिससे इन्हें राई पत्तियों से सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है। फल राई के फल की अपेक्षा मोटे होते हैं। ये एक ओर से अपनी लम्बाई के आधे या तीसरे अंश में एक चोंच (Beak) से दबे होते हैं। इसके बीज पीले, भूरे, गहरे और काले होते हैं। इनका आकार बड़ा और गोलाकर होता है। बीज की धरातल चिकनी होती है। बीजों में राई की अपेक्षा तेल की मात्रा अधिक होती है। यह मात्रा ३३-४८% तक जाती हैं।

राई (Brassica juncea)—राई का पौधा वार्षिक, सीधा हरा और लगभग ३'-५' की ऊँचाई का होता है। तना गाँठों और पोरसहित होता है, जिसमें

शाखाएँ अधिक संख्या में होती हैं। पत्तियाँ तनों के सहित आकार से निकलती हैं। ये डण्ठल वाली और पिनेंट (Pinniatified) होती हैं। सरसों की भाँति ये आधार को ढकती हुई नहीं निकलतीं। फूल का गुच्छा सिरों पर निकलता है। यह रेसीम (Receme) किस्म का होता है। फलियाँ १-२ इंच लम्बी होती हैं जिनका एक किनारा चोंच के सदृश होता है, बीज गहरे लाल रंग के चिकने और छोटे होते हैं। इनमें तेल का प्रतिशत ३०-३२ तक पाया जाता है। यह फसल सरसों की अपेक्षा तेल की मात्रा कम उत्पन्न करती है। किन्तु इसका प्रचार अपेक्षाकृत अधिक है। इसे राई, सरसों और लाही के नाम से भी पुकारा जाता।

तोरिया या रेप (B. napus)—सरसों की यह फसल अधिक सख्त होती है। इसके पौधे ४-६' लम्बे होते हैं। तनें शाखेदार और पत्तियाँ पिनेट युक्त (Pinnatified) होती हैं जो सरसों की भाँति आधार पर डण्ठल को कुछ ढके रहती है। फलियाँ लम्बी होती हैं। बीज सरसों की अपेक्षा कुछ छोटा, गोलाकार या अंडाकार लाल से भूरे रंग के पाये जाते हैं। इनमें तेल ३३-४६% तक उपस्थित होता है। इसका तेल अपेक्षाकृत अधिक कड़ुवा होता है। इसे पञ्जाब प्रदेश में बहुतायत से उत्पन्न किया जाता है। उत्तर प्रदेश में इसे काला सरसों, लाही या लाहिया नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सेहुवाँ या तरामिरा (Eruca sativa)—यह वार्षिक हरा पौधा है जो दो से चार फीट लम्बा होता है। तने ठोस और रेशे युक्त होते हैं। पत्तियाँ तनों से निकलती हैं। ये डण्ठलयुक्त होती हैं। फूल का गुच्छा रेसीम (Receme) होता है। फूल में परसेचन अधिक प्रचलित है। बीज फलियों में दोहरी कतार में रहते हैं। कभी-कभी फलियों के हर भाग में एक ही कतार पाई जाती है। बीज हल्के लाल और भूरे रंग के चिकनी धरातल वाले तथा अंडाकार होते हैं। तेल की मात्रा ३०-३५% तक पाई जाती है। तेल राई की भाँति ही कड़ुवा होता है।

उन्नत जातियाँ—सरसों की अनेक जातियाँ निकाली गई हैं जो देशी जातियों के स्थान पर अधिक उपज देती हैं। इनमें से कुछ प्रसिद्ध जातियों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

टाइप १०—यह ज्ञाति उत्तर प्रदेश के पूर्वी और मध्य भाग में अधिक सफलतापूर्वक उत्पन्न की ज्ञाती है। ये १५५ दिन में तैयार होती हैं। इनसे उपज १० से १२ मन प्रति एकड़ मिलती हैं। तेल की मात्रा ४५% तक प्राप्त होती है।

लाहा १०१—यह जाति मध्य उत्तर प्रदेश की जलवायु में सफलतापूर्वक उत्पन्न की जाती है। इसके तैयार होने में १५० दिन लगते हैं। तेल का प्रतिशत औसत ४०·५ है।

आर० टी० ११—यह जाति बुन्देल खंड क्षेत्र में अधिक प्रचलित है। इसके तैयार होने में लगभग १४० दिन लगते हैं। उपज प्रति एकड़ १०-१२ मन मिलती हैं। तेल का प्रतिशत ४१ है। इसके पौधे साधारण ऊँचाई के होते हैं।

टा० ४—एल० १६—यह जाति बुन्देलखंड और गोरखपुर के लिए उपयुक्त है।

ई० टी० ३—इसे इटावा क्षेत्र के लिए उपयुक्त बतलाया गया है।

वाई० एस० १५१—यह जाति पश्चिमी तथा मध्य उत्तर प्रदेश के लिए अच्छी पड़ती है। इसके तैयार होने में १६० दिन लगते हैं। उपज १०-१२ मन प्रति एकड़ तक प्राप्त होती है। तेल का प्रतिशत ४५ है।

खेत की तैयारी और बोआई—सरसों की फसल अकेले नहीं बोई जाती बल्कि कुछ अन्य फसलों के साथ मिश्रित रूप में बोई जाती है। ये फसलें गेहूँ, जौ, चना, मटर आदि हैं जिनके साथ इसे प्रायः बोया जाता है। कभी-कभी छोटी-सी क्यारी में इसे तरकारी के लिए अकेले बोया जाता है किन्तु ऐसा कभी-कभी होता है। मिश्रित रूप से बोने के कारण इसकी बोआई मुख्य फसल के साथ ही कर दी जाती है। बीज की मात्रा सरसों की अन्य फसलों के लिए ४-५ सेर और तोरिया के लिए २-२½ सेर प्रति एकड़ लगती है। यदि फसल छिटकवाँ विधि से बोयी जाती है तो पौधों की पारस्परिक दूरी पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता किन्तु अकेले रूप से बोने पर पौधों के बीच आवश्यक दूरी रखी जाती है। विशुद्ध फसल में पंक्तियाँ १½′ से २′ और पौधे ६″ से १२″ की दूरी पर बनाई जाती हैं और इसी प्रकार बोआई भी की जाती है। मिश्रण फसल में सरसों की एक पंक्ति मुख्य फसल की ६ से १५ पंक्तियो के अन्तर पर रखी जाती है किन्तु ६-७ पंक्तियों का अन्तर उत्तम पड़ता है। जब बोआई ६-७ पंक्तियों के अन्तर पर की जाती है तो बीज की मात्रा १२ छटाँक से १ सेर यथेष्ट होती है। फसल जब चारे के लिए बोयी जाती हैं तो बोआई छिटकवाँ ढंग से की जाती है और पौधों की पारस्परिक दूरी का कोई ख्याल नहीं रखा जाता। ऐसी स्थिति में बीज की मात्रा अधिक लगती है।

पंजाब में तोरिया की फसल का लगभग $\frac{3}{4}$ भाग विशुद्ध फसल के रूप में उगाया जाता है किन्तु सरसों और राई की फसलें प्रायः मिलवाँ रूप में ही बोयी जाती है। उत्तर प्रदेश और बिहार में भी इन्हें मिलवाँ फसल की भाँति ही उत्पन्न करते हैं किन्तु उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में लाही और तोरिया को विशुद्ध रूप से भी उगाते हैं। दक्षिण भारत में इसे प्रायः रागी (मडुवा) के साथ तैयार किया जाता है क्योंकि वहाँ इसे खरीफ के मौसम में जून से अगस्त के मध्य तक बोते हैं नमी की उपस्थिति में बीजों का अंकुरण शीघ्र हो जाता है और ४८-५६ घंटों में प्रांकुर दृष्टिगत होने लगते हैं।

सिंचाई—सरसों की फसल ऐसी फसल है जो मिलवाँ फसल के रूप में बोयी जाती है। अतः इसकी पानी की आवश्यकया मुख्य फसल की सिंचाई के साथ ही पूरी हो जाती है। इसकी अलग से सिंचाई नहीं करनी होती। जब अकेली बोयी जाती है तो एक या दो सिंचाइयाँ पर्याप्त होती हैं। दक्षिण भारत में यह खरीफ की फसल के साथ उत्पन्न की जाती हैं। अतः यह पूर्ण रूप से वर्षा के ऊपर निर्भर रहती हैं।

खाद—यद्यपि सरसों की खेती मिलवाँ रूप से ही की जाती है, जिससे इसे अलग से खाद नहीं दी जाती तथापि उपयुक्त खाद देने पर मुख्य फसल के साथ ही इसकी फसल पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे नाइट्रोजन और फासफोरस की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष के अनेक राज्यों में हुए प्रयोगों के अनुसार औसत रूप में ३०-४० पौंड नाइट्रोजन आवश्यक होता है। नाइट्रोजन की यह मात्रा १५० मन गोबर की खाद, ७-८ मन खली अथवा २ मन अमोनियम सल्फेट उर्वरक से पूरी की जाती है। उर्वरकों की उपयोगिता का निरीक्षण करने के लिए पंजाब में लायलपुर और मान्टगोमरी में तोरिया की फसल पर नाइट्रोजन देने वाली जैविक और अजैविक खादों का परिक्षण किया गया जिससे निष्कर्ष निकला कि फसल पर ग्वार की हरी खाद का जितना महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, उतना खलियों, गोबर की खाद अमोनियम सल्फेट तथा सोडियम नाइट्रेट का नहीं पड़ता। इससे अविवृद्धि औसत रूप में २६७ पौंड प्रति एकड़ की हुई। कानपुर में एक प्रयोग के आधार पर यह परिमाण निकाला गया कि नाइट्रोजन की ४० पौंड मात्रा सर्वोत्तम होती है, जो अमोनियम सल्फेट और खलियों या दोनों के मिश्रण से ली जा सकती है। सरसों के ऊपर फासफोरस का भी उत्तेजक प्रभाव पड़ता है। उत्तरप्रदेश में रूद्रपुर में एक प्रयोग हुआ जिसके आधार पर यह कहा गया कि लाही की फसल पर फासफेट उर्वरक के

हल्के खुराक से अच्छा प्रभाव दिखाता है। बिहार में मुँगेर और सिपाया में सरसों की फसल पर फासफोरस की आवश्यकता की जाँच के लिए एक परीक्षण किया गया जिसमें फसल में ३० पौंड फासफोरस सुपर फासफेट के रूप में देने पर उपज में १० पौंड की वृद्धि हुई। तराई क्षेत्र में कई प्रयोगों से यह परिणाम निकाला गया कि लाही की फसल में सुपरफासफेट देने पर उपज में १८% की वृद्धि होती है।

निराई-गुड़ाई—निराई-गुड़ाई की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। मिलवाँ फसल में मुख्य फसल के साथ ही निराई-गुड़ाई हो जाती है। अकेली फसल में दो या तीन गुड़ाइयाँ की जाती हैं। प्रथम गुड़ाई उस समय की जाती है जबकि पौधे ६-७" के हो जाते हैं। इस समय पौधों की दूरी भी ठीक कर दी जाती है। घास-पात के साथ घने पौधे भी उखाड़कर फेंक दिये जाते हैं। निराई-गुड़ाई की अन्य क्रियाएँ आवश्यकतानुसार की जाती हैं।

कटाई—सरसों की फसल जातियों के अनुसार अल्प या दीर्घ समय में तैयार होती हैं। तोरिया अन्य जातियों की अपेक्षा शीघ्र तैयार होती है। यह दिसम्बर में काटने योग्य हो जाती है जब कि सरसों और राई जिन्हें अक्टूब-नवम्बर में बोया जाता है, फरवरी से अप्रैल तक तैयार होती हैं। तरामिरा भी अप्रैल तक तैयार होती है। जब फसल चारे के लिए बोई जाती है तो पौधे ज्योंही बड़े होते हैं, उन्हें काट कर पशुओं को खिलाने लगते हैं। फसल की कटाई हँसिया से की जाती है। बीज वाली फसल खलिहान में लाकर एकत्रित कर दी जाती है और फिर मड़ाई तथा ओसाई करके बीज अलग कर लिए जाते हैं।

उपज—फसल की उपज औसत रूप से ४·६ मन प्रति एकड़ है। उत्तर प्रदेश में १९५४-५५ में यह औसत ४·७६ मन रहा। उचित दशाओं में यह उपज अधिक भी हो सकती है। सरसों अच्छी भूमि और खाद देने पर ८-१० मन, तोरिया ७-८ मन और राई की ५-६ मन प्रति एकड़ मिलती है। यह उपज अकेली फसल के आधार पर है। मिश्रण रूप में बोने पर उपज बोने के ढंग और बीज की मात्रा पर निर्भर करती है।

उपयोग—सरसों का बीज तेल रूप में अधिक प्रयोग होता है। इसका तेल खाने और जलाने के काम में आता है। इसको चिकित्सा पोल्टिस में और प्लास्टर बनाने में प्रयोग किया जाता है। सरसों का प्रयोग मसाले के रूप में भी होता है। तेल अधिक कड़वा पीले रंग का द्रव है। यह इतना कड़वा होता है कि गन्ध से आँखों में आँसू

आ जाता है। रसायनशास्त्र में इसे एलाइल इन्सोथायोसीनेट, एलाइल साइनाइट और कुछ मात्रा में कार्बन बाइ सल्फाइड तैयार किये जाते हैं। डंठल और पत्तियाँ पशुओं द्वारा खाई जाती है। डण्ठल कभी-कभी ईंधन के भी काम में आता है।

रासायनिक विश्लेषण—सरसों में कार्बोहाइड्रेट २४·०, रेशे १·८, चर्बी ३६·६, प्रोटीन २२·०, नमी और खनिज पदार्थ ४·२ प्रतिशत की मात्रा में उपस्थित होते हैं।

रोग और कीड़े—सरसों की फसल पर अनेक रोग और कीड़े आक्रमण करते हैं। रोगों में सफेद रस्ट, डाउनी मिल्ड्यू और ब्लाइट अधिक मुख्य हैं। (१)
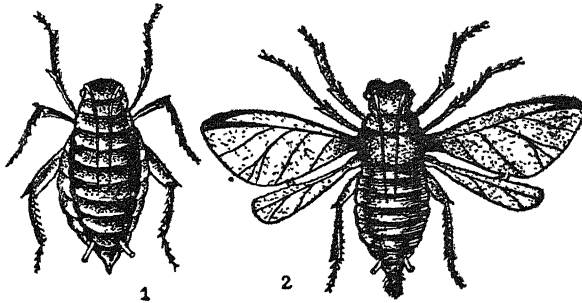
चित्र ६७—शिशु प्रौढ़

सफेद रस्ट सिस्टोपस कैन्डिडस (Cystopus candidus) फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसका आक्रमण सेहुँवा पर प्रायः होता है। इसके आक्रमण से पत्तियों पर सफेद पर्त्तें जम जाती हैं जिसके परिणाम स्वरूप तने या फूल के भाग सूज आते हैं। इन्हें दूर करने के लिए वही उपाय काम में लाने चाहिए जो रस्ट को रोकने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। (२) **डाउनी मिल्ड्यू** इस फसल का दूसरा भयंकर रोग है। यह परनोस्पोरा पैरासिटिका (Peronospora parasitica) फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से तनों पर बिना क्रम की आकृतियाँ बन जाती हैं। उसे सफेद धब्बों के रूप में पत्तियों के निचले धरातल पर देखा जा सकता है। इसका प्रभाव सरसों के अतिरिक्त अन्य फसलों पर भी पड़ता है। (३) **ब्लाइट** आल्टरनेरिया ब्रैसिकी (Alternaria brassicae) द्वारा गत्पन्न होती है। इसका प्रभाव पौधे के हरे भागों

और मुख्यतः फलियों पर होता है। रोग भूरे और काले धब्बे के रूप में होता है। कीड़ों में मुख्य एफिड है जो सरसों की हरी मक्खी के नाम से प्रसिद्ध है।

सरसों की हरी मक्खी (Green mustard fly)—यह कीड़ा साइफोकारिनी इंडोब्रैसिकी (Siphocoryne indobrassicae Das) नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसे एफिडी (Aphidae) कुल में सम्मिलित करते हैं। ये बहुत छोटे कीड़े हैं जिनका रंग हरा होता है। हरे रंग के ही कारण इन्हें हरी मक्खी नाम से पुकारते हैं। कीड़े $\frac{१}{१०}$ इंच से बड़े नहीं होते। प्रत्येक कीड़ा तीन पदयुक्त होता है और रस चूसने के लिए एक चोंच रखता है। मलद्वार से कीड़ा एक प्रकार का द्रव निकालता है जिसे हनी ड्यू (Honey dew) कहते हैं। यह हनी ड्यू पत्तियों पर चिपका रहता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इस पर काले फफूँदी उग आते हैं जो बड़ी तेजी से बढ़ जाते हैं और इस प्रकार पौधों की हानि करते हैं।

कीड़ों का प्रभाव तने, शाखाओं पत्तियों और फलियों पर होता है। ये अपनी चोंच पौधे के तन्तुओं में अन्तर्निवेशित कर देते हैं और वहाँ से रस चूसकर पौधे को दुर्बल बना देते हैं। फल यह होता है कि पौधे दुर्बल और पीले पड़ जाते हैं और धीरे-धीरे सूख जाते हैं। ये कीड़े मूली आदि पर भी धावा बोलते हैं। इनकी रोकथाम के लिए क्रूड आयल इमल्शन, किरासीन तथा तम्बाकू सोप इमल्शन का छिड़काव अच्छा पड़ता है। ४% डी० डी० टी० का भुरकाव भी सफल सिद्ध होता है शीघ्र तैयार होने वाली जातियों के उगाने से इन कीड़ों के आक्रमण का भय कम रहता है। लेडी बर्ड बीटिल (Lady bird beetle) कीड़ा इन कीड़ों का शत्रु है जो सरसों के खेत में पहुँच जाने पर इन मक्खियों को खाना प्रारम्भ कर देते हैं।

अध्याय १७

आलू

(Potato-Solanum tuberosum)

आलू विश्व की खाद्य-फसलों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतवर्ष में इसे अनेक स्थानों पर उगाया जाता है। किन्तु अन्य देशों की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल बहुत ही कम है, फिर भी तरकारी की फसलों में यह सबसे अधिक प्रचलित हैं और साल भर उपलब्ध होती है। इसे अनेक भाषाओं में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है; तामिल भाषा में इसे उरुलकीझाङ्गू, तेलगू में उरुलगादा, कनाड़ी में उरुलगोद और मलयालम में तामिल की भाँति उरुलकीझाङ्गू तथा हिन्दुस्तानी में आलू के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

मूलस्थान—ऐसा विश्वास किया जाता है कि आलू का मूलस्थान दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम घाट के भू-भाग में है जिसमें पेरू और बोलोविया स्थित हैं। चिली के पश्चिमी घाटपर प्रायद्वीप में भी इसके मूलस्थान का अनुमान लगाया जाता है। यूरोप में यह अमेरिका की खोज के पश्चात् लाया गया। भारतवर्ष में इसके आगमन का निश्चित पता नहीं मिलता। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ इसका सर्वप्रथम उल्लेख सन् १६१५ ई० में सर टामसरो को अजमेर में दिये गये प्रीतिभोज के रूप में मिलता है। और संभवत: तभी से इसकी खेती यहाँ प्रारम्भ हुई। आजकल इसे भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर उगाया जा रहा है, पहाड़ों और मैदानी भागों के अतिरिक्त इसे प्रत्येक शहर के निकटवर्ती भूमि में कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य ही पैदा कर लिया जाता है।

वितरण—आलू एक ऐसी फसल है जो विश्व के अधिकांश भू-भागों में जो सर्द और समशीतोष्ण जलवायु के हैं, उत्पन्न किया जाता है। अमेरिका के मध्यवर्ती भागों के अतिरिक्त अन्य भागों में, सम्पूर्ण यूरोप, पूर्वी दक्षिणी अफ्रीका आस्ट्रेलिया और जापान में इसे बहुलता से उत्पन्न किया जाता है। एशिया में बर्मा और उत्तर-प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों तथा मैदानी भागों में जहाँ कि जलवायु अधिक

समशीतोष्ण है, सफलतापूर्वक उत्पन्न किया जाता है। पश्चिमी बंगाल मद्रास और बम्बई भी आलू उगाने वाले राज्य हैं। बम्बई में इसे पूना, धरवार अहमदाबाद और बेलगाँव के निकट पैदा किया जाता है। मैसूर में नीलगिरि की पहाड़ियाँ, बँगलौर और कोलार के जिले इसके लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी बंगाल में दार्जिलिंग, हुगली, बर्दवान, जलपरिगोड़ो और रंगपूर के जिले आलू की खेती के लिए सफल सिद्ध हुए हैं और यहाँ इसे अधिक क्षेत्रफल में उगाया भी जाता है। पंजाब में कुलू और कांगड़ा की घाटियों तथा शिमला के पर्वतीय प्रदेश में इसकी खेती निहित है। उत्तर-प्रदेश में नैनीताल, अल्मोड़ा, और मैसूरी जो पर्वतीय भू-भागों में सम्मिलित होते हैं तथा मैदानी भाग में फर्रुखाबाद, बस्ती, जौनपुर, हरदोई, एवं लखनऊ, कानपुर, एलाहाबाद, बनारस आदि बड़े शहरों के निकट पैदा किया जाता है। भारतवर्ष में आलू का कुल क्षेत्रफल ५७३ हजार एकड़ १९५६-५७ में तथा ५६० हजार एकड़ १९५५-५६ में था। उत्तर-प्रदेश में इसका क्षेत्रफल २३८ हजार एकड़, पश्चिमी बंगाल १०० हजार एकड़, बिहार ९७ हजार एकड़, आसाम ७० हजार एकड़, मद्रास २० हजार एकड़ और बम्बई में १९ हजार एकड़ है। उत्तर-प्रदेश में इसका क्षेत्रफल जिलों के अनुसार इस प्रकार है—फर्रुखाबाद २६,२७८ एकड़, जौनपुर ११,१२८ एकड़, बस्ती ९,६३९ एकड़ और हरदोई ९,५७७ एकड़।

भूमि—आलू की खेती अनेक प्रकार की भूमि में की जाती है, जिनमें दोमट, बलवार दोमट, सिल्ट दोमट और अल्लूवियल भूमि तथा दक्षिण भारत की भूरी, लाल मिट्टियाँ सम्मिलित होती हैं। इन भूमियों में दोमट भूमि विशेष उपयुक्त होती हैं। किन्तु भूमि में यदि वर्षा का पानी जमा हो जाता है और वह क्षारीय गुण रखती है तो उपज अच्छी नहीं होती। अतः भूमि में जल-निकास का सुप्रबन्ध होना आवश्यक है। वह या तो उदासीन हो या कुछ-कुछ अम्लीय प्रतिक्रिया देती हो। भूमि की यह प्रतिक्रिया उस क्षेत्र में अधिक आवश्यक हो जाती है जहाँ स्कैब (Scab) नामक रोग प्रचलित हो। फसल के लिए उथली भूमि अच्छी नहीं पड़ती। भारी भूमि में भी पौधों का बढ़ाव उपयुक्त नहीं हो पाता। नम तथा वायुपूर्ण भूमि में आलू अधिक बैठते हैं।

जलवायु—जैसा कि हमने अभी पढ़ा है, आलू की खेती सर्द से समशीतोष्ण जलवायु में की जाती है। पहाड़ियों पर ग्रीष्म ऋतु की जलवायु उपयुक्त होती है, क्योंकि वहाँ इस ऋतु में भी काफी सर्दी रहती है। मैदानी भागों में इसे उस समय

नहीं उगाया जा सकता क्योंकि यहाँ गर्मी काफी रहती है जो बीजों के अंकुरण तथा अंकुरों के बढ़ाव के लिए उचित नहीं होती। अतः मैदानों में इसे सर्द ऋतु में उत्पन्न किया जाता है। आलू की खेती के लिए ४०° से ६०° फा० का तापक्रम उपयुक्त माना जाता है। इस तापक्रम से अधिक या कम तापक्रम फसल पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। पाले का प्रभाव सम्पूर्ण फसल ही विनष्ट कर देता है। नमी के अधिक बढ़ जाने से रोगों का आक्रमण होता है। अतः इसे औसत नमी ही अच्छी पड़ती है। वर्षा का उपयुक्त विभाजन संतोषप्रद उपज के लिए अधिक वांछनीय है। खेत में पानी का लगना या सूखा पड़ना दोनो ही बातें फसल को क्षतिग्रस्त करती हैं।

वानस्पतिक विवरण—आलू का पौधा सोलेनेसी (Solanaceae) कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका वानस्पतिक नाम सोलेनम टियूबरोसम (Solanum tuberosum) है। इस कुल में तम्बाकू, बैगन, टमाटर आदि फसलें भी सम्मिलित होती हैं।

आलू का पौधा हरे रंग का होता है। यह कभी-कभी सीधा और कभी-कभी झुका हुआ पाया जाता है। वास्तव में जिसे आलू कहा जाता है वह पौधे के भूमिगत तने का फूला हुआ भाग है जो ट्यूबर या स्टोलन (tuber or stolon) कहा जाता है। इस प्रकार तने के दो भाग हो जाते हैं। प्रथम, भूमिगत जो तने का रूपान्तरिक रूप है। इन्हें कुछ लोग जड़ कह देते हैं, जो पूर्णतया गलत है। ट्यूबर में आँखें पाई जाती हैं जिनमें एक पूरा पौधा उत्पन्न करने की क्षमता होती है। अतः इन्हें जड़ नहीं कहना चाहिए। तने का दूसरा भाग एरियल (aerial) होता है जो हरा या पीले रंग का गोले या तिकोने आकार का रस युक्त होता है। इससे शाखाएँ निकलती हैं और शाखाओं से पत्तियाँ निकलती हैं। जड़ें झकड़ादार और छोटी होती हैं। ये पौधे के निकट इधर-उधर फैलती हैं। अधिकांशतः ये ऊपरी धरातल पर ही रह जाती हैं किन्तु कुछ निचले धरातल में २-४′ की गहराई तक चली जाती हैं। पत्तियाँ पिनेट कम्पाउन्ड (Pinnately compound) होती हैं। कभी-कभी इनमें छोटे डंठल की पत्तियाँ भी लगी होती हैं। इनका आकार और रूप जातियों के अनुसार समान नहीं होता। फूल के गुच्छे प्रारम्भिक अक्ष (axis) पर निकलते हैं। किन्तु ये गुच्छे क्रियाशील फूल नहीं उत्पन्न करते। फूल का गुच्छा सघन रेसीमोज (Compact recemose) पाया जाता है किन्तु कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो फूल पैदा ही नहीं करतीं। जो पैदा करती हैं उनके फूल पूर्ण क्रमयुक्त और सफेद से पीले

रंग के होते हैं। फूलों में पराग क्रियाहीन होते हैं, जिससे फल का निर्माण नहीं हो पाता। फूलों में शहद या ऐसी कोई चीज नहीं बनती जिसके कीड़े आकर्षित हों और परसेचन क्रिया सम्पादित हो सकें। स्वयं सेचन से जो बीज उत्पन्न होते हैं, वास्तव में वे पौधा उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखते, यही कारण है कि आलू वानस्पतिक उत्पादन द्वारा ही तैयार किया जाता है।

विभाजन और उन्नत जातियाँ—विदेशो में आलू के विभाजन के अनेक प्रयत्न हुए हैं और वहाँ इसे एक अवस्थित क्रम भी दे दिया गया है किन्तु ये क्रम भारतवर्ष के लिए उपयुक्त नहीं हैं। भारत में आलू की जातियाँ इनी-गिनी हैं और यहाँ इन्हें एक क्रम में रखने का अभी तक कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया।

आलू की गोला, फुलवा, सुर्खा, साठा, कट्ठवा आदि जातियाँ हैं जिन पर हम यहाँ पृथक-पृथक प्रकाश डालेंगे—

१. **गोला**—इस आलू का आकार गोला, औसत, खुर्दरा-छिल्का युक्त भूरे रंग का होता है। इस जाति का बीज देहरादून और क्वेटा में उपलब्ध हो सकता है।

२. **फुलवा**—इस जाति के आलू बारीक छिलके वाले सफेद रंग के होते हैं। इसका आकार गोला, छोटा और सतह चिकनी होती है। इसके ऊपर औसत गहराई की आँखें निकलती हैं। इसके फूल पीले रंग के हैं। इस जाति के तैयार होने में ९० से १५० दिन लगते हैं। इसकी बोआई सितम्बर के अन्तिम सप्ताह से अक्टूबर के मध्य तक की जाती है। यह उपज अधिक देने वाली जाति है। इसे बिहार के पटना जिले और उत्तर-प्रदेश में फर्रुखाबाद में अधिकता से उत्पन्न किया जाता है इसे पश्चिमी बंगाल और पंजाब में भी उत्पन्न किया जाता है।

३. **सुर्खा**—इस जाति का नाम सुर्ख रंग के होने के कारण ही पड़ा है। यह वास्तव में दार्जिलिंग जाति है जो पटना में बहुत दिनों से पैदा की जा रही है। इसी कारण इसे लोग कभी-कभी पटना जाति भी कहते हैं। यह औसत आकार की गुलाबी छिलके वाली जाति है जो मैदानी भागों में अधिकता से उत्पन्न की जाती है। इस पर माथ (moth) का आक्रमण नहीं होने पाता किन्तु ऊँचे तापक्रम से फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

४. **साठा**—यह जाति बारीक छिलके वाली सफेद और गोले आकार की जाति है जिसे अधिक आनन्द से खाया जाता है। पौधे छोटे झाड़ीदार होते हैं। इसे

सितम्बर के मध्य से अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक बोया जाता है। इसके तैयार होने में ६०-७५ दिन लगते हैं यह बिहार राज्य में बिहार सरीक और गया क्षेत्र में अधिक प्रचलित हैं।

५. **कटवा**—यह दार्जिलिंग या पहाड़ी जाति है, इसमें आलू की आँखें काट ली जाती हैं और खेत में आँखें ही बोई जाती हैं। इस जाति को नायका या नाई जाति भी कहते हैं।

६. **नैनीताल**—यह जाति पहाड़ी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त पड़ती है। इसकी उपज अधिक मिलती है। ट्यूबर बड़े, सफेद, बारीक और चिकने छिलके वाले होते हैं। आँखें अधिक विकसित होती हैं। इसकी बोआई देर में नवम्बर के पहले या दूसरे सप्ताह में होती है और कटाई मार्च में की जाती है।

आलू की फसल मैदानी और पहाड़ी रूप के हिसाब से दो वर्गों में विभाजित की जाती है। मैदानी जातियाँ पुनः दो उप वर्गों में विभक्त होती हैं—अल्पकालिक और दीर्घकालिक। अल्पकालिक मैदानी जातियाँ ६०-से ८० दिनों में तैयार हो जाती हैं। इन्हें सितम्बर के मध्य में बोकर नवम्बर के मध्य में काट लिया जाता है। स्थानीय साठा जाति इसी उप वर्ग में आती हैं। इसके अतिरिक्त ओ० एन० २१८६, २२३६ और २२५३ भी हैं। दीर्घकालिक जातियों में स्थानीय फुलवा (पटना सफेद) और दार्जिलिंग रेडराउन्ड तथा ओ० एन० ४५,१२०२, १३३७, १३६० और २२८७ हैं। इनकी उपज अल्पकालिक जातियों से १०-२०% अधिक मिलती है। ट्यूबर बड़े आकार के होते हैं और पौधों का बढ़ाव बहुत अधिक होता है। पहाड़ी जातियों में संकर ८६, और १२, ओ० एन० ६७८, १३६२, तथा २०६० हैं। २०६० जाति नीलगिरि के पहाड़ी भाग के लिए विशेष उपयुक्त होती है। मजेस्टिक, अपटूडेट, डेलवारी, गरूर आदि जातियाँ उत्तर प्रदेश की पहाड़ी भागों के लिए हैं।

खेत की तैयारी—खेत की तैयारी अल्प या दीर्घकालिक फसलों के अनुसार की जाती है। आलू की फसल को भली-भाँति तैयार खेत की आवश्यकता होती है, जिसमें बड़े-बड़े ढ़ेले न हो और न घास-पात ही हो। खेत की जोत अच्छी हों और भूमि काफी भुरभुरी हो। खेत की जुताई सितम्बर में प्रारम्भ की जाती है। उस समय खेत एक या दो बार मिट्टी पलटने वाले हलों से जोत दिया जाता है। तत्पश्चात् देशी हल या स्प्रिंग टूथ हैरो की आर-पार की जुताइयाँ की जाती हैं। भूमि को भुरभुरा बनाने के लिए पाटा या बेलन चलाया जाता है। जब खेत भली-भाँति तैयार हो जाता

है तो कूँड़ बना लिए जाते हैं। इसके लिए देशी हल, फरोवर (Furrower) या कल्टीवेटर प्रयोग किये जाते हैं। इससे कूँड़ और मेंड़ बनाकर बीज की बोआई की जाती है। सिंचाई की सुविधा के लिए पूरा खेत ६' की चौड़ाई में लम्बाई से अनेक भागों में बाँट लिया जाता है और सिंचाई की नालियाँ भी बना ली जाती हैं। ६' चौड़े खेत पुनः १८" से २४" की दूरी पर मेड़ों और कूँड़ों में बाँट लिए जाते हैं। कूँड़े और मेंड़ सिंचाई की नालियों पर लम्ब रूप में रहते हैं ताकि इनकी सिंचाई कूँड़ों की सहायता से सरलता पूर्वक हो जाय।

बोआई—आलू की बोआई स्थान-स्थान पर अल्पकालिक और दीर्घकालिक जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न समय में होती है। उत्तर प्रदेश में अल्पकालिक जातियाँ १५ अक्टूबर से ३० अक्टूबर तक और दीर्घकालिक जातियाँ अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह से १५ नवम्बर तक तथा बिहार में अल्पकालिक जातियाँ सितम्बर के अन्तिम सप्ताह से अक्टूबर के मध्य तक और दीर्घकालिक जातियाँ अक्टूबर के तीसरे सप्ताह से नवम्बर के तीसरे सप्ताह तक बोई जाती है। पहाड़ों पर आलू की बोआई फरवरी से मई तक की जाती है। बोआई कूँड़ों में या लगभग ४" ऊँची मेड़ों पर होती है। ये कूँड़े या मेड़ १६"-२४" के अन्तर पर बने होते हैं जिनमें ट्यूबर ६"-६" और कटुआ आलू ४-५' की दूरी पर बोये जाते हैं। आलू के बीज स्वस्थ बड़े उन्नत जाति के रोग रहित और सुदृढ़ होने चाहिए। बोआई २-३" की गहराई पर की जाती हैं और तत्पश्चात् बीजों को मिट्टी से ढक दिया जाता है। बीज की मात्रा अल्पकालिक जातियों में ५-६ मन और दीर्घकालिक जातियों में ७-८ मन लगती है। जब कटुवा आलू प्रयोग किये जाते हैं तो ३-४ मन बीज ही एक एकड़ के लिए प्राप्त होता है। कटुवा आलू में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक टुकड़े में कम से कम दो आँखें हों। देर की बोआई में अल्पकालिक फसलों के बीज नहीं प्रयोग करने चाहिए क्योंकि प्रत्येक प्रौढ़ बीज एक निश्चित काल के लिए सुसुप्तावस्था में होते हैं और इस अवस्था में यदि उन्हें बो दिया जाय तो उनका अंकुरण कदापि नहीं हो सकता। इसलिए इस बोआई के बीज पहाड़ों से मँगाये जाते हैं। विज्ञान की प्रगति ने कुछ ऐसे रसायन तैयार कर लिए हैं जिनसे ट्यूबर की सुसुप्तावस्था तोड़ी जा सकती है और उनका अंकुरण भी संतोषजनक हो सकता है। कृषकों में साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि वे छोटे बीज ही बोआई में प्रयोग करते हैं। किन्तु अनुभव से ऐसा विदित हुआ है कि इनसे अच्छी उपज नहीं मिल पाती और अच्छी जातियाँ भी अपना

गुण खो बैठती हैं और उनकी प्रवृति छोटे आकार के ट्यूबर उत्पन्न करने की ओर ही हो जाती हैं।

सिंचाई—मैदानी भागों में जहाँ आलू की खेती शीत काल में होती हैं। अधिक सिंचाइयों की आवश्यकता होती है। प्रायः आलू की फसल के लिए ५-८ सिंचाइयाँ यथेष्ट होती हैं, किन्तु यदि भूमि अधिक नम रहती हैं तो ३-४ सिंचाइयाँ ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकती हैं। जाड़े के दिनों में दो सिचाइयों का अन्तर १५-२० दिन रखना चाहिए। किन्तु शुष्क दिनों में यह अन्तर कम करके ५-७ दिनों का रक्खा जाता है।

खाद—आलू की फसल अधिक खाद चाहने वाली फसल है। इसे ६०-१२० पौन्ड नाइट्रोजन, ६० पौन्ड फासफोरस और ४० पौन्ड पोटाश की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गोबर की खाद, कम्पोस्ट, खलियाँ हरी खाद या उर्वरक प्रयोग किए जाते हैं। जुताई के समय भली-भाँति सड़ी गोबर की खाद ५० गाड़ी प्रति एकड़ के हिसाब से दी जाती है और जुताई करके उसे खेत में भली-भाँति मिला दिया जाता है। खलियाँ १०-१५ मन प्रति एकड़ मन के हिसाब दी जाती है। यदि आलू की फसल में हरी खाद का प्रयोग किया जाय तो सनई या ढैंचा की बोआई आलू की बोआई के ४-६ सप्ताह पूर्व कर देनी चाहिए ताकि वह बीजों के अंकुरण के समय तक उपलब्ध हो सके। उर्वरकों में अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट और पोटैशियम परमैंगनेट प्रयोग किए जाते हैं। इन्हें १५० से २०० पौन्ड+३०० पौन्ड+१०० के हिसाब से मिला कर २ या ३ बार में फसल में दिया जाता है। प्रायः इनका प्रयोग पौधों पर मिट्टी चढ़ाने के समय ही करते हैं।

निराई-गुड़ाई—आलू की फसल में मिट्टी की चढ़ाई (Earthing up) की क्रिया की जाती है। इस क्रिया में मिट्टी मेड़ के दोनों ओर से उठा कर पौधो के जड़ों के पास लगा दी जाती है। यह क्रिया भूमि की उर्वरता, सिंचाई की उपलब्धता आदि के अनुसार १४-२१ दिन के अन्तर पर की जाती है। मिट्टी की पहली चढ़ाई पौधों के ६"-८" ऊँचे हो जाने पर की जाती है। इस क्रिया से आलू बड़े-बड़े होते हैं और उन्हें अधिक सुरक्षा मिलती है। यह क्रिया कुदाली, फावड़े, फरोवर या डबल मोल्ड बोर्ड हल से की जाती है। पूरी फसल में २-३ मिट्टी की चढ़ाइयाँ की जाती हैं।

कटाई—आलू की कटाई उस समय की जाती है जब कि ट्यूबर पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाते हैं। परिपक्व होने पर उनके छिलके मोटे और कड़े हो जाते हैं जिससे वे शीघ्र क्षतिग्रस्त नहीं हो पाते। क्षतिग्रस्त ट्यूबर अधिक समय तक रक्खे नहीं जाते, उन्हें शीघ्रातिशीघ्र बेच डालना चाहिए। अल्पकालिक जातियाँ ६-७ सप्ताह में खोदी जाती है, किन्तु कभी-कभी बाजार के भाव के अनुसार उन्हें पहले भी खोदना प्रारम्भ कर देते हैं। दीर्घकालिक जातियाँ मार्च से अप्रैल तक खोदी जाती हैं जब कि उनकी पत्तियाँ पीली पड़ कर सूखने लगती हैं। उन्हें खोदने के पश्चात् पत्तियों या एरीयल तनों (Aetial Shoot) से पृथक कर लिया जाता है। कटाई में ट्यूबर को क्षतिग्रस्त होने से बचाया जाता है क्योंकि ऐसे ट्यूबर थोड़े समय तक भी भण्डार-घर में नहीं रक्खे जा सकते। अपरिपक्व ट्यूबर भी गर्मी और हवा के प्रभाव से सूखने लगते हैं जिससे बाजारों में उनका भाव घट जाता है। फसल की खुदाई खुर्पी, कुदाली, देशी हल या पोटेटो डिगर (Potato digger) से की जाती है।

उपज—आलू की औसत उपज २५० से ३०० मन प्रति एकड़ है। इसकी अच्छी उपज ३५० से ४०० मन प्रतिएकड़ तक भी प्राप्त हुई है। मैसूर में इसकी अधिकतम उपज ५०० मन तक प्राप्त की गई है। सीमित क्षेत्र में यह उपज और भी बढ़ जाती है तनों और पत्तियों की उपज १२५-१५२ मन एकड़ है।

आलू का भन्डारण—खुदाई के पश्चात् ट्यूबर जिन्हें भन्डार घर में रखना होता है, उन्हें धूप और छाँह में बारी-बारी से सुखा लिया जाता है ताकि ट्यूबर की आवश्यक नमी सूख जायँ। आलू के भन्डारण के कई ढंग प्रयोग होते हैं। (१) पहला ढंग यह है कि गोदाम या आढ़त में बारीक या मोटे बालू रख दिये जाते हैं और उन पर इन्हें फैला दिया जाता है। कभी-कभी बाँस के रेक बना लिए जाते हैं और उन पर आलू की टोकरियाँ रख दी जाती हैं। दूसरी विधि गड्ढों में रखने की है। इसके लिए ६'×४'×४' नाप के गड्ढे बना दिये जाते हैं और उन्हीं में आलू रख दिया जाता है। शीतागार में भन्डारण अच्छा पड़ता है, जहाँ हवा और तापक्रम पर नियंत्रण रक्खा जाता है। यह ढंग भारतवर्ष ऐसे देश के लिए महँगा अवश्य हैं किन्तु यदि सरकार इनका प्रबन्ध करें तो अधिकांश आलू विनष्ट होने से बच जायँ। हमारे किसान भन्डारण के प्रथम ढंग ही प्रयोग में लाते हैं जिसमें ४०-६०% की हानि होती हैं।

चुनाई—भण्डारण के पूर्व आलू को आकार, रूप, रंग, उपज, रोग निरो-

धक शक्ति आदि के अनुसार छाँट लेना चाहिए जिससे एक जाति दूसरे में मिलने न पावे।

उपयोग—आलू का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। भोजन में इसे तरकारी के काम में लाया जाता है। आलू का स्टार्च अधिक महत्वपूर्ण है। इससे डेक्स्ट्रीन, ग्लूकोज, अल्कोहल आदि बहुमूल्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। ६ टन की आलू की फसल से लगभग १½ टन स्टार्च तैयार हो सकता है जब कि गेहूँ या चावल से इतना नहीं प्राप्त किया जा सकता। भोजन में काम आने के अतिरिक्त आलू अनेक अर्थों में प्रयोग होता है, इसका आटा बनता है, और मिठाइयों (Confectionary) में प्रयोग किया जाता है। आलू का डिहाइड्रेसन (dehydration) किया जाता है। इससे अनेक प्रकार की सूखी या टुकड़ों में कटी हुई नमकीन वस्तुएँ बनाई जाती हैं। ट्यूबर पशुओं को खिलाने के काम में भी आता है। पत्तियाँ पशुओं को खिलाने अर्थ में प्रयोग होती है। आलू का फरीना (Farina) जो स्टार्च है, धोबियों के घरों में प्रयुक्त होता है। यद्यपि वे चावल का स्टार्च अधिकांशतः प्रयोग करते हैं, किन्तु अब इसकी भी माँग अधिक हो चली है। सूती कारखानों में फरीना अधिक प्रयोग किया जाता है। फरीना की पूर्ति के लिए विदेशों से आयात करना पड़ता है जिसका प्रतिवर्ष मूल्य ६½ लाख रुपया है।

रासायनिक विश्लेषण—आलू का रासायनिक विशलेषण इस प्रकार है :— नमी ७५%, कार्बोहाइड्रेट २०·६, अल्बुमिनायड २·१%, चर्बी ०·३%, क्रूड रेशे १·१% और राख ०·६%।

रोग और कीड़े—आलू की फसल पर अनेक प्रकार के रोगों और कीड़ों का आक्रमण होता है, जिनसे प्रतिवर्ष कृषक को कुछ न कुछ हानि उठानी पड़ती है। रोगों में मुख्य लेटब्लाइट, अर्ली ब्लाइट, बैक्टीरियल विल्ट, वायरस रोग आदि हैं, जिन पर हम यहाँ पृथक-पृथक प्रकाश डालेंगे।

१. **लेट ब्लाइट** (Late blight)—यह रोग फाइटोप्थोरा इन्फेस्टन (Phytopthora infestons) नामक फँफूदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसके आक्रमण से पत्तियों से निचले धरातल पर सफेद धारीदार गोले (Rings) निकलते हैं जो कोनिडियोफोर होते हैं। रोगों का प्रभाव पत्तियों तक ही सीमित नहीं रहता। अधिक नम और बूंदा-बाँदी तथा कुहरे के मौसम में भयंकर आक्रमण हो जाता है। भयंकर स्थिति में पौधे के वायुगत सभी अंग तो प्रभावित होते ही हैं, भूमि गत अंग पर भी

प्रभाव पहुँच जाता है। रोग पूरे पौधे को क्षतिग्रस्त कर देता है। यदि प्रभावित पौधे के छिल्के काटे जायँ तो उनके नीचे एक प्रकार के रस्ट की धारियाँ पाई जाती हैं। इसे रोकने के लिए प्रामाणिक बोर्डोमिश्रण, पेरेनाक्स, बरगन्डी मिश्रण आदि का प्रयोग करना चाहिए। कापरसल्फेट (एनहाइड्रस) और बुझा हुआ चूना १ और ४ के अनुपात में मिलाकर २० पौंड प्रति एकड़ की मात्रा में भुरका जाता है। रोगरोधी जातियों में मैजेस्टिक, ओ० एन० २२३६ और संकर ६ का प्रयोग करना जादिए।

२. **अर्ली ब्लाइट** (Early blight)—आलटरनेरिया सोलानी (Alternaria soloni) नामक फफूँदी इस रोग को पैदा करता है। इसके आक्रमण में छोटी गहरे रंग की धारियों से ढके हुए पीले-भूरे धब्बे पत्तियों पर उत्पन्न हो जाते हैं। इस रोग का प्रभाव गंगा-सिन्धु के मैदान तथा नीलगिरि की पहाड़ियों पर अधिक होता है। इसकी रोक-थाम के लिए बोर्डोमिश्रण का छिड़काव करना चाहिए। उपयुक्त खाद से भी इस रोग की रोक-थाम की जा सकती है।

३. **वैक्टीरियल विल्ट या रिंगरोग** (Bacterial ring or ring disease) यह रोग एक प्रकार के बैक्टीरिया वेसीलस सोलेनेसियेरम (Bacillus solanacearum) द्वारा उत्पन्न होता है। इसका प्रभाव मैदानी और पहाड़ी दोनों भागों में पाया जाता है। इसके आक्रमण से पौधे मुरझाने लगते हैं और बाद में इस प्रकार सूख जाते हैं, जैसे वे जड़ से काट दिये गये हों। प्रभावित पौधे के ट्यूबर पर भूरे रंग की अगूँठी बन जाती है। इस रोग को उत्पन्न करने वाला जीव तम्बाकू की फसल पर भी आक्रमण करता है। इसकी रोक-थाम के लिए प्रभावित फसल के बीज कदापि न प्रयोग करना चाहिए। उत्तम फसल-चक्र के प्रयोग से भी रोग की रोक-थाम की जा सकती है। इस फसल-चक्र में आलू के कुल के पौधे नहीं प्रयोग करना चाहिए।

४ **स्कैब** (Scab)—इस रोग का प्रभाव आलू के ट्यूबर के बाहरी छिल्के पर पड़ता है जिससे यह सूख जाता है और धब्बे युक्त बन जाता है। इसकी रोंक-थाम के लिए मरक्यूरिक क्लोराइड का प्रयोग करना चाहिए। इसकी ४ औंस की मात्रा २५ गैलन पानी में दी जाती है और बीज इस घोल में १० मिनट तक डुबा दिये जाते हैं। १० मिनट पश्चात् उन्हें निकालकर सुखा लिया जाता है।

५. **वायरस रोग** (Virus disease)—आलू की फसल पर वायरस रोग का प्रभाव भी पड़ता है, जिनसे मोजेक और लीफराल (mosoic and leaf roll) नामक रोग उत्पन्न होते हैं। उनकी रोक-थाम के लिए प्रभावित पौधे इस सावधानी

से उखाड़ कर खेत से बाहर कर दिये जाते हैं कि अन्य स्वस्थ पौधों का स्पर्श न हो।

इन रोगों के अतिरिक्त फसल पर कुछ अन्य रोगों का प्रभाव भी पड़ता है जिनमें राइजोक्टोनिया और लीफब्लाच (Rhizoetonia leaf and blotah) कुछ अधिक महत्व के हैं।

कीड़ों में मुख्य आलू का कटुवा (Potato moth) हरा बग (green bug) आदि हैं। कटुवा कीड़ा (Phthorimaea oprulella z) उत्तर भारत में अधिक पाया जाता है। इसकी रोक-थाम के लिए अल्पकालिक जातियाँ बोनी चाहिए। सिंचाई और मिट्टी की चढ़ाई समय पर करनी चाहिए। फसल की खुदाई करने के पश्चात् ट्यूबर ढक कर रखना चाहिए है भण्डारघर में बालू से साथ-साथ कुछ लहा-सुन भी रखना चाहिए क्योंकि इससे कीड़े भाग जाते हैं। हरा कीड़ा जो नजारा-विरिडुला (Nazara viridula) के नाम से प्रसिद्ध है, फसल पर सम्पूर्ण भारत में मैदानी और पहाड़ी दोनों क्षेत्रों में आक्रमण करता है। इसका प्रौढ़ हरे रंग का लगभग ⅘" की लम्बाई का कीड़ा है जो पौधे का सेप चूस कर पौधे को निर्बल बना देता है। इसकी रोक-थाम के लिए पाइरेथ्रूम का भुरकाव करना चाहिए। कभी इसे २½% निकोटीन चूर्ण के साथ मिलाकर भी भुरका जाता है। लम्बा फसल-चक्र और स्वच्छ खेती का भी कीड़ों की रोक-थाम पर प्रभाव पड़ता है।

अध्याय १८

दाल और तेल वाली अन्य फसलें

सोयाबीन (Soyabean-Glycenemax)

सोयाबीन की फसल दाल वाली फसलों में सम्मिलित होती है और इनमें अपने गुणों के कारण एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी खेती विश्व के अनेक भू-भागों में होती है। इसे पूर्वी एशिया का देशीय पौधा बतलाया जाता है क्योंकि इससे मिलता-जुलता एक जंगली पौधा चीन के कुछ भागों में उगा हुआ पाया जाता है। जंगली पौधे की आदत लपट कर चलने वाली होती है। सोयाबीन की फसल आजकल संयुक्त राज्य, अमेरिका अर्जेन्टाइना, आस्ट्रेलिया, मंचूरिया, उत्तरी चीन, जापान , कोरिया और भारतवर्ष में होती है। भारतवर्ष में यह हिमालय की पहाड़ियों में तराई क्षेत्र में उत्पन्न की जाती है, जहाँ इसे मुख्यतः दाल के लिए उगाया जाता है। चीन तथा जापान में यह तेल देने वाली फसल है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका प्रयोग मुख्यतः प्रोटीन के लिए किया जाता है। भारतवर्ष में इसकी खेती अभी सीमित क्षेत्रों में ही होती है। मैदानी भागों में इसे चारे की फसल के रूप में उगाया जाने लगा है, क्योंकि यह पशुओं के लिए स्वादिष्ट चारा प्रदान करती है। भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। दाल और तरकारी में भी इसका प्रयोग बढ़ चला है और आशा की जाती है कि इसके गुणों के कारण थोड़े ही दिनों में इसका क्षेत्रफल अधिक बढ़ जायगा।

सोयाबीन का वैज्ञानिक नाम ग्लाइसीन मैक्स (Glycene max) है। इसका पौधा हरा, सीधा और वार्षिक होता है। यह १½ फीट से ६ फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। तना शाखा-युक्त होता है जो झाड़ी के आकार का दिखलाई देता है। तने तथा शाखाओं पर छोटे-छोटे रोएँ जमे होते हैं। पत्तियाँ बड़ी-बड़ी त्रि-दलीय ट्राइफोलिएट (Trifoliate) तीन लीफलेट वाली होती हैं। कुछ जातियाँ अपनी पत्तियाँ पूर्ण परिपक्वता के समय तक गिरा देती हैं। किन्तु कुछ पकने के समय

तक स्थिर रखती हैं। फूल सफेद या पीले रंग के निकलते हैं जो छोटे कोणीय रेसीम पर होते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार इन फूलों में स्वयम्सेचन ही प्रधान है, किन्तु कभी-कभी परसेंचन भी हो जाता है। बीज फलियों में होते हैं, फलियाँ १"-२½" लम्बी होती हैं जिनमें दो या दो से अधिक बीज उपस्थित रहते हैं। फलियों पर भी छोटे-छोटे रोएँ पाये जाते हैं। बीज पीले, हरे, काले या भूरे रंग के होते हैं।

सोयाबीन की अनेक उन्नत जातियाँ तैयार की गई हैं। उत्तर प्रदेश में उन्नत जातियाँ निकालने का कार्य सन् १६३५ ई० से प्रारम्भ हुआ। इसी समय संयुक्तराज्य अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में भी इसकी उन्नत जातियाँ निकालने का कार्य शुरू किया गया है। इन कार्यों के फलस्वरूप अनेक जातियाँ निकलीं। कानपुर में दो जातियाँ निकाली गईं। प्रथम अल्पकालीन जातियाँ जो शीघ्र तैयार होने वाली हैं और बोने के लगभग ४ सप्ताह पश्चात् फूल पैदाकर देती हैं। इनके तैयार होने में पूरा समय तीन महीने से ५ महीने तक लगता है। कमायूँ और गढ़वाल जिले में इनके तैयार होने में १२५-१३० दिन लगते हैं। दूसरी जातियाँ दीर्घकालीन हैं जिनमें बोआई के लगभग १३ सप्ताह पश्चात् फूल निकलने हैं और फसल के तैयार होने में लगभग २२ सप्ताह लगते हैं। पहाड़ी भागों में टाइप ३, टाइप ६, और टाइप १० को अकेली फसल की भाँति बोने की सिफारिश की गई है। ये अक्टूबर के पहले सप्ताह तक तैयार हो जाती है।

सोयाबीन के लिये दोमट भूमि अधिक उपयुक्त होती है। इसे भारी दोमट भूमि में भी उत्पन्न किया जाता है। हल्की दोमट भूमि सोयाबीन के लिए सर्वश्रेष्ठ होती है। इसके खेत में जल-निकास के अभाव का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि पानी के जमा रहने पर भी यह अच्छी उपज दे सकती है। यह फसल शीत-जलवायु अधिक पसन्द करती है। इसे पहाड़ों पर ४,००० फीट से ७,००० फीट की ऊँचाई पर भी उत्पन्न किया जाता है। यह एक खरीफ की फसल है जो जून के मध्य में बोकर अक्टूबर तक काट ली जाती है। दीर्घकालिक जातियाँ अधिक सर्दी के कारण नवम्बर-दिसम्बर तक तैयार होती हैं।

खेत की तैयारी साधारण ढग से की जाती हैं। इसे अधिकांशतः मिश्रण रूप से उगाया जाता है। मिश्रित फसलें मडुवा, काकुन आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। जब इसे मिश्रित रूप में बोते हैं तो तैयारी मिश्रित फसल के लिए ही की जाती है। अकेली बोने पर इसके लिए तीन-चार जुताइयाँ पर्याप्त होती हैं। बीच में पाटा दे दिया जाता

है जिससे मिट्टी भुरभुरी हो जाय। जब खेत भली-भाँति तैयार हो जाता है, तो बोआई छिटकवाँ रूप से या पंक्तियों में कर दी जाती है। जब बोआई पंक्तियों में की जाती है तो इनकी आपस की दूरी १½ फीट से २ फीट तक होती है। छोटे आकार के बीजों की मात्रा प्रति एकड़ २५ पौंड लगती है किन्तु जब बीज बड़े होते हैं तो यह मात्रा ४० से ६० पौंड लग जाती है। चारे के लिए लगभग ६० पौंड छोटे बीज की आवश्यकता होती है। बोआई के पश्चात् फसल पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। आवश्यकता समझ कर एक या दो निराई कर दी जाती है।

फसल के तैयार होने पर कटाई प्रारम्भ कर दी जाती है। दाने की कटाई उस समय की जाती है जबकि फलियाँ पक जाती हैं, किन्तु इनके अधिक पकने से चिटकने का भी डर रहता है। अतः इनकी कटाई उसी समय की जाती है। जबकि फलियाँ परिपक्व हो जायँ। कटाई के पश्चात् खलिहानों में लाकर मड़ाई की जाती है। चारे की फसल हरी अवस्था में ही काट ली जाती है और पशुओं को खिलाई जाती है। हरी खाद के लिए उसकी पल्टाई उसी समय की जाती है जबकि पौधों में फूल आ जाय।

सोयाबीन की उपज ४-५ मन से १०-१२ मन तक मिलती है। कभी-कभी १,५०० पौंड प्रति एकड़ भी उपज प्राप्त की जाती है, किन्तु ऐसा अधिक उपयुक्त स्थिति में ही होता है। उर्द या मूँग की फसलें इसमें आधी ही उपज दे पाती हैं।

सोयाबीन के बीज में प्रोटीन का प्रतिशत बहुत अधिक पाया जाता है। इसलिए इसे भोजन में महत्वपूर्ण स्थान मिलता है। इसके दाने से तेल निकाला जाता है और तरकारी बनती है। चारा पशुओं को खिलाने के काम आता है। इससे आटा भी तैयार किया जाता। ग्लीसरीन साबुन, वार्निश आदि तैयार करने में भी सोयाबीन से सहायता ली जाती है।

माथ या मोथ (moth—Phaseolus aconitifolius)

माथ की फसल फलीदार फसलों में से एक है। इसे दाल और चारे के लिए उत्पन्न किया जाता है।भारतवर्ष में इसके जंगली पौधे भी प्राप्त होते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि इसका मूलस्थान हिमालय से लेकर लंका तक ही कहीं है। इसे इसी देश से संयुक्तराज्य अमेरिका और चीन आदिदेशों में पहुँचाया गया। आज यह फसल विश्व के अनेक भागों में उगाई जाती है। भारतवर्ष में इसे बम्बई, पंजाब राजस्थान और उत्तरप्रदेश में अधिकता से उगाया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम फेजिओलस एकोनिटिफोलियस (Phaseolus aconitifolius) है।

माथ का पौधा वार्षिक और हरा होता है, इसका तना भूमि पर रेंगता हुआ चलता है जिससे भूमि पर यह एक प्रकार की चटाई-सा बना देता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में इसके ही समान एक मैटबीन (Matbean) फसल है। इसका तना लगभग एक फुट की ऊँचाई का होता है किन्तु भूमि पर यह आधार के इधर उधर २-३″ तक फैला होता है। यह अंगूर की लताओं की भाँति शाखाएँ उत्पन्न करता है। निचली शाखाएँ भूमि पर पड़ी होती हैं और ऊपरी शाखाएँ ऊपर की ओर सिरा किए होती है। पत्तियों में तीन लीफलेट होते हैं जिनमें से प्रत्येक ३ से ५ भागों मे विभक्त हाते हैं। इसकी पत्तियाँ एकोनाइट (Aconite) पौधे की भाँति होती है जिसके आधार पर इसे एकोनाइट पत्तियों वाला सेम कहते हैं। इसके फूल एक डंठल पर होते हैं। किन्तु व्यक्तिगत फूल का डंठल बहुत छोटा होता है। इसके फूल में स्वयंसेचन अधिक होता है। परसेचन यदा-कदा ही होता है। फलियाँ एक से दो इंच लम्बी पाई जाती हैं जिनमें बीज पड़े होते हैं।

फसल प्रायः खरीफ में उगाई जाती है। इसे साधारणतः वर्षा के आधार पर ही उत्पन्न किया जाता है। कुछ स्थानो पर इसे सिंचित रूप में भी उगाते हैं, किन्तु ऐसा बहुत कम हाता है। इसमें सूखा सहन करने की असाधारण क्षमता होती है। साथ ही अति वृष्टि से फसल को हानि भी पहुँचती है। इसे हल्की और निर्धन भूमि में उगाया जाता है। हल्की बलुवार भूमि उसके लिए अधिक उपयुक्त होती है।

मोथ की खेती मिश्रित रूप में ही अधिकतर की जाती है। इसे उर्द और मूंग की भाँति खरीफ में बहुत पहले नहीं बोया जाता है। उसके खेत की तैयारी ज्वार या बाजरा की फसल के साथ ही करते हैं क्योंकि यह इन्हीं फसलों के साथ उत्पन्न की जाती है। इसे यदि अकेले बोया जाय तो खेतकी २-३ जुताइयाँ उसकी तैयारी के लिए यथेष्ठ होती हैं। बोआई प्रायः छिटकवां रूप से ही की जाती है। बीज की मात्रा ५-८ सेर तक आवश्यक होता है। यदि फसल को चारे के लिए बोते हैं, तो प्रति एकड़ ८ सेर बीज पर्याप्त होता हैं। प्रयोगों के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि चारे वाली दाल की फसलों में यदि फासफेट का प्रयोग किया जाय तो उपज अच्छी मिल सकती है। फासफेट की मात्रा ४०-५० पौंड प्रति एकड़ सुपर फासफेट के रूप में देना चाहिए।

फसल बोआई के लगभग ४½ महीने पश्चात् पकना प्रारम्भ कर देती है। दाने की फसल बीजों के पूर्ण रूप से पक जाने पर काटी जाती है जबकि चारे की फसल

की कटाई उसी समय से करने लगते हैं जबकि पौधों में फलियाँ लग जाती हैं। कटाई हँसिये की सहायता से की जाती है। कटे हुए पौधे खलिहान में लाकर सुखाये जाते हैं और तत्पश्चात् उनकी मड़ाई कर ली जाती है। चारे वाली फसलों को कटाई के शीघ्र पश्चात् हरे रूप में ही खिला दिया जाता है। दाना मूँग की भाँति अधिक प्रचलित नहीं है।

खेसारी

(Vetchling-Lathyrus sativus)

यह फसल लतरी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये मोटे किस्म के मटर है जिन्हें लम्बी और तंग पत्तियों द्वारा (Leaflet) सरलतापूर्वक पहिचाना जाता है। इसका मूल स्थान उत्तरी भारत में बतलाया जाता है क्योंकि यह यहाँ बहुत प्राचीनकाल से उत्पन्न की जा रही है। भारत के अतिरिक्त इसे फारस और मिश्र में भी बहुलता से उत्पन्न किया जाता है। भारत में इसे आसाम, बम्बई, मध्यभारत पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में उगाया जाता है। यहाँ १९५५-५६ में इसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल २,२४१ हजार एकड़ और उत्पादन २९५ हजार टन रहा जबकि १९५६-५७ में क्षेत्रफल २,१९१ हजार एकड़ और उत्पत्ति २६० हजार टन हो गया। १९५६-५७ में आसाम में इसका क्षेत्रफल १७ हजार एकड़, बम्बई में ४१३ हजार एकड़, मध्यप्रदेश में १४०६ हजार एकड़ और पश्चिमी बंगाल में ३९५ हजार एकड़ है।

इसका पौधा वार्षिक और मटर के पौधे से मिलता-जुलता है। तना दो से तीन फीट की ऊँचाई तक का मिलता है जो सीधा नहीं खड़ा रहता, भूमि पर रेंगता हुआ चलता है या किसी अवलम्ब के सहारे ऊपर चढ़ जाता है। पत्तियाँ पीनेट होती हैं। लीफलेट एक साथ दो होते हैं जिनका आकार सँकरा होता है। इनके सिरे पर एक टेन्ड्रिल पाया जाता है। फूल अकेले कोणों में रेसीम रूप से निकलते हैं। फूलों का रंग सफेद, लाल, गुलाबी या नीला होता है। स्वयं सेचन अधिक प्रचलित है लेकिन परसेचन भी कभी-कभी हो जाता है। फलियाँ मटर से छोटी १"-१½" तक लम्बी होती हैं। इनके बीज पीले या भूरे रंग के होते हैं जिनके ऊपर धारियाँ बनी होती हैं। इनका आकार खूँटी जैसा होता है। लोगों का ऐसा कथन है कि इस पौधे को खिलाने से पशुओं को लेथीरीज्म (Lathyrism) नामक रोग उत्पन्न होता है क्योंकि उसके बीज में एक प्रकार का विषैला पदार्थ उपस्थित रहता है। किन्तु कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि यह रोग खेसारी से नहीं उत्पन्न होता बल्कि इससे मिलते-

जुलते एक अन्य बीज अंकरा (Vicia sativa) से उत्पन्न होता है जो खेसारी की फसल में घास-पात के रूप में उग आता है।

खेसारी को लेथाइरस सटाइवा (Lathyrus sativus) नाम से पुकारा जाता है। इसकी उगाई जाने वाली जातियाँ जो उत्तर प्रदेश में अधिक प्रचलित हैं, लाल या पीले छिलके वाली होती हैं। अन्य देशों में सफेद छिलके वाली जातियाँ अधिक प्रचलित हैं।

खेसारी को प्रायः मटर, चना आदि के साथ उगाया जाता है। किन्तु कभी-कभी इसे अकेले भी उगाते हैं। अकेले उगाने पर खेत की दो-तीन जुताइयाँ करनी पड़ती हैं और जब खेत पूर्णतया तैयार हो जाता है तो बोआई १५-२० सेर प्रति एकड़ के हिसाब से कर दी जाती है। बोआई के पश्चात् पाटा या हैरो चला कर बीज मिट्टी से ढक दिये जाते हैं। इसके लिए चिकनी भूमि से लेकर चिकनी दोमट भूमि उत्तम पड़ती है।

फसल को निराई-गुड़ाई की किंचित ही आवश्यकता होती है। चूँकि यह रबी की फसल है और इसकी बोआई चना-मटर के साथ की जाती है अतः निराई-गुड़ाई की क्रियाएँ भी मुख्य फसल के साथ ही हो जाती हैं। जब इसे धान के खेत में जो पानी से भरा होता है और जिसका पानी नवम्बर के पहले खेत से नहीं निकल पाता, इसे खड़ी फसल में उसी समय बो देते हैं जबकि फसल पकने लगती है। धान की कटाई के पश्चात् बीजों का अंकुरण हो जाता है और तत्पश्चात् उनकी कोई देखभाल नहीं की जाती। इनकी कटाई उस समय की जाती है जबकि फलियाँ सूखने लगती हैं और बीज पूर्णरूप से परिपक्व हा जाते हैं। चारे की फसल मोथ की भाँति फलियाँ उत्पन्न होते ही काटी जाने लगती है। दाने की उपज लगभग २५० पौंड प्रति एकड़ होती है।

मटर (Pisum spp.)

मटर साधारणतः दो नामों से विख्यात है। प्रथम गोल मटर या गार्डेन पी (Garden pea) इसे बाग की मटर भी कहते हैं और दूसरी देशी मटर है जो फील्ड पी (Field pea) कहलाती है। मटर का मूलस्थान एशिया के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में हिमालय की तराई में उत्तर भारत में ही कहीं है। लोगों का ऐसा कथन है कि इनका उद्भव यूरोप में रूमसागरीय भागों में हुआ। देशी मटर प्रायः

अधिक प्रचलित है। भारतवर्ष में इसे खेतों में उगाया जाता है, जबकि गोल मटर की खेती बागों और उद्यानों तक ही निहित है। देशी और गोली दोनों जातियाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि देशी मटर गोल मटर की एक सहायक स्पेसीज है। प्राचीनता के अनुसार देशी मटर अधिक प्राचीन काल से उत्पन्न की जा रही है। गोल मटर का प्रारम्भ अभी हाल ही में हुआ है। देशी मटर की खेती पंजाब, बम्बई, मध्य, प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, बगाल और उत्तर प्रदेश में की जाती है। सम्पूर्ण भारत में इसका क्षेत्रफल १९५५-५६ में २,२९८ हजार एकड़ और १९५६-५७ में यह २,४५८ हजार एकड़ है। बम्बई में १९५६-५७ में इसका क्षेत्रफल ९,००० एकड़, पञ्जाब में १९,००० एकड़, मध्य प्रदेश में २३२ हजार एकड़, राजस्थान में ५,००० एकड़, पश्चिमी बंगाल में २९,००० एकड़, आसाम में १७,००० एकड़ और उत्तर प्रदेश में २,१४६ हजार एकड़ है।

देशी मटर के लिए उर्वर जल निकास-युक्त और छिद्र-युक्त भूमि सर्वश्रेष्ट पड़ती है। यह अधिक भोजन लेने वाली फसल है। इसे फास्फोरस और कैलशियम की अधिक आवश्यकता होती है। यदि भूमि में इन पदार्थों का अभाव हो तो उपज संतोषजनक नहीं मिलती। फलीदार फसल होने के कारण इसे नाइट्रोजन की ऊपर से आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए भारी भूमियाँ मटियार या दोमट अधिक उपयुक्त सिद्ध होती हैं। मटर की फसल इस देश में मुख्यतः रबी के दिनों में उत्पन्न की जाती है क्योंकि इसे शीत जलवायु प्रिय होती है। वातावरण में अधिक नमी और आर्द्रता का अधिक रहना बोआई के समय आवश्यक होता है जबकि बाद की अवस्थाओं में ऐसे मौसम में पाउडरी मिल्ड्यू जैसे रोगों के आक्रमण का भय रहता है। फसल के पकने के समय पानी का बरस जाना विशेष क्षति पहुँचाता है।

इसका पौधा लेगुमिनेसी कुल के सह कुल पेपिलियोनेसी (Papilionaceae) का एक सदस्य है। इसके तने आधे सीधे होते हैं। अवलम्ब मिल जाने पर उन पर चढ़ते जाते हैं। किन्तु अवलम्ब की अनुपस्थिति में भूमि पर रेंगते चलते हैं। तने ९′ से १५′ की ऊँचाई के होते हैं। ये खोखले, गोलाकार और गहरे हरे रंग के पाये जाते हैं। गोल मटर का रंग कुछ हलका और ऊँचाई अधिक होती है। तनो से शाखाएँ निकलती हैं जिनमें पिनेटली कम्पाउन्ड (pinnately compound) पत्तियाँ लगी होती हैं। पत्तियाँ एक से तीन जोड़े लीफलेट या एक से अधिक टेन्ड्रिलयुक्त होती हैं। फूल का गुच्छा रेसीम (Receme) होता है जिसका रंग सफेद, गुलाबी, हल्का नीला आदि

होता है। देशी मटर के फूल गोल मटर की अपेक्षा छोटे और रंगीन होते हैं जबकि गोल मटर सफेद फूल रखती है। इसके बीज फलियों में होते हैं जो १½"-२" लम्बी होती हैं। गोल मटर की फलियाँ अपेक्षाकृत लम्बी होती हैं। एक फली में ४-६ बीज उपस्थित रहते हैं। बीज गोले, चिकने, और सफेद रंग के होते हैं। गोल मटर के बीज आकार में बड़े सफेद या गुलाबी रंग के होते हैं। मटर की कुछ उन्नत जातियाँ भी हैं जिनमें एन० पी० २९ और एन० पी० १६३ अधिक मुख्य हैं। एन० पी० २९ जाति औसत ऊँचाई की होती हैं। इसके तैयार होने में औसत समय लगता है। इसके बीज अधिक मीठे होते हैं। एन० पी० १६३ दीर्घकालिक और अधिक उपज देने वाली जाति है। इसके बीज बड़े और सफेद रंग के होते हैं।

खेत की तैयारी जौ, जई, और सोयाबीन की भाँति की जाती है। जब इसे मिश्रित रूप मे बोया जाता है, तो मुख्य फसल की तैयारी के साथ ही इसकी भी तैयारी हो जाती है। मिश्रित रूप में इसे गेहूँ जौ, चना आदि के साथ उत्पन्न किया जाता है। इसकी बोआई अक्टूबर के दूसरे सप्ताह से अन्तिम सप्ताह से की जाती है। इसे छिटकवाँ रूप से साधारण रूप से बोया जाता है। कभी-कभी इसकी बोआई पंक्तियों में भी की जाती है जिनकी पारस्परिक दूरी ९" से १२" तक होती है। छिटकवाँ रूप से बीज की मात्रा प्रति एकड़ ३० से ४० सेर और पंक्तियो में २५ से ३० सेर आवश्यक होती है। बोआई करने के पश्चात् हैरो या पाटा चला कर बीच मिट्टी से ढक दिये जाते हैं। बोआई के पश्चात् निराई-गुड़ाई की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। गोल मटर में यह क्रिया यदा-कदा अवश्य ही कर दी जाती है। खेत में यदि पौधे काफी सघन हो तो उनकी दूरी ठीक कर दी जाती है। फसल की सिंचाई नहीं की जाती किन्तु आवश्यकतानुसार पौधों को पानी दे देने से फसल अच्छी मिलती है। जब इसे धान की दीर्घकालिक फसलों की बोआई के पश्चात् बोते हैं तो इसकी सिंचाई की कोई आश्वयकता नहीं होती। यदि फसल का बढ़ाव अच्छा न हुआ तो फासफोरस का उर्वरक और चूने का प्रयोग करना चाहिए बोआई के लगभग ५ महीने पश्चात् फसल तैयार हो जाती है। मार्च से अप्रैल तक उसकी कटाई कर ली जाती है। कटाई फसल के पूर्ण रूप से पकने के एक या दो दिन पूर्व ही कर ली जाती है अन्यथा फलियो के चिटकने का डर रहता है। इसकी कटाई हँसिये की सहायता से की जाती है और काट कर खलिहानों तक पहुँचा दिया जाता है। फसल जब हरी खाद या चारे के लिए बोई जाती है तो उसकी कटाई समयानुसार करते हैं। देशी

मटर की उपज १२ से १५ मन और गोल मटर की १५-२५ मन प्रति एकड़ होती है। सूखा चारा एक एकड़ में १ से २½ टन मिलता है।

मटर का प्रयोग अनेक रूप से होता है। इसकी दाल बनती है। तरकारी के भी काम में लाया जाता है। दाना भोजन में प्रयुक्त होता है। हरा चारा साइलेज, पास्चर आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। फसल पर पाउडरी मिलड्यू (Powdery mildew), डाउनी मिल्ड्यू, (Downy mildew) रस्ट और वील्ट रोगों का आक्रमण होता है। जिन पर बोर्डो मिश्रण का भुरकाव करने से किसी सीमा तक नियन्त्रण पाया जा सकता है।

सनई (Sanai—Crotolaria juncea)

सनई को सन या सन हेम्प के नाम से भी पुकारा जाता है। यह हरी खाद की एक महत्त्वपूर्ण फसल है। हरी खाद के अतिरिक्त इसे रेशे और दाने के लिए भी कान में लाया जाता है। भारतवर्ष में इसकी खेती कुछ काल से हो रही है। इसका मूल स्थान ब्राजील है। सयुक्त राज्य अमेरिका में यह १६०० ई० में पहुँची और लगभग १६२० में भारत लाई गई। यह रूस के हेम्प से कुछ सम्बन्ध रखती है। भारतवर्ष में इसे बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब में उत्पन्न किया जाता है। सम्पूर्ण भारत में इसका कुल क्षेत्रफल ८०० हजार एकड़ है। उत्तर प्रदेश में यह लगभग सभी स्थानों पर उत्पन्न की जाती है जिसमें झाँसी, इलाहाबाद, बनारस और रुहेलखंड के क्षेत्र अधिक महत्व-पूर्ण हैं। सनई का पौधा क्रोटोलेरिया जुन्सिया (Crotolaria juncea) नाम से विख्यात है। यह लेगुमिनेसी कुल में सम्मिलित होता है। इसका पौधा हरा, एक वर्षीय और लगभग ४′-६′ की ऊँचाई का होता है। तना सीधा लम्बा और लगभग ¼″ व्यास का होता है। इसका बाहरी छिल्का बहुत पतला होता है जिससे कि लम्बे रेशे प्राप्त होते हैं। तने का भीतरी भाग लकड़ीदार और खोखला होता है। इसकी जड़ें गहरी जड़ वाली मूसला होती हैं जिससे अनेक सहायक जड़ें निकलती हैं। इन जड़ों में छोटी-छोटी गाँठें निकलती हैं जैसा कि सभी फलीदार फसलों में देखा जाता है। पत्तियाँ छोटी, सँकरी, चमकीली और रोएँ वाली होती हैं। शाखाएँ बहुत कम होती हैं। फूल का गुच्छा रेसीम होता है जिसमें १० से २० फूल पाये जाते हैं। फूलों का रंग पीला होता है। इनमें अधिकांशतः परसेंचन ही होता है। फलियाँ गोली बेलनाकार

और छोटी लगभग २" की लम्बाई और $\frac{1}{4}$" या $\frac{1}{2}$" व्यास वाली होती हैं। जब फलियाँ बिल्कुल सूख जाती हैं तो भीतर के बीज स्वतन्त्र हो जाते हैं और इधर-उधर हिलने लगते हैं जिससे फलियों को थोड़ा-सा भी हिलाने पर झनझनाहट की आवाज होने लगती है। बीज चमकीले काले रंग के चपटे और चिकने होते हैं। उन्नत जातियों में सी० १२ टाइप अधिक प्रसिद्ध है।

इसे खरीफ के समय जबकि मानसून प्रारम्भ होती है, बो दिया जाता है। बढ़ाव के समय अधिक तापक्रम, नमी और औसत वर्षा की नितान्त आवश्यकता होती है। अति वृष्टि या पानी के जम जाने से फसल का बढ़ाव रुक जाता है और उपज मारी जाती है। इसमें सूखा सहन करने की अधिक क्षमता होती है। दक्षिण भारत में इसे रबी के समय बोया जाता है। सनई के लिए उपयुक्त भूमि हल्की दोमट है। इसे भारी मटियार भूमि में जिसमें प्रायः पानी जम जाता हो, नहीं पैदा किया जा सकता किन्तु जल-निकास के उपयुक्त प्रबन्ध हो जाने पर संतोषजनक उपज प्राप्त की जा सकती है। यह क्षारीय भूमि में भी उत्पन्न होती है इसीलिए ऊसर भूमि को दूर करने के लिए भी इसे उगाने की सिफारिश की जाती है। भारत में हरी खाद की फसल के रूप में इसे अनेक स्थानों पर उगाया जाता है, किन्तु निचली और पानी जमा हो जाने वाली भूमि में ग्वारा और ढैंचा उत्तम पड़ते हैं।

बीज की बोआई के लिए खेत की उपयुक्त तैयारी की जाती है। जब इसे हरी खाद की भाँति बोते हैं तो मानसून के प्रारम्भ होने पर ही खेत की जुताई शुरू कर देते हैं और ज्यों ही खेत तैयार होता है कि बोआई कर दी जाती है। जिन स्थानों पर सिंचाई की पर्याप्त सुविधा होती है, वहाँ इसे अप्रैल-मार्च के महीने में बो दिया जाता है किन्तु अधिकतर इसे जून के तीसरे सप्ताह में ही बोते हैं। दाने के लिए इसकी बोवाई खरीफ की अन्य फसलों के साथ मिश्रित रूप से की जाती है और इसके लिए उपयुक्त समय घनघोर वृष्टि के बाद ही होता है। रेशे के लिए फसल की बोआई १५ जून से १५ जुलाई तक की जाती है। बीज की बोआई छिटकवाँ ढंग से और पंक्तियों में की जाती है। पंक्तियों में बोने पर रेशे के लिए ६" से १२" और दाने के लिए २' का अन्तर रक्खा जाता है। हरी खाद के लिए बोआई छिटकवाँ ढंग से की जाती है। फसल को पंक्तियों में बोने से एक लाभ तो यह होता है कि आइपोमियाँ स्पेसीज (Ipomia species) नामक घास-पात से रक्षा की जा सकती है। यह घास-पात प्रायः सनई की फसल में उग आती है और अपने बढ़ाव से पौधों को दबा देती है। जब

फसल हरी खाद के लिए बोई जाती है तो बीज की मात्रा प्रति एकड़ ३० से ४० सेर आवश्यक होती है जबकि रेशे के लिए यह मात्रा २५-३५ सेर और दाने के लिए १०-१५ सेर यथेष्ट होती है। कुछ स्थानों पर बोआई के पूर्व बीजों को दल लिया जाता है, इससे उनके अंकुरण में शीघ्रता हो जाती है।

फसल को सिंचाई और खाद की किंचित ही आवश्यकता होती है। गर्मी के दिनों में उगाने पर दो-तीन सिंचाइयाँ की जाती हैं, किन्तु मानसून के प्रारम्भ हो जाने पर ऐसा नहीं किया जाता। सूखा के समय सिंचाई कर देने से फसल की उपज पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। फलीदार फसल होने के कारण इसे नाइट्रोजन की आवश्यकता नहीं होती। फासफोरस, कैलशियम दे देने से अधिक उपज मिलती है, इनकी मात्रा क्रमशः ४०-६० पौंड और ४०-५० पौंड प्रति एकड़ होनी चाहिए। निराई-गुड़ाई उसी समय की जाती है, जब इसमें घास-पात अधिक हो जाते हैं, अन्यथा इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

सनई की फसल जब हरी खाद के लिए तैयार की जाती है तो पौधों के २-३' ऊँचे होने पर उनकी पलटाई कर दी जाती है। पलटाई के लिए सर्वप्रथम पाटा या बेलन चलाया जाता है और जब पौधे भूमि पर एक दिशा में गिर जाते हैं तो मिट्टी पलटने वाले हल से उसी दिशा में जुताई कर दी जाती है। पलटाई के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पौधे अधिक कोमल हों और भूमि में यथेष्ट नमी हो ताकि पौधों का सड़ाव शीघ्रातिशीघ्र हो सके। फसल की पलटाई के पश्चात् उसके सड़ाव के लिए उपयुक्त समय देना चाहिए ताकि बोआई के समय खाद बीजों को उपलब्ध होने लगे।

फसल जब रेशे के लिए तैयार की जाती है तो पौधों की कटाई उस समय की जाती है जबकि उनमें कलियाँ निकलती हों या वे खिलने की अवस्था में हों। इस स्थिति में पौधों के रेशे अधिक उत्तम मिलते हैं। पौधे हँसिया की सहायता से काट लिए जाते हैं और फिर उनके सिरों की छँटाई करके बोझ बना लिए जाते हैं। कभी-कभी लोग सनई के उन पौधों से भी रेशे प्राप्त करते हैं जो पूर्ण रूप से पक गये हों और फल दे चुके हों। ऐसे पौधों की पहले फलियाँ तोड़ ली जाती हैं और तत्पश्चात् कटे हुए पौधों के बोझ बना लिए जाते हैं। अनुभव से ऐसा ज्ञात किया गया है कि कोमल पौधों के रेशे प्रौढ़ पौधों की अपेक्षा सुन्दर, स्वस्थ और सुदृढ़ होते हैं। कटे हुए पौधों को बोझ बनाने से पहले दो-तीन दिनों तक धूप में सुखा लिया जाता है और इसके

पश्चात् बोझों को एक स्थान पर पड़े रूप में एक के ऊपर दूसरे के हिसाब से रख दिया जाता है। ऐसा करने से कटे हुए पौधों की पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। ये बोझ दो या तीन फीट गहरे पानी में रख दिये जाते हैं और उन्हें दबाने के लिए ऊपर से मिट्टी या पत्थर रख दिये जाते हैं। पौधों के निचले भागों पर मिट्टी चढ़ा दी जाती है ताकि वे शीघ्र सड़ सकें। जब पौधे इतना सड़ जाते हैं कि उनकी छालें डण्ठल से सरलतापूर्वक पृथक हो जायँ तो बोझ पानी से निकाल कर धो लिए जाते हैं। धोने से रेशे साफ हो जाते हैं। उन्हें सुखाने के पश्चात् रेशे निकाल लिए जाते हैं।

जब फसल हरे चारे के लिए बोई जाती है तो इसे २-३' फीट की ऊँचाई के हो जाने के पश्चात् हरे रूप में काट कर खिलाने के काम में लाते हैं। हे (hay) बनाने के लिए पौधों की कटाई ४-४½ महीने पश्चात् की जाती है और इसे हे बना कर धान के भूसे के साथ खिलाया जाता है। फसल जब हरी खाद के लिए तैयार की जाती है तो कभी-कभी पलटाई के पूर्व पौधों की हरी मुलायम फुन्गियाँ पशुओं को चरा दी जाती है, जब इसे बीज के लिए तैयार किया जाता है तो कटाई का उपयुक्त समय दिसम्बर के अन्त से जनवरी के मध्य तक होता है।

सनई की उपज सर्वत्र एक-सी नहीं होती। जब इससे हरी खाद प्राप्त की जाती है तो भूमि को प्रति एकड़ २८० से २६० पौंड हरी खाद मिल जाती है। फसल पर अनेक रोगों और कीड़ो का आक्रमण होता है। रोगों में मुख्य पौधों का उकठा (Fusarium vas infectum) है जिसकी रोक-थाम रोग-निरोधक जातियों द्वारा किया जाता है। कानपुर १२ एक अच्छी जाति है जिस पर इस रोग का प्रभाव नहीं पड़ता। कीड़ों में सबसे मुख्य सनई का माथ है जो पौधे की पत्तियों पर आक्रमण करता है। इस कीड़े का वैज्ञानिक नाम यूटेथेसिया पलचेला (Utethesia puel-challa) है।

सनई का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। इसके रेशे रस्सी बनाने, मोटे कपड़े तैयार करने, बोरे बनाने, तम्बू बनाने, मछली पकड़ने वाली जाल तैयार करने आदि अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। रस्सियाँ चारपाई बुनने के काम में आती हैं। इसे कागज बनाने में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसका सेलुलोज बनावटी सिल्क जो रेयान (Rayan) के नाम से प्रसिद्ध है, तैयार करने में काम आता है।

लोबिया

(Cowpeas Cajanus catjang)

लोबिया को अनेक भाषाओं में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। तामिल में कारामानी, तेलगू में अलसन्दालू, कनाड़ी, में अलसान्दी, मलयालम में मन्पायारू और हिन्दूस्तानी में लोबिया कहा जाता है। आंग्ल भाषा में इसे काऊपी (Cowpea) कहते हैं। यह फलीदार फसल है और दाल वाली फसलों में सम्मिलित की जाती है। इसका मूल स्थान मध्य अफ्रीका बतलाया जाता है, क्योंकि वहाँ इसके जंगली पौधे उगे हुये मिलते हैं जो बोई जाने वाली जातियो से मिलते-जुलते हैं। भारतवर्ष में इसका प्रचलन दालवाली अन्य फसलों की तुलना में बहुत ही कम है किन्तु विदेशों में इसका बहुत अधिक प्रचार है। संयुक्तराज्य अमेरिका में दाल वाली फसलों में यह एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसे दाल के अतिरिक्त तरकारी, हरी खाद और पशुओं के चारे के लिए उत्पन्न किया जाता है। भारतवर्ष में इसे मुख्यतः तरकारी के लिए ही उगाया जाता है। लोबिया का पौधा हरा, वार्षिक और रेंगता हुआ पाया जाता है, लेकिन कभी-कभी यह अर्ध सीधा भी होता है। तने की लम्बाई लगभग ३'-८' तक होती है। जब कोई अवलम्ब मिल जाता है तो तना सरलतापूर्वक उन पर चढ जाता है अन्यथा यह भूमि पर ही झाड़ी नुमा आकार बनाता है। तनो का आकार गोला खुरदार और कभी-कभी चिकना होता है। तने पोरदार होते हैं जिनकी गाठों पर रेशें पाए जाते हैं। पत्तियाँ लम्बे डंठल वाली, त्रिदलीय, गहरे हरे रंग की अन्डाकार होती हैं। फूल के गुच्छे गाँठों से रेशीम रूप में पाए जाते हैं। फूलों का रग सफेद या पीलापन लिए हुए बैंगनी होता है। फूल प्रायः स्वयंसेचन करते हैं किन्तु कभी-कभी परसेचन भी हो जाता है। फलियाँ गोलाकार या बेलनाकार पतली और लम्बी होती हैं। ये बीजों के पास थोड़ा संकरी हो जाती है। इनकी लम्बाई ४" से १८" तक पाई जाती है। एक फली में अनेक बीज होते हैं। बीजो का आकार सेम के समान होता है जिन पर अनेक रोग से सफेद, पीले, हरे और भूरे धब्बे उपस्थित होते हैं।

लोबिया के लिए जल-निकासयुक्त दोमट भूमि सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है। इसे हल्की बलुवार भूमि, काली चिकनी दोमट भूमि कँकरीली भूमि और दक्षिण भारत की लाल भूमि में उत्पन्न किया जाता है। यह प्रायः ग्रीष्म जलवायु पसन्द करती है। इसे

उन स्थानों पर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है जहाँ वृष्टि अधिक होती है। किन्तु खेत में पानी का रुकना हानिकर होता है। इसकी खेती साधारणतः मिश्रित रूप में ही की जाती है। मिलवाँ फसलें मक्का, ज्वार, दालें, और रागी हैं। इसे अकेले भी उगाया जाता है। किन्तु ऐसा सीमित क्षेत्र में ही होता है। इसे धान के पश्चात् उसी खेत में भी उत्पन्न किया जाता है।

लोबिया के नाम में तीन फसलें सम्मिलित होती हैं—प्रथम भारतीय लोबिया (vigna catjang) जिसकी फलिया ३″ से ५″ लम्बी होती हैं, दूसरी जाति साधारण लोबिया (V.sinensis) जिसकी फलियाँ ८ इंच से १२ इंच लम्बी होती है और तीसरी यार्ड बीन (yard bean-V.sesquipedalis) हैं जिसकी फलियाँ लगभग १ इंच से ३ इंच की लम्बाई की होती हैं।

लोबिया के विभाजन पर आज तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। किन्तु इसके बढ़ाव , तैयार होने की अवधि , फलियाँ और बीजों की प्रकृति के आधार पर इसे विभाजित किया जा सकता है । भारतवर्ष में उगाई जाने वाली जातियों में काली आँख वाली, ग्रायट और वोपपुवरविल अधिक मुख्य हैं। अमेरिका में लोबिया पर विशेष अध्ययन किया गया है और इसकी अनेक उन्नत जातियाँ तैय्यार की गई हैं, इनमें आयरन काऊपी मुख्य है जो उकठा रोग निरोधक है।

लोबिया भारतवर्ष में प्रायः खरीफ में ही उगाई जाती है किन्तु कहीं-कहीं पर इसे रबी में भी उत्पन्न किया जाता है। इसके खेत की तैयारी साधारण ढंग से होती है। मिश्रित फसल के रूप में इसकी तैयारी अलग से नहीं की जाती बल्कि मुख्य फसल के साथ ही इसे बो दिया जाता है। अकेले बोने पर ३-४ जुताइयाँ प्रयाप्त होती हैं। जब इसे छिटकवाँ रूप में बोया जाता है तो पौधों की पारस्परिक दूरी का कोई महत्व नहीं होता किन्तु पंक्तियों में बोने पर पंक्ति से पक्ति की दूरी २′-६′ तक रक्खी जाती है। यह दूरी विशुद्ध और मिश्रित फसल के अनुसार रक्खी जाती है। बीज की मात्रा छिटकवाँ रूप में १० से१५ सेर और पंक्तियों में ५-८ सेर प्रति एकड़ लगती है। हरी खाद और चारे के लिए बीज की मात्रा बढ़ाकर २० सेर कर दी जाती है। लोबिया की फसल साधारणतः वर्षा के आधार पर तैयार की जाती है अतः इसकी सिंचाई की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आवश्यकतानुसार फसल में एक-आध सिंचाइयाँ कर देनी चाहिये। दाल वाली फसल होने के कारण इसे नाइट्रोजन की आवश्यकता नहीं होती। फासफोरस ४० पौन्ड प्रति एकड़ देने से उपज विशेष अच्छी

मिलती है। निराई-गुड़ाई की क्रिया का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। फसल यदि घनी होती है तो घास-पात पौधों के बढ़ाव से ढक जाते हैं, बढ़ने नहीं पाते। इसलिए लोबिया को कभी-कभी कवर क्राप की भाँति भी उगाया जाता है। प्रयोगों से यह परिणाम निकाला गया है कि निराई-गुड़ाई करते रहने से पौधो का बढ़ाव अधिक उत्तम होता है।

फसल की कटाई बोए गये उद्देश्य के अनुसार की जाती है। लगभग ६ सप्ताह में फूल निकल आतें हैं और दो सप्ताह से उनकी फलियाँ तरकारी के योग्य हो जाती हैं। इनमें फूल का लगना और फलियों का तैयार होना धीरे-धीरे होता है। तरकारी के लिए इन्हें हरी अवस्था में तोड़ लिया जाता है, इसलिए ये ज्यों-ज्यों तैयार होती हैं, त्यों-त्यों इनकी तोड़ाई करते जातें हैं। जब इसे बीज या दाल के लिए उत्पन्न किया जाता है तो पौधों से पूर्ण पकी हुई फलियाँ तोड़ी जाती है। हरी खाद के लिए बोने पर फूल आने के समय इन्हें भूमि में दबा दिया जाता है। चारे के लिए इन्हें किसी समय भी प्रयोग किया जा सकता है। फसल से जब फलियाँ तोड़ ली जाती हैं तो डंठल पशुओं को खिला दिये जाते हैं। बीज के लिए बोने पर फलियाँ पौधो के साथ ही काट ली जाती है और उन्हें सुखाकर मड़ाई कर ली जाती है। लोबिया की फसल दाने में विशुद्ध और मिलवाँ फसल के अनुसार समान नही होती। मिलवाँ रूप में इसकी उपज १००-१५० पौंड प्रति एकड़ प्राप्त होती है जबकि अकेली फसल में यह मात्रा ५००-६०० पौंड तक पहुँच जाती है।

पंजाब में एफओएस० न० १ एक सेलेक्सन है जिसका पौधा आधा झाड़ी-नुमा होता है और फलियाँ लगभग १५० दिन में तैयार होती हैं, इसके अतिरिक्त न० २ और न०७ उन्नत जातियाँ हैं। मद्रास में सी० ५०, सी० ३२२, सी० ४१६ और सी० ४२१ उन्नत जातियों के उत्पन्न करने की सिफारिश की गई है। सी० ५० दानों और चारे के लिए उगायी जाती है जिसके तैयार होने में ८५ दिन लगते हैं। सी० ३२२ चारे के लिए १२५ दिन में तैयार होने वाली, सी० ४१६ तरकारी के लिए १६० दिन में तैयार होंने वाली और सी० ४२१ दाने के लिए ६५ दिन में तैयार होने वाली जाति है। त्रावणकोर और कोचीन में ई० बी० २ अल्पकालिक, ई० बी० २ अल्प कालिक, ई० बी० मध्यम और ई० बी० ४ दीर्घकालिक जातियाँ प्रचलित हैं। ई० सी ३६४, ई० सी० २१३४ और अंजन लोबिया की अन्य उन्नत जातियाँ हैं। ई० सी० का अर्थ अल्पकालिक लोबिया (Early cowpea) से है।

लोबिया का चारा बहुत स्वादिष्ट और उपयोगी होता है, इसका बीज पशुओं को खिलाने के भी काम आता है। मानव जाति इसे दाल तरकारी आदि अर्थों मे प्रयोग करती है। बीजों में प्रोटीन की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है। भारतीय जातियों में यह मात्रा २४.६% और अमेरिकन जातियों में २०.८% उपस्थित होती है। शुष्क पौधे में १.६५% नाइट्रोजन, ०.५२% फासफोरिक एसिड, १.४७% पोटाश और ११% नमी उपस्थित होती हैं।

फसल पर आक्रमण करने वाले रोगों में पाउडरी मिल्डयू (Erysiphe polygoni), रस्ट (Urımyces appendiculatus), डाईबैक (Vermicularia capsici), जड़ सड़ाव (Rhizoctonia species) और उकठा रोग अधिक मुख्य हैं। इन रोगों की रोक थाम के लिए बोंडा मिश्रण प्रयोग किया जाता है। आयरन का ऊरी पर रस्ट और उकठा का प्रभाव नहीं पड़ता है। फसल पर अनेक कीड़ों का भी प्रभाव पड़ता है। इनमें पत्ती खाने वाले, रस चूसने वाले और तना छेदक अधिक मुख्य हैं। भंडार घरों में दालों का घुन आक्रमण करता है जिससे कृषकों को अधिक क्षति उठानी पड़ती है। इन कीड़ो की रोक-थाम के लिए आवश्यक उपाय करने चाहिए। पौधों पर एक मक्खी का आक्रमण होता है जो छोटे पौधों पर आक्रमण कर उन्हें सूखने को बाध्य कर देती है। ये मक्खियाँ तना छेदक मेगाट (Agromyza phaseoli) के नाम से पुकारी जाती हैं जिसकी मादा कोमल पौधों के बाहरी छालों पर अन्डे देती हैं और फिर तनें के भीतर घुस कर पौधों को सुखा देती हैं।

अन्डी

(Castor Ricinus communis)

अण्डी को, रेड़, रेड़ी, अरण्ड आदि अनेक नामो से सम्बोधिकत किया जाता है। इसे अंग्रेजी भाषा में केस्टर या केस्टर बीना (Castor been), तामिल में अमनाकू और कोताईमुल्यू, तेलगू में अमुदालू, मलयवम में अलनाकू और कनाड़ी में हरालू आदि नामों से पुकारा जाता है। इसका पौधा इफोरबीयेसी (Euphorbiacae) कुल का सदस्य है और रिसिनस कम्युनिस (Ricimus communis) नाम से विख्यात है। इसका मूल स्थान उत्तरी अफ्रीका बतलाया जाता है। किन्तु आजकल यह शीतोष्ण और उष्ण कटिबन्ध के लगभग समस्त देशों में उत्पन्न की जा रही है।

फलों के गुच्छे रेसीम होते हैं। इनमें नर फूल नीचे और स्त्री फूल ऊपर की ओर लगे होते हैं। फलियाँ तीन कोष्ट वाली कैप्सूल होती हैं। ये चिकने छिलके वाली या स्पाइनदार होती हैं। पकने पर कुछ जातियाँ फट जाती हैं और उनके बीज गिर जाते हैं। कुछ जातियों में ऐसा नहीं पाया जाता। इनके बीज निकालने के लिए फलियाँ सुखा कर तोड़ी जाती हैं। बीज भूरे रंग के चिकने अन्डाकार और चपटे होते हैं। इनका छिलका अधिक मोटा होता है। बड़ी जातियाँ $\frac{१}{२}$" से $\frac{५}{८}$" और छोटी जातियाँ $\frac{३}{१६}$" की लम्बाई की होती है। बीज में तेल का प्रतशित जातियों के अनुसार ४८ से ५६ तक पाया जाता है। इनमें भूसी लगभग २०% और गूदा ८०% प्राप्त होता है। छिलके वाले बीज ४०% से ५३% और उतारे हुए दाने ५८ से ६६% तेल देते हैं। बड़े बीजों में छोटे बीजों की अपेक्षा कम तेल प्राप्त होता है। फसल के तैयार होने का समय दीर्घ कालिक और अल्पकालिक जातियों के अनुसार एक-सा नहीं होता। अल्पकालिक जातियाँ जो बार्षिक होती है कम समय में तैयार हो जाती हैं जबकि दीर्घकालिक जातियों के तैयार होने में ५ से ८ महीने लग जाते हैं। अमेरिकन जातियों में बोआई के लगभग ५ माह पश्चात् फूल निकलना प्रारम्भ होते हैं।

अन्डी की फसल को मोटे रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जाता है प्रथम बड़े बीज वाली जो दीर्घकालिक होती है और दूसरी छोटे बीज वाली जो शीघ्र तैयार होती है। जनरा और स्पेसीज के आधार पर इसको ६ वर्गों में विभाजित किया जाता है प्रथम ,रिसिनस कम्युनिस और परसिकस, द्वितीय, अफ्रीकाना, तृतीय, कैक-सीकाना, चतुर्थ, चाइनेन्सीज, पंचम जैन्जिवैनिकस और षष्टम् संग्यूनस हैं।

अन्डी की उन्नत किस्में तैयार करने के लिए भारतवर्ष में कई केन्द्रों पर कार्य शुरू किए गये। मद्रास में तीन डिगेना, मैसूर में हेदिया, बम्बई में तम्बाकू अनुसंधान केन्द्र नान्दिया, हैदराबाद में हिम्मत सागर और उत्तर प्रदेश में कानपुर केन्द्र थे। कानपुर में अनुसंधान कार्य १९३१ से प्रारम्भ किया गया और अनेक उन्नत जातियाँ तैयार की गईं। इन जातियों में निम्नलिखित अधिक मुख्य हैं। ई० सी० २१७८ छोटे बीज वाली, ई० सी० १५१४ शीघ्र तैयार होने वाली, टाइप १९४८ बड़े बीज वाली और टाइप ५२११ दीर्घकालिक और अधिक उपज देने वाली हैं। टाइप ३ जाति अन्डी की सभी उन्नत जातियों में सर्वोत्तम पड़ती हैं। इससे उपज अधिक मिलती है। कानपुरिया एक अन्य जाति है जो उत्तर प्रदेश और बम्बई में अधिक

२४ .

प्रचलित है। बुन्देल खन्ड के लिए टा० १२, टा० ५२० और एच सी० ६ जातियाँ उपयुक्त पड़ती हैं।

अन्डी की खेती प्रायः अन्य फसलों के साथ की जाती है। इसे खेतों के किनारे-किनारे ही अधिकतर बोते हैं। अरहर, सेम, गन्ना, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि के साथ कभी-कभी मिश्रित रूप से बो देते हैं। अकेले इसे किंचित ही बोते हैं। इसके खेत की तैयारी मुख्य फसल के साथ ही हो जाती है। अकेले बोने पर २-३ जुताइयाँ यथेष्ट होती हैं। इन जुताइयों के पश्चात् पाटा देकर बोआई कर दी जाती है। बोआई का उपयुक्त समय मानसून का प्रारम्भ है। इसे उत्तर भारत में मध्य जून से मध्य जुलाई तक बोते हैं किन्तु दक्षिण भारत में इसकी बोआई रबी में की जाती है। बीज की मात्रा बीजो के आकार और प्रतिसेर तौल के अनुसार निश्चित् की जाती है। बोआई के ढंग पर भी बीज की मात्रा निर्भर करती है। छिटकवाँ विधि में अकेली फसल के लिए १० सेर, हल के पीछे ८ सेर और बोआई की मशीन से ५-६ सेर प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है। मिलवाँ रूप में बीज की मात्रा १-३ सेर लगती है। बोआई प्रायः पंक्तियों में की जाती है। पंक्ति से पंक्ति की दूरी ३ फीट और पौधे से पौधे की दूरी १½"-२' रक्खी जाती है। बहुवर्षीय जातियों में पंक्तियाँ ४'-६' की दूरी पर बनाई जाती है। छिटकवाँ विधि में पौधों की दूरी एक-सी नहीं होती, अतः इस विधि में अंकुरण के पश्चात् पौधो की छँटाई अवश्य कर देनी चाहिए। बीज लगभग २" की गहराई में बोए जाते हैं।

अच्छी फसल लेने के लिए सिंचाई और खाद की उपयुक्त व्यवस्था करनी चाहिए। फसल को नाइट्रोजन की अधिक आवश्यकता पड़ती है। अतः १५० मन गोबर की सड़ी खाद, १६० मन कम्पोस्ट या अमोनिया सल्फेट इस हिसाब से देना चाहिए कि फसल को ३० पौंड प्रतिएकड़ नाइट्रोजन प्राप्त हो जाय। फासफोरस के अभाव में भी उपज संतोषजनक नहीं मिल पाती, अतः आवश्यकतानुसार इसका भी प्रयोग करना चाहिए। उत्तर भारत में प्रायः इसकी सिंचाई नहीं की जाती क्योंकि यह यहाँ खरीफ की फसल है, किन्तु वर्षा के अभाव में सिंचाई कर देने से फसल का बढ़ाव रुकने नहीं पाता है। दक्षिण भारत में २-३ सिंचाइयाँ की जाती है। फसल के सम्पूर्ण बढ़ावकाल में २-३ निराई-गुड़ाई की क्रिया कर देनी चाहिए। जब इसे मिलवाँ फसल के रूप में बोते हैं तो इसकी निराई-गुड़ाई अलग से नहीं की जाती,

बल्कि मुख्य फसल के साथ ही इसकी भी गुड़ाई हो जाती है। निराई-गुड़ाई की क्रिया पंक्तियों में बोई गई फसल में अधिक सरल होती है।

अन्डी की फसल लगभग ८-१० महीने में तैयार होती है, किन्तु यह समय केवल खरीफ की फसलों के लिए ही है। रबी की फसलों के तैयार होने में ६-८ महीने हो लग पाते हैं। जब फलियाँ पक जाती हैं तो उनकी तोड़ाई कर ली जाती है। तोड़ाई की क्रिया फलियों के चिटकने के कुछ काल पूर्व ही कर लेनी चाहिए अन्यथा चिटकने से बीज दूर जा गिरते हैं। जिन जातियों में फलियों के चिटकने का गुण नहीं पाया जाता, उन्हें तोड़कर किसी स्थान पर जमा करके पुवाल या पत्तियों से ढँक दिया जाता है। कुछ दिनों पश्चात् उन्हें धूप में खुला छोड़ देते हैं और फिर डंडों से पीट कर बीज पृथक कर लेते हैं। ये बीज सुखा कर भंडार-गृह में रख दिये जाते हैं। पौधे के डण्ठल काटकर ईंधन के काम लाए जाते हैं। पत्तियाँ भूसा के काम आती हैं, या हरे रूप में ही पशुओं को खिला दी जाती हैं। उपज विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मिलती है। भारतवर्ष में अन्डी की औसत उपज प्रति एकड़ २१० पौंड है जबकि ब्राजील में इसकी उपज ७५० से २,२०० पौंड प्रति एकड़ प्राप्त की जाती है। कानपुर में टाइप ३ जाति से १५०० पौंड प्रति एकड़ उपज प्राप्त की गई है। अन्डी का तेल न सूखने वाला होता है। यह बहुत दिनों तक खट्टा नहीं होने पाता। इसे दवाइयों, उद्योगों और घरेलू अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। मशीनों में जलाने के अतिरिक्त उनमें चिकनाहट लाने के लिए भी इसे प्रयोग किया जाता है। घरों में इससे दीपक जलाते हैं। खलियाँ उर्वरक के रूप में प्रयोग की जाती हैं। अन्डी के बीज में रिशिन और लाइपेज (Ricin and lipase) दो पदार्थ पाए जाते हैं। रिशिन की उपस्थिति में इसे पशुओं के खिलाने के काम में नहीं लाया जाता है। कुछ स्थानों पर इसकी पत्तियाँ ईरी (Eri) रेशम के कीड़े को खिलाने में प्रयुक्त होती हैं।

अन्डी का तेल बीजों को छिल्का उतारने के पश्चात् पीसकर निकाला जाता है। गूदा लेई की भाँति बना कर पानी में मिला दिया जाता है और तत्पश्चात् आग पर खौलाया जाता है। खौलाने से तेल ऊपर आ जाता है और फिर पानी से अलग कर लिया जाता है। औद्योगिक ढंग पर रासायनिक घोलक या दाबक (Pressur) प्रयोग किए जाते हैं और बीज से तेल निकाल कर उसे शुद्ध कर लिया जाता है।

कोल्डड्रान तेल (Colddrawn oil) तैयार करने पर रिशिन समाप्त हो जाता है और खलियाँ पशुओ के खिलाने के अर्थ में भी लाई जा सकती हैं।

अन्डी की फसल हर अनेक रोग और कीड़ों का आक्रमण होता है।रोगों में मुख्य पंक्तियों के धब्बे, सिडलिंग ब्लाइट और ग्रे मोल्ड अधिक मुख्य हैं, पत्तियों के धब्बे का रोग सर्कोस्पोरिना रिसिनेला (Cercosporina-ricinella) नामक फफूँदी द्वारा उत्पन्न होता है। इसकी रोक-थाम के लिए बोर्डो मिश्रण प्रयोग करना चाहिए। यह रोग एक अन्य प्रकार के फफूँदी आलटर नेरिया रिसिनाई (Elternaria ricini) द्वारा उत्पन्न होता है। इसकी रोक-थाम के लिए रोग मुक्त बीज प्रयोग करना चाहिए। सीडलिंग ब्लाइट किशोर पौधों पर अधिक आक्रमण करता हुआ पाया जात है। कभी-कभी प्रौढ़ पौधों की पत्तियों पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। इसके प्रभाव से पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और सड़ने लगती हैं। इसकी रोक-थाम के लिए जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध करना चाहिए और साफ जुताई से भी किसी सीमा तक फसल रोक-थाम हों सकती है। फसल पर रस्ट का भी आक्रमण देखा गया है, जो मेलाम्प सोरेला रिशिनी (Melompsoarella ricini) द्वारा पैदा होता है।

कीड़ों में मुख्य तनाछेदक मीली वग (mealy bug) आदि है। तना छेदक तनों पर आक्रमण करता है और काफी क्षति पहुँचता है। मीलीवग (Aleu. robes rscini) पत्तियों का रस चूस लेता है। रस चूसने से पत्तियाँ मुर्झा जाती है। अन्डी की पत्ती खाने वाले कई कीड़े फसल पर आक्रमण करते हैं और फसल की क्षति करते हैं। कैस्टर सेमीलुपर एक अन्य कीड़ा है जो पत्तियों पर ही अपना जीवन निर्वाह करता है। इन कीड़ों की रोक-थाम के लिए डी० डी० टी० या गैमेक्सीन का छिड़काव करना चाहिए। प्रभावित पत्तियों को तोड़ कर जला देना चहिए। कीड़ों को हाथ से भी मार कर विनष्ट करना चाहिए।

बर्रें (कुसुम)

(Carthamus tinctorius)

बर्रे को तामिल में कुसुम्ब, तेलगू में कुसुम्बालू, कनाड़ी में कुसुमें और हिन्दुस्तानी में कुसुम कहा जाता है। आंग्ल भाषा में सैफ्लावर (Safflower) कहते हैं। इसका पौधा दो अर्थों में बहुधा प्रयुक्त होता है–प्रथम, तेल और दूसरे रंग। बीजो से तेल प्राप्त किया जाता है और फूल से रंग। आज से कुछ समय पहले इसके रंग

बनाने का उद्योग भारतवर्ष तथा अन्य देशों में अधिक विकसित था। लोग घरों में इसे तैयार करते थे और बाजारों में बेंचकर धन कमा लेते थे। किन्तु जब से एनिलीन रंग (Aniline-dyes) का अनुसन्धान हुआ तब से इसका प्रभाव प्रायोगिक रूप से एकदम ठप पड़ गया। बाजारों में इस रंग की माँग लुप्त हो गई। कुसुम का जन्म-स्थान डीकन्डोले के अनुसार अरब में है आधुनिकतम अनुसंधानों से रूसी अनुसंधान कर्त्ताओं ने पता लगाया है कि इसका मूल स्थान आबीसीनिया और अफगानिस्तान है। यह आबीसीनिया से मिश्र और अफगानिस्तान से भारतवर्ष पहुँची। भारतवर्ष, अफ्रीका और अरब में इसकी खेती अति प्राचीन काल से होती आ रही है। आज-कल इसे विश्व के उष्ण कटिबन्धीय भागों से लेकर शीत कटिबन्धीय भागों के अनेक देशों में उत्पन्न किया जा रहा है। कुसुम की खेती करने वाले मुख्य देश मिश्र, फारस, रूमसागरीय प्रदेश, दक्षिणी-पश्चिमी एशिया, भारत, चीन, पूर्वीद्वीप समूह, दक्षिणी अमेरिका, स्पेन, इटली, जर्मनी और दक्षिणी रूस हैं। भारतवर्ष में इसे कई राज्यों में उत्पन्न किया जाता है, इन राज्यों में बम्बई का स्थान सर्वोपरि है। उत्तर प्रदेश और बिहार में भी इसकी खेती थोड़ी-बहुत मात्रा में होती है।

कुसुम का पौधा बलुवार भूमि में फसलों के किनारे-किनारे उगाया जाता है। इसकी अच्छी उपज दोमट भूमि में प्राप्त होती है। हल्की अलुवियल भूमि से भी संतोषजनक उपज मिलती है। दक्षिण भारत में इसे मुख्यतः कपास की काली भूमि में उत्पन्न किया जाता है। इसमें सूखा सहन करने की अधिक शक्ति होती है। अतः इसे वर्षा के आधार पर ही तैयार किया जाता है। इसे यहाँ रबी की फसलों जौ, गेहूँ, चना, आदि के साथ मिलवाँ रूप में या खेत के किनारे-किनारे फसल की रक्षा करने के लिए उगाया जाता है। इसके पौधे में स्पाइन (Spine) होते हैं, जिनसे पशु खेत के भीतर नहीं आ पाते।

कुसुम का पौधा कारथैमस टिंकटोरियस (Carthamus tinctorius) कम्पोजिटी कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका पौधा वार्षिक और १½′ से ३′ की ऊँचाई का होता है। तना बौने किस्म का शाखादार होता है। पत्तियाँ डण्ठल रहित दाँतेदार और स्पाइनदार सिरे वाली होती है। इनका आकार लैन्सियोलेट होता है। किनारा कटा हुआ स्पाइनयुक्त होता है। फूल शाखाओं के सिरे पर उत्पन्न होते हैं। इनका रंग हल्का पीला से नारंगी और लाल होता है। पीले रंग वाली जातियाँ मुख्यतः तेल के लिए और नारंगी और लाल फूल वाली जातियाँ रंग के लिए

उत्पन्न की जाती हैं। इनमें स्वयं सेंचन परसेंचन की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। फलियाँ स्पाइन-युक्त गोलाकार होती हैं जिनमें अनेक बीज उपस्थित होते हैं। बीज सफेद छिलकेवाले धारीदार, चिकने और लाल गूदे वाले होते हैं। इनमे चर्बी की मात्रा २०-३०% होती है। कुसुम की दो जातियाँ हैं। प्रथम, स्पाइन-युक्त और दूसरे स्पाइन रहित। स्पाइन-युक्त जाति प्रायः तेल के लिए और स्पाइन-रहित रंग के लिए तैयार की जाती हैं। कुछ जातियाँ बडे बीज वाली और कुछ छोटे बीज वाली होती हैं। १६३२ ई० में रूसी कार्यकर्त्ता कपजोव (Kupzow) ने कुसुम की अनेक जातियाँ विश्व के अनेक भागों से एकत्रित कीं और उन्हें २१ किस्मों में बाँटा। भारत में कुसुम की जातियों का पहला विभाजन हावर्ड और उनके साथियों द्वारा किया गया और इस प्रकार यहाँ ३४ जातियाँ निकाली गईं। बाद में १६३५ ई० में २६ और किस्में खोज ली गईं और इस प्रकार कुल ६३ किस्में हो गईं।

कुसुम की खेती जैसा हमने पहले ही कहा है, रबी में मिलवाँ रूप में की जाती है। जब इसे अकेले बोया जाता है तो खेत की साधारण तैयारी करने के पश्चात् १६ पौंड प्रति एकड़ बीज की मात्रा के हिसाब से बो देते हैं। बोआई छिटकवाँ रूप से या सीडड्रिल के द्वारा की जाती है। मिश्रित रूप में मुख्य फसल की ६-८ पंक्तियो के पश्चात् इसकी तीन पंक्तियाँ रहती हैं। किनारे पर बोने से इसे खेत के किनारे चारों ओर एक या दो पंक्तिमें बोते हैं। इस प्रकार इसका बीज २ सेर से ६ सेर तक प्रति एकड़ लगता है। बोआई का उत्तम समय अक्टूबर का अन्तिम सप्ताह है। बोआई के पश्चात् इसकी निराई-गुड़ाई १५-२० दिनों पश्चात् करनी चाहिए। पौधो के बढ़ाव काल में सिरों की फुनगियाँ तोड़ देने से शाखाएँ अधिक निकलती हैं जिससे फूल और दाने अधिक प्राप्त होते हैं। जब फसल बीज के लिए तैयार की जाती है तो बीजों के पकने के पश्चात् पौधे काट लिए जाते हैं और खलिहान में कुछ समय के लिए इकट्ठा कर दिये जाते हैं। जब ये वहाँ भली-भाँति सूख जाते हैं तो फलियों को डन्डे से पीटकर बीज पृथक कर लिए जाते हैं। बीजो की उपज प्रति एकड़ ४०० से ५०० पौंड अकेले और मिलवाँ रूप में १०० पौंड प्राप्त होती है। भूसा पशुओं को खिलाया जाता है और डन्ठल ईंधन के काम आते हैं या खाद बनाने के काम आते हैं।

बीजों से तेल निकालने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। गाँव में इसे एक घड़े में बन्द कर आग पर रख देते हैं। गर्मी पाकर बीज पिघलने लगता है और तेल

बाहर आ जाता है। इसे किसी बर्तन में इकट्ठा कर लिया जाता है। आजकल इसके तेल निकालने की अनेक विधियाँ प्रचलित हो गई है। जब इसे रंग के लिए तैयार किया जाता है तो फसल में ज्योंही फूल लगने प्रारम्भ होते हैं तो इनके फूल तोड़ लिए जाते हैं। फूलों की तोड़ाई उसी समय करते हैं जब वे पूर्ण विकसित हों। उन्हें तोड़कर सुखाया जाता है और पूरे फूल से केवल पुट-चक्र पृथक कर लिया जाता है। यह पुट-चक्र पानी में धोकर रंग बनाने के काम में आता है। पीला रंग पानी में अधिक घुलनशील होता है, इसलिए प्रथम धुलाई में ही यह पृथक हो जाता है। पुट-चक्र का शेष अंश जो लेई सदृश होता है, अधिक स्थायी रंग वाला होता है। इसे सुखा कर किसी छोटे बर्तन में रख दिया जाता है और बेच दिया जाता है। रंग की उपज प्रति एकड़ ८०-१२० पौंड प्राप्त होती है। रंग लाल पीले नारंगी आदि कई किस्म के होते हैं और इन्हें सूती ऊनी और रेशमी वस्त्रों की रंगाई में प्रयोग किया जाता है। कुसुम का तेल खाने योग्य होता है और गृहों में इसे अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। गर्म तेल को ठन्डे पानी में जब गिराया जाता है तो यह प्लास्टिक बन जाता है और सीसा चिपकाने के काम में आता है। बीज मुर्गियों का अच्छा भोजन है, खलियाँ पशुओं को खिलाई जाती हैं।

कुसुम की फसल पर पत्तियों के धब्बे का रोग (Cercospora carthami) अधिक आक्रमण करता है। कीड़ों में पत्ती खाने वाली गिड़ार (Perigaea capensis) उल्लेखनीय है।

अध्याय १६

चारे की फसलें

(चारे वाली फलीदार फसलें)

चारे की फसलें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं। प्रथम दाल वाली फसलें जिनमें रिजका, बरसीम, ग्वारा, कुल्थी, आदि सम्मिलित होती हैं। दूसरे वर्ग में घास वाली फसलें सम्मिलित होती हैं जिनमें नेपियर गिनी, पैरा, अंजन, रोड, ब्लूपैनिक, जैन्टस्टार आदि शामिल होती हैं।

बरसीम

(Trifolium alexandrium)

बरसीम क्लोवर (Clover) वर्ग में सम्मिलित किया जाता है। क्लोवर वर्ग में मुख्य तीन फसलें होती हैं। प्रथम मिश्री क्लोवर जिसमें बरसीम (Trifolium alexandrium) आता है, दूसरे फारसी क्लोवर जिनका उदाहरण सफतल (Trifolium resupinatum) है, और तीसरा भारतीय या विंटर क्लोवर है जिसमें सेंजी (Melilotus parviflora) का नाम उल्लेखनीय हैं। इन फसलो के अतिरिक्त एक फसल बर्रक्लोवर (Burr clover-Medicago hispida var denticulata) है जो उत्तर भारत में गेहूँ के खेत में घास-पात के रूप में उगी हुई पाई जाती है। फेनुग्रीक (Trigonella foenumgroecum) को भी क्लोवर की में ही शामिल किया जाता है जिसे भारत में मेथा और मेथी के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

बरसीम का पौधा पूर्वी रूमसागरीय देशों का मौलिक पौधा है। इसे मिश्र, साइप्रस, इजराइल और सीरिया में अधिक परिमाण में उत्पन्न किया जाता है। मिश्र की कृषि में इसका विशेष महत्त्व है। मिश्री कपास की प्रति एकड़ उपज बरसीम के कारण ही अधिक मिलती है क्योंकि यह खेत की उर्वरता स्थिर रखने वाली फसल है। भारतवर्ष में इसे सर्वप्रथम सन् १९०४ ई० में सिन्ध लाया गया और तत्पश्चात् यह

पञ्जाब तक फैल गई और पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश में यह एक महत्वपूर्ण फसल हो गई। सम्पूर्ण भारत में यह इन्हीं स्थानों से फैला। अब इसे उत्तर भारत के लगभग सभी उन स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है। जहाँ कि जलवायु शीतल हो और सिंचाई की व्यवस्था उत्तम हो। भारतवर्ष में इसे पञ्जाब, उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों, बिहार, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, बम्बई, आसाम बंगाल, उड़ीसा, में उत्पन्न किया जाता है। पञ्जाब में इसे सेंजी के स्थान पर पैदा किया जाने लगा। वहाँ शफतल कुछ क्षेत्र में पैदा किया जाता है। पूर्वी पञ्जाब के नहरी क्षेत्र में बरसीम का लगभग १,००,००० एकड़ क्षेत्रफल है। बरसीम का पौधा वार्षिक हरा और लगभग १'-२' की ऊँचाई तक बढ़ता है। इसकी पत्तियाँ त्रिदलीय होती हैं, फूल सफेद होते हैं। इसकी दो जातियाँ मिस्क्वी और खदरावी यहाँ अधिक प्रसिद्ध है। मस्क्वी जाति अधिक पुत्तियाँ पैदा करती हैं। इसकी एक मौसम में ४ कटाइयाँ की जाती हैं। सैदी एक दूसरी जाति है जिसकी उपज अधिक अच्छी नहीं मिलती। इससे एक मौसम में दो कटाईयाँ ली जाती हैं। फहली एक तीसरी जाति है जिसमें शाखाएँ बहुत अधिक निकलती हैं। इसकी कटाई चारे या बीज के लिए केवल एक ही बार की जाती है।

बरसीम की बोआई सितम्बर तक की जाती है। उत्तर प्रदेश में इसे धान की कटाई के पश्चात् एक सिंचाई करके बो दिया जाता है और साधारण देख-रेख करने के पश्चात् तीन-चार कटाइयाँ प्राप्त की जाती है। खरीफ की फसल काटने के पश्चात् मानसून में दो जुताइयाँ की जाती हैं। मानसून के पश्चात् ३-४ जुताइयाँ करके खेत की अच्छी जोत बनाई जाती है। उसी खेत में बोआई कर देते हैं। पञ्जाब में इसकी बोआई सितम्बर से मध्य नवम्बर तक और उत्तर प्रदेश में अक्टूबर से नवम्बर तक की जाती है। बोआई छिटकवाँ या पंक्तियों में करते हैं। इसकी बीज-मात्रा मिश्र में ४० पौंड और पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में १६ से २० पौंड प्रति एकड़ होती हैं। यदि खेत में बरसीम पहले कभी नहीं पैदा की गई है तो खेत की भूमि का उपचार किया जाता है। उपचार में बरसीम उगाये गये खेत की २ से ४ मन मिट्टी नये खेत में छिड़क दी जाती है। भूमि के अतिरिक्त बीजों का भी उपचार किया जाता है। इसके लिए बरसीम कल्चर लिया जाता है और उसे लगभग आधे सेर १०% चीनी या गुड़ के साथ मिला कर बीज पर छिड़का जाता है। छिड़कने के पश्चात् इसे भली-भाँति मिलाकर छाँव में सुखा लिया जाता है। धूप में सुखाने से बीजों पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। उपचारित बीज २४ घन्टे के भीतर ही मिट्टी में मिला कर बो दिये

जाते हैं। पञ्जाब में इनकी बोआई खेत की सिंचाई करने के पश्चात् की जाती है। इसे सूखे खेतों में भी बोया जाता है किन्तु बोआई के लगभग २४ घन्टे पूर्व इन्हें भिगो लिया जाता है। बोआई के पश्चात् ½" मिट्टी की तह ऊपर से छिड़क दी जाती है।

बरसीम की फसल दोमट भूमि में अच्छी उपज देती है। निर्धन भूमि में गोबर की खाद या कम्पोस्ट का प्रयोग करना चाहिए। कम्पोस्ट की मात्रा एक एकड़ में १५०-२०० मन पर्याप्त होती हैं। I. A. R. I. में फलीदार फसलों पर फासफेट का प्रभाव ज्ञात करने के लिए एक प्रयोग किया गया, फासफोरस की अनेक खुराकें नाइट्रोजन और पोटाश के साथ मिला कर दी गईं और बरसीम की चारे की सर्वोत्तम उपज ६४ पौंड फासफेट सुपर फासफेट या गोबर की खाद अथवा दोनों के मिश्रण से प्राप्त की गई। बरसीम की सम्पूर्ण ऋतु में ७-१० सिंचाइयाँ दी जाती हैं। बोआई के पश्चात् एक सप्ताह या १० दिन के अन्दर पहला पानी दिया जाता है। जाड़े के दिनों में यह अन्तर अधिक कर दिया जाता है, किन्तु अप्रैल और मई में फिर कम कर दिया जाता है। हर कटाई के पश्चात् एक सिंचाई अवश्य करनी चाहिए।

बरसीम कभी-कभी अकेले न बोकर सेंजो, जई या रेप के साथ बोई जाती है। मिश्र में उसे कपास की खड़ी फसल में ही बो दिया जाता है जबकि कपास की आखरी, चुनाई होने को होती है। बरसीम की पहली कटाई कपास के सूखे डंठलों के साथ की जाती है और तत्पश्चात् साधारण ढंग पर फसल की देख-रेख की जाती है। बरसीम की पहली कटाई उस समय करते हैं जबकि पौधे ६-१२" के ऊँचाई के हो जाते हैं और उनमें ३-४ शाखाएँ निकल आते हैं। दूसरी कटाई में शाखाएँ अधिक संख्या में निकलती हैं। अतः विद्वानों का ऐसा कथन है कि पहली कटाई जितनी ही पहले की जाती है फसल की उपज उतनी ही अधिक होगी। भारतवर्ष में बरसीम के चारे की उपज ३-७ कटाइयों में ४००-१,००० मन प्रति एकड़ होती है। पञ्जाब में हरे चारे की उपज का औसत ५००-६०० मन प्रति एकड़ है। बरसीम की फसल से जब बीज लेना होता है तो खेत के कुछ प्लाट (क्यारियाँ) निश्चित कर दिये जाते हैं। इनकी बोआई चारे की फसल से तीन गुनी अधिक घनी होती है। सिंचाई साधारण ढंग से ही होती है। मई या जून के महीने में बीज तैयार हो जाते है। किन्तु इस समय गरम हवाओं से बीजों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का भय होता है। अतः इनसे फसल की रक्षा करनी चाहिए। बीजों की उपज ३-५ मन होती है। जब फसल चारे के लिए

तैयार की जाती है तो यह लगभग मध्य दिसम्बर तक कटाई के लिए तैयार हो जाती है। पहली कटाई के पश्चात् बाद की कटाइयाँ ३० दिनों पश्चात् करते जाते हैं। इसका चारा पशुओं द्वारा बहुत अधिक पसन्द किया जाता है। संतुलित भोजन रूप में प्रयोग करने के लिए इसमें प्रोटीन और खनिज पदार्थ अधिक परिमाण में उपस्थित होते हैं। इसमें प्रोटीन की मात्रा १८% और क्रूड प्रोटीन १५% उपस्थित होता है जिसमें पाचक प्रोटीन ७५% होता है। प्रोटीन का अंश केवल पत्तियों में उपलब्ध होता है। इसमें कैलशियम की मात्रा १२·७% पाई जाती है। इसका चारा रिजका की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है क्योंकि इसमें टिम्पैनिटीज़ जैसा कोई रोग नहीं होता। फलीदार फसल होने के कारण इसे गेहूँ या धान के साथ फसल-चक्र में प्रयोग किया जा सकता है। इससे उच्च कोटि के साइलेज और हे भी तैयार किये जाते हैं। इससे हरी खाद भी प्राप्त की जा सकती है।

ग्वारा या ग्वार

(Guara Cyamopsis pseraliodes)

ग्वारा एक ऐसी फसल है जिसे भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर चारे और हरी खाद के लिए उत्पन्न किया जाता है। इसमें सूखा सहन करने की अपूर्व क्षमता होती है। इसे हल्की भूमि से लेकर घनी और उर्वर भूमि में उगाया जाता है। इसका मूलस्थान भारतवर्ष ही माना जाता है किन्तु इसके जंगली पौधे यहाँ उपलब्ध नहीं होते। इसका पौधा फलीदार, एक तने और कुछ शाखाओं वाला होता है जिसकी ऊँचाई ३′ से ११′ तक होती है। इसकी पत्तियाँ त्रिदलीय होती हैं। फूल कोणीय रेशीम पर उत्पन्न होते हैं। फलियाँ १½″ से २″ लम्बी चपटे आकार की होती हैं। एक फली में लगभग ७ बीज पाये जाते हैं। फलियाँ गुच्छे में पाई जाती हैं। इसीलिए इसे गुच्छों की सेम (Cluster bean) भी कहते हैं। पत्तियों के रूप और पौधों की ऊँचाई के आधार पर इसकी दो मुख्य जातियाँ हैं। एक जैन्ट (giaut) जो लम्बी और बड़ी फलियों वाली है और दूसरी जाति बौनी (Dwarf) होती है। इसके बीज अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। इसे पञ्जाब और उत्तर प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है, जबकि इसकी जैन्ट जाति गुजरात में प्रचलित है।

ग्वार की फसल खरीफ़ में उगाई जाती है। यह अकेले या खरीफ की अन्य फ़सलों के साथ मिला कर बोई जाती है। इन फसलों में ज्वार, मक्का, मोथ आदि

मुख्य हैं। इस फसल के पश्चात् गेहूँ बोने से गेहूँ की उपज अधिक मिलती है। उत्तर भारत में इसकी बोआई मानसून के प्रारम्भ होने पर जून-जुलाई में की जाती है। जब इसे अकेले बोया जाता है तो खेत से चार बार जोत लिया जाता है किन्तु मिलवाँ रूप में जुताई मुख्य फसल के अनुसार की जाती है। बोआई छिटकवाँ ढंग से या पंक्तियों में की जाती हैं। पञ्जाब में इसे बहुधा अकेले ही बोया जाता है। अकेले बोने पर बीज की मात्रा १० से १२ पौंड लगती है। जब इसे हरे चारे या हरी खाद के लिए बोया जाता है तो बीज की मात्रा २० से २४ पौंड प्रति एकड़ लगती है। फसल की कटाई उत्तर भारत में सितम्बर अक्टूबर में की जाती है। दक्षिण भारत या पूर्वोत्तर भारत में इसकी कटाई फरवारी तक होती है। जब इसे बीज के लिए तैयार किया जाता है तो कटाई उस समय प्रारम्भ की जाती है जबकि फलियाँ भली-भाँति पक कर तैयार हो जाती हैं। चारे के लिए इसे फूल आते समय या फलियाँ बनते समय काटा जाता है और हरे रूप में ही पशुओ को खिला दिया जाता है। इस समय पौधों में रेशे कम होते हैं और उपयोगी खाद्य-अंश अधिक मात्रा में उपस्थित होते है। इसके हरे चारे की उपज लगभग १२५ मन प्रति एकड़ मिलती है जबकि दाना १ एकड़ में ८ से १० मन तक प्राप्त होता है। इसका चारा अन्य दाल वाली फ़सलों की अपेक्षा कम रेशे वाला, कम प्रोटीन वाला और अधिक चर्बी वाला होता है। इसमें फासफ़ोरस कम रहता है किन्तु कैलशियम का परिमाण अधिक होता है। इसे साइलेज और हेम बनाने में भी प्रयोग किया जाता है। ग्वार जब तरकारी के लिए उत्पन्न किया जाता है तो इसकी कोमल जातियाँ बोते हैं और फलियों की तोड़ाई हरी अवस्था में ही धीरे-धीरे करते जाते हैं। ये जातियाँ ग्रीष्म ऋतु और मानसून में तैयार की जाती हैं।

रिजका या लूसर्न

(Lucrme-mebicagosativa)

रिजका की फसल दाल वाली चारे की फसलों में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसका मूल स्थान दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में टर्की, फारस और अफगानिस्तान में कहीं है। भारतवर्ष में इसे बहुत दिनों से उगाया जा रहा है। यह चारे की फसलों में उगाई जाने वाली सबसे प्राचीनतम फसल है। एशिया में अभी हाल तक यह एक ही चारे की फसल रही है। इसे यूनान और इटली में बहुत दिनों से उत्पन्न किया

जा रहा है। प्लिनी के अनुसार यूनान में इसे फारस से लगभग ४७० ई० पूर्व में पहुँचाया गया। फ्रांस में इसका प्रचार १६वीं शताब्दी में हुआ। यहीं से यह १६५० ई० में इंगलैन्ड पहुँचाई गई। भारतवर्ष में इसे उत्तर-पश्चिम से लाया गया। आजकल इसे पंजाब और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में अधिकता से उत्पन्न किया जा रहा है। अन्य स्थानों पर इसे केवल राजकीय फार्मों, कृषि विद्यालयों और प्रगतिशील कृषकों द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है।

रिजका का पौधा हरा, बहुवर्षीय और लगभग २′ से ३′ की ऊँचाई का होता है। तना शाखादार होता है। ये शाखाएँ तने से भूमि के धरातल से कुछ ऊपर से निकलती हैं, इनके निकलने का स्थान क्राउन (Crown) कहलाता है। शाखाओं की संख्या जातियों पर निर्भर करती है। यह संख्या अधिक से अधिक ४० तक पाई जाती है। पत्तियाँ त्रिदलीय होती हैं, जिनमें बीज का लीफलेट छोटा डंठलयुक्त होता है। पत्तियों की इस बनावट से रिजका को क्लोवर की फसलों से सरलता पूर्वक पृथक किया जाता है। फूलों का रंग पीला, हरा या नीला होता है। इनमें स्वयं सेचन और परसेचन दोनों ही होते हैं। फलियाँ दो-तीन बार उमठी हुई होती हैं जिनमें बीज पड़े होते हैं। इनके बीज मटमैले रंग के गुदा के आकार वाले (Kidney shaped) होते हैं जबकि बरसीम के बीज पीले, चपटे तथा गोलाकार होते हैं। रिजका के बीज का छिलका अधिक सख्त होता है जिससे ये कई वर्ष तक क्रियाशील रह सकते हैं। इनका जमाव ताजे बीज की अपेक्षा दो-तीन वर्ष बाद अधिक अच्छा होता है।

रिजका नवम्बर ८ और नवम्बर ९ दो उन्नत जातियाँ पंजाब में चारा अनुसंधान केन्द्र सिरसा में तैयार की गईं। नम्बर ८ जाति अधिक फैलने वाली जाति है। इसकी पत्तियाँ नम्बर ९ की अपेक्षा अधिक चौड़ी होती है। नम्बर ९ की पत्तियाँ कुछ नीलापन लिए हुए पीले रंग की होती हैं। ये दोनों ही सभी प्रकार की भूमियों में उत्पन्न की जाती है किन्तु औसत भूमि विशेष उपयुक्त होती है। ये दोनों ८ कटाइयों में लगभग १,००० मन प्रति एकड़ हरा चारा प्रदान करती हैं। इनका चारा अधिक उपयुक्त होता है किन्तु इसके साइलेज और हे अधिक अच्छे नहीं होते।

रिजका की फसल के लिए जल-निकास-युक्त दोमट भूमि सर्वश्रेष्ठ होती है। इसे पानी जमा हो जाने वाली भूमि में कदापि नहीं उगाना चाहिए। इसके लिए अनेक प्रकार की जलवायु उचित पड़ती है। उत्तर भारत के अधिकतम और न्यूनतम

तापक्रम में भी इसकी सफल खेती की जा सकती है, किन्तु उच्चतम तापक्रम के साथ यदि आर्द्रता भी अधिक हो जाती है तो वहाँ इसकी फसल को क्षति पहुँचने का भय रहता है। ४०" से अधिक वर्षा वाले स्थान इसकी बहुवर्षीय फसल के लिए अच्छे नहीं पड़ते। पंजाब में इसकी बोआई अक्टूबर से नवम्बर के मध्य तक क्यारियों में बनी मेड़ों पर की जाती है। मेड़ों पर बोआई करने के लिए भली-भाँति तैयार खेत में २२-२८" की दूरी पर मेड़ें बनाई जाती हैं और उन्हीं पर १० पौंड प्रतिएकड़ की मात्रा में बोआई कर दी जाती है। क्यारियों में बोने पर बीज छिटकवाँ ढंग से या कतारों में बोने पर कतारें दो फीट की दूरी पर बनाई जाती हैं। क्यारियों के साथ-साथ सिंचाई की नालियाँ भी बना ली जाती हैं। छिटकवाँ विधि में १२-१६ पौंड प्रतिएकड़ बीज प्रर्याप्त होता है। उत्तर भारत में बोआई का समय सितम्बर से अक्टूबर तक है। इसे यहाँ सिंचाई के आधार पर उत्पन्न किया जाता है। कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ इसे शुष्क भूमि में भी पैदा किया जाता है, किन्तु इस भूमि के अधःतल में पर्याप्त नमी उपस्थित होती है। बोआई के शीघ्र पश्चात् पहली सिंचाई करनी चाहिए और खेत की भूमि उस समय तक नम बनाए रखना चाहिए जब तक कि अंकुर भूमि के ऊपर न आ जायँ। अंकुरो के बड़े हो जाने पर गर्मियों में दो या तीन सप्ताह के अन्तर पर सिंचाइयाँ की जाती है। जाड़ो में यह अन्तर और भी बढ़ा दिया जाता है। फसल में २० पौंड नाइट्रोजन और १०० पौंड फासफोरिक एसिड प्रयोग करने की सिफारिश की गई है। रिजका की फसल में काँस, मोथा, बथुवा आदि घास-पात उगे हुए पाए जाते हैं, अतः अच्छी उपज के लिए इन्हें दूर कर देना चाहिए।

फसल की कटाई दो- तीन महीने पश्चात् से प्रारम्भ की जाती है। पहली कटाई के पश्चात् अन्य कटाइयाँ उस समय की जाती हैं जब कि पौधों में फूल आना प्रारम्भ हो जाता है। एक वर्ष में ६-८ कटाइयाँ की जाती हैं। भारत में रिजका की फसल ४-५ वर्ष तक स्थित रक्खी जाती है। कभी-कभी इसे पशुओ द्वारा चरा भी लिया जाता है किन्तु ऐसा उसी समय होता है जबकि फसल पर रोग और कीड़ों का प्रभाव हो। इसका चारा पशुओं और भेड़ों को अधिक परिमाण में नहीं खिलाना चाहिक क्योंकि इससे टिम्पैनिटीज रोग का आक्रमण हो जाता है। लुन्डर के अनुसार (१६४६) फूल आने के पहले कटे हुए रिजका के पौधों में ३·२% पाचक प्रोटीन और १४·७% कुल पाचक भोज्य अंश उपस्थित होते हैं। इसमें कैलशियम और कैरोटीन अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। किन्तु फासफोरस की बहुत कम मात्रा उपस्थित होती है।

फसल पर जड़गलन (Rhizoctonia spp.) और रिंजका की मक्खी (Lucerne aphis) होता है ।

सेंजी

(Melilotus parviflora)

सेंजी को भारतीय क्लोवर कहा जाता है। कभी-कभी इसे विटर (Bitter) क्लोवर की संज्ञा भी दी जाती है। यह अपनी पानी की कम आवश्यकता के लिए प्रसिद्ध फसल है । इसे फलीदार फसलों में सम्मिलित किया जाता है, अतः फसल लेने के पश्चात् यह भूमि को उर्वर बना देती है। कुछ समय पहले इसे पंजाब और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में अधिक क्षेत्रफल में उत्पन्न किया जाता था किन्तु अब इसका महत्व कम होता जा रहा है और इसका स्थान बरसीम की फसल को प्राप्त होता जा रहा है। सेंजी की फसल रबी में साधारण भूमि से लेकर अधिक उर्वर भूमि मे उत्पन्न की जाती है। इसका पौधा सर्दी पसन्द करने वाला होता है और लगभग १½' की ऊँचाई तक जाता है। इसकी Fo न० १ उन्नत जाति है जिसे पंजाब में तैयार किया गया । यह जाति अधिक उपज देने वाली और समान बढ़ाव (Uniform) वाली होती है। इसकी बोआई मध्य सितम्बर से मध्य नवम्बर तक १२से१६ सेर प्रति एकड़ के हिसाब से की जाती है। इसकी बोआई के पूर्व बीज कुछ मुलायम बना लिए जाते हैं क्योंकि इनके छिलके अधिक कड़े होते हैं। बोआई प्रायः छिटकवा ढंग से की जाती है। बरसीम की भाँति इसे खड़े पानी में भी बोया जा सकता है। इसे अकेले या मिलवाँ रूप में बोते हैं। मिलवाँ रूप में जौ और जई के साथ बोया जाता है। फसल-चक्र में इसे कपास या मक्का के पश्चात् बोया जाता है और फसल लेने के बाद गेहूँ या गन्ना बो दिया जाता है। फसल चक्र में खाद देने की कोई आवश्यकता नहीं होती किन्तु बिना फसल चक्र के १½ से २ मन अमोनियम सल्फेट प्रति एकड़ प्रयोग करने से उपज अधिक मिलती है। इसका चारा अधिक स्वस्थ और भोज्य अशों से परिपूर्ण होता है। किन्तु इसे अधिक खिला देने पर ब्लोट (Bloat) नामक एक रोग हो जाता है। अतः हरा चारा अकेले न खिलाकर भूसे के साथ मिलाकर खिलाना चाहिए इसका हरा चारा पशुओ को खाली पेट कभी नहीं खिलाना चाहिए ।

मेंथी

(Menthi-Trogonella foenumgroecum)

मेंथी की फसल पंजाब में मुख्यतः चारे के लिए उत्पन्न की जाती है। इसमें सूखा सहन करने की शक्ति अन्य चारे वाली फलीदार फसलों की अपेक्षा अधिक होती है। खाद अंशों के हिसाब से यह सेंजी से अच्छी पड़ती है। मेंथी की दो जातियाँ हैं। एक अधिक ऊँची उगने वाली जिसे पशुओं के चारे के लिए पैदा किया जाता है, मेंथी के नाम से पुकारी जाती है और दूसरा बौने आकार की होती है जिसे मसालों में प्रयोग किया जाता है, मेंथी के नाम से सम्बोधित होती है। मेंथी की फसल अक्टूबर में बोई जाती है जो फरवरी से मार्च तक तैयार हो जाती है। इसे मिलवाँ रूप में गन्ने के साथ भी बोया जाता है। अकेली फसल से हरा चारा २०० से २५० मन प्रतिएकड़ प्राप्त किया जाता है।

शफ़तल(Shaftal)

(Trifolium resupinatum)

शफ़तल की फसल फारसी क्लोवर (persian clover) के नाम से पुकारी जाती है। इसका मूल स्थान मध्य एशिया बतलाया जाता है। भारतवर्ष में इसे वहीं से लाया गया। उत्तर प्रदेश में इसे चारे के लिए उत्पन्न किया जाता है। यह वार्षिक फलीदार फसलों में चराई करने योग्य एक ही चारे की फसल है जिसे सर्द और पर्वतीय भागों से लेकर मैदानों तक उगाया जाता है। इसकी बोआई २० पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से रबी में अक्टूबर के महीने में की जाती है। बोने से पूर्व अन्य क्लोवर की भाँति इसका बीज भी दल लिया जाता है या भिगो दिया जाता है। एक मौसम में इसकी एक या दो कटाइयाँ की जाती हैं। कटाई के लिए यह फसल दिसम्बर से अप्रैल तक तैयार होती है। बरसीम के आगे शफ़तल का महत्व अब धीरे-धीरे घट रहा है।

कुल्थी (Kulthi)

(Dolicho biflorus)

यह फसल हरी खाद और चारे के लिए मद्रास, बम्बई, उत्तरी बंगाल, आसाम और उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भागों तथा मैदानी भागों में उत्पन्न की जाती है। यह भारतवर्ष की मौलिक फसल है। इसका पौधा वार्षिक, शाखादार, तीन पत्तियों वाला

होता है। फूल पत्तियों के कोणों से १ से ३ की संख्या में निकलते हैं फलियाँ १½" से २" लम्बी होती है। एक फली में ५ से ६ बीज लगते हैं। इसे उत्तर भारत में हल्की बलुवार भूमि तथा दक्षिण भारत में हल्की लाल पथरीली भूमि में उगाया जाता है। उत्तर भारत में इसे खरीफ में बोया जाता है। कभी-कभी इसे रबी के पश्चात कैच क्राप (Catch crop) के रूप में उत्पन्न किया जाता है। चारे के लिए बीज की मात्रा २५ पौंड प्रति एकड़ होती है। इसकी कटाई बोआई के १ या १½ महीने पश्चात् ही प्रारम्भ कर दी जाती है। दक्षिण भारत में इसे वर्ष के किसी भी समय तैयार किया जाता है।

चारे वाली घासें

नेपियर (Napier or Elephant grass-pannisetum purpureum)

नेपियर घास हाथी घास (Elephant grass) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इसका मूल स्थान मध्य अमेरिका बतलाया जाता है। यहाँ इसे १०° उत्तरी से २०° उत्तरी अक्षांश तक जंगली रूप में उगा हुआ पाया जाता है। जम्वेसी के डेल्टाई भाग में यह नरकुल के जगल में भयंकर रूप से उगी हुई मिलती है। इस घास का नाम नेपियर के नाम पर है, जिन्होंने रोढेसिया के कृषि विभाग का ध्यान इस घास के चारे की उपयोगिता को ओर आकर्षित किया। ट्रांसवेल और रोढेसिया में इसकी खेती सर्वप्रथम १९१० में हुई। बाद में सन् १९१३ ई० में यह अमेरिका पहुँचाई गई और तत्पश्चात् इसका प्रचार आस्ट्रेलिया और अन्य देशो में हुआ। भारतवर्ष में इसे १९१२ से १९१५ तक लाया गया और अब यह आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पंजाब और उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई और मैसूर तक उत्पन्न की जाती है। नेपियर घास दोमट भूमि अधिक पसन्द करती है और गर्म तथा नम जलवायु में अच्छी उपज देती है। इसका पौधा बहुवर्षीय लम्बा ६' से १०' की ऊँचाई का होता है। इसका राइजोम रेंगने वाला दो से ४ मिलीमीटर और १·२ से २·५ सेन्टीमीटर व्यास का होता है। पत्तियाँ हरी लम्बी ३० से ६० सेन्टी मीटर की लम्बाई की होती हैं, इनका रंग हरा और हल्का पीलापन लिए होता है। लिग्यूल बालों से एक तंग आकार बनाता है जिससे इस पौधे की पहचान की जाती है। पत्तियाँ तने से निकलते समय उसे घेरती हुई निकलती हैं। फूल के गुच्छे घने और स्पाइक सीधे होते हैं, जिनकी लम्बाई ६" से १२" की होती है। बीजों का

बनना प्रारम्भ तो होता है किन्तु इनके प्रौढ़ स्थिति में पहुँचने में संदेह किया जाता है।

नेपियर वानस्पतिक ढंग से पैदा किया जाता है जिसमें बीजों के स्थान पर जड़ों का टुकड़ा (Root stock) या तने का भाग (Cutting) प्रयोग किया जाता है। साधारणता राइजोम तथा तनों के भाग कि अपेक्षा जड़ के टुकड़े अच्छी उपज देते हैं। टुकड़ों में इस बात का ध्यान दिया जाता है कि उन प्रत्येक में कम से कम दो आँखे उपस्थित हों। इन्हें भली भाँति तैयार की गई नम भूमि में गन्ने की भाँति पंक्तियों में बोते हैं। पंक्तियों की दूरी ३' और पौधों से पौधों की दूरी २' से २½' रक्खी जाती है। ये भाग भूमि में इस प्रकार लगाए जाते हैं कि इनकी एक आँख भूमि में गड़ी रहे और दूसरी भूमि से ऊपर हो इसका पूरा भाग ४६° का कोण बनाता रहे। पौधों की रोपाई के शीघ्र पश्चात् सिंचाई कर देनी चाहिए। जड़ के भागों की संख्या लगभग ५,००० पर्याप्त होती है। किन्तु यह मात्रा उस स्थिति के लिए है जब कि पौधों और पंक्तियों के बीच ५' की दूरी हो। रोपाई का उपयुक्त समय फरवरी का मध्य या इसके पश्चात् होता है। वर्षा के आधार पर इसकी रोपाई मानसून प्रारम्भ होने पर कर दी जाती है। रोपाई के तीन महीने पश्चात् फसल पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है और तत्पश्चात् प्रति ६वें-८वें सप्ताह इसकी कटाई करते जाते हैं। फसल का तैयार होना पानी की मात्रा और जलवायु पर निर्भर करता है। हरे चारे की औसत उपज ३० से ३५ टन है लेकिन उपयुक्त दशा में उत्तर प्रदेश में ५ या ६ कटाइयों से ५० टन प्रति एकड़ उपज प्राप्त की गई है। सीवेज (Sewage) की सिंचाई से बिना खाद का प्रयोग किए ही अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। मद्रास, बंगलौर तथा आसाम से इसकी प्रति एकड़ ८५ से ८७ टन उपज प्राप्त की गई है।

नेपियर घास मुख्यतः चारे के लिए उत्पन्न की जाती है १० से १५ गाड़ी गोबर की खाद या २०० पौंड अमोनियम सल्फेट बोआई के समय ही प्रयोग करने से चारे की उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। चारे के अतिरिक्त इसे साइलेज बनाने के भी काम में लाया जाता है। कागज उद्योग में इसे कागज बनाने के काम में भी लाते हैं क्योंकि बाँस की अपेक्षा इससे अच्छा कागज तैयार होता है। इसका चारा मोटा होता है और हरे मक्के, हरे ज्वार, गिनी और सूडान की तुलना में घटिया समझा जाता है।

इसमें ५% से ७% प्रोटीन होता है। कैल्शियम और फासफोरस उचित परिमाण में पाए जाते हैं।

नेपियर की फसल लगातार कई वर्षों तक फसल देती रहती है किन्तु पौधे ज्यों-ज्यों पुराने होते जाते है, इनकी उपज घटती जाती है, अतः इसे ५ से ६ वर्ष से अधिक नहीं रखना चाहिए।

गीनी (Guinea grass-Panicum maxicum)

यह घास भी नेपियर के भाँति चारे के लिए उपतपन्न की जाती है। इसका मूल स्थान अफ्रीका का उष्ण कटिबन्धीय भाग है जहाँ से यह अमेरिका के दक्षिणी भाग आस्ट्रेलिया और फिलिपाइन तक गई। भारतवर्ष में इसकी खेती का प्रारम्भ १७९३ ई० से चारा देने वाली घासों में सर्वप्रथम हुआ और आज यह देश के अनेक भागों में चारे की महत्वपूर्ण फसल हो गई है। इसे अनेक प्रकार की भूमियों और जलवायु में उत्पन्न किया जाता है। किन्तु साधारण दोमट भूमि और गर्म जलवायु, इसके लिए विशेष उपयुक्त पड़ती है। इसका पौधा सूखा सहन करने की अधिक क्षमता रखता है तथापि इसकी उत्तम उपज उसी स्थिति में ली जा सकती है जब कि भूमि में नमी को उपयुक्त मात्रा उपस्थित हो। पानी से भरी हुई भूमि और ठडी जलवायु दोनों ही फ़सल पर हानिकर प्रभाव पड़ती है। उत्तर भारत में जाड़े के दिनों में जब कि तापक्रम अधिक नीचे गिर जाता है, पौधें अपना बढ़ाव बन्द कर देते हैं। किन्तु ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ पर हो इनका बढ़ाव पुनः होने लगता है। फसल पर पाले का भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

इस घास का पौधा बहुवर्षीय ४' से ६' की ऊँचाई का होता है। नेपियर की भाँति इसमें भी पुत्तियाँ निकलती हैं और इनकी संख्या एक वर्ष में २०-३० होती है, ये पुत्तियाँ सीधी होती हैं। इनके डंठल पेन्सिल की लम्बाई से बड़े और नोपियर की अपेक्षा पतले होते हैं। इनकी गाँठों पर रोयें अधिक घने होते हैं। पत्तियाँ नेपियर की अपेक्षा कम चौड़ी और ३० सें० मी० से ७५ सें० मी० तक होती है। इनका आकार मोटा होता है। फूल के गुच्छे पैनिकिल होते हैं जिनकी लम्बाई २० सें० मी० से ५० सें० मी० तक पाई जाती है। स्पाइकलेट ३ से ·३ मिलीमीटर लम्बे होते है। इस फसल में बीज बनते है जो लगभग एक मिलीमीटर लम्बे होते हैं बीज एकसाथ नहीं पकते और जब पकते हैं तो उसी समय छिटक कर भूमि पर गिर जाते हैं, इसलिए इनका उत्पादन वानस्पतिक ढंग से किया जाता है।

गीनी घास की रोपाई के लिए जड़ के भाग या तने के भाग कलियों सहित काट लिए जाते हैं और उन्हें ३' की दूरी पर बनाई पंक्तियों में २' से २½' के अन्तर पर रोप देते हैं। रोपाई के शीघ्र पश्चात् सिंचाई कर दी जाती है। रोपाई का उपयुक्त समय वर्षा के आधार पर मानसून का प्रारम्भ और सिंचाई के आधार पर फ़रवरी का मध्य उपयुक्त पड़ता है। रोपाई के पश्चात् सिंचाई और खाद पर आवश्यक ध्यान देते रहना चाहिए। एक एकड़ में १० से १५ गाड़ी गोबर की खाद बम्बई में प्रयोग की जाती है। मद्रास में एक एकड़ में ४० गाड़ी गोबर की खाद और २० गाड़ी कम्पोस्ट तथा १०० पौंड अमोनियम सल्फेट प्रत्येक दो कटाई के पश्चात् देने की सिफारिश की गई है। सीवेज की सिंचाई में खाद की कोई आवश्यकता नहीं होती। फसल की पहली कटाई २ से २ महीने पश्चात् की जाती है और तत्पश्चात् कटाइयाँ भूमि की उर्वरा शक्ति सिंचाई और खाद के अनुसार ६ से ८ सप्ताह के अन्तर पर की जाती हैं। फसल की उपज औसत तौर पर १५ से २५ टन प्रति एकड़ मिलती है। कराँची में सीवेज की सिंचाई के आधार पर एक एकड़ में आठ कटाइयाँ करके ६० टन और उत्तर भारत में १२ कटाइयों में ५३ टन चारे की उपज प्राप्त की गई। फसल ज्यों-ज्यों पुरानी होती है, उपज उसी प्रकार घटती जाती है, अतः खेत से ५ वर्ष पश्चात् पुराने पौधे हटा देने चाहिए।

गीनी घास प्रत्येक प्रकार के पशुओ के लिए आन्नद दायक होती है। नेपियर की अपेक्षा इसका चारा अधिक स्वादिष्ट होता है और ज्वार तथा मक्के की कोटि में आता है। इसकी पत्तियाँ या तने नेपियर की भाँति प्रौढ़ होने पर भी अधिक रेशेदार नहीं होते। इसमें प्रोटीन की मात्रा ५०% से ८०% पाई जाती है। यदि इसे तीन फीट की ऊँचाई पर काटा जाय तो चारा बढ़िया मिलता है। इसका अधिक प्रयोग हरे चारे की भाँति होता हैं। कुछ स्थानों पर इसकी चराई भी की जाती हैं। चराई के अतिरिक्त इसे साइलेज और हे बनाने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

पैरा-घास (Para grass or buffalo grass-Panicum purpuriance)

यह घास भैंस घास या मारूतियस घास के नाम से भी सम्बोधित की जाती है। इसका जन्म-स्थान दक्षिणी अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका है। यह ब्राजील से विश्व के अनेक भागों आस्ट्रेलिया, फिलिपाइन, मैक्सिको, लंका और भारत में लाई गई। भारतवर्ष में सर्वप्रथम १८९४ ई० में पूना में इसका श्री गणेश हुआ। आजकल इसे आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश, बम्बई, और मैसूर में उत्पन्न किया जा रहा

है। यह घास अन्य उष्ण कटिबन्धीय भागों की भाँति ही गरम और नम जलवायु पसन्द करती है। इसके लिए सर्दी हानिकर होती है। पैरा के लिए नम और जलपूर्ण भूमि जो तालाबों, पोखरों या गड्ढों के निकट हो अधिक उपयुक्त पड़ती है। बाढ़ आने पर इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सिंचाई देते रहने पर इसे शुष्क स्थानों पर भी तैयार किया जा सकता है।

इसका पौधा बहुवर्षीय मोटे किस्म का १ से २.५ मि० मी० ऊँचा होता है। शाखाएँ ऊपर चढ़ती हुई चलती हैं। तनों की प्रत्येक गाँठो से जड़ें निकलती हैं। कल्म (Culm) खोखले, रोयेदार और चिकने होते हैं। पत्तियाँ पतली और ३० से० मी० की लम्बाई वाली होती हैं। इनमें बीज नहीं उत्पन्न होता, इसलिए इनका उत्पादन तनों के भाग से किया जाता है।

तनों के ये भाग दो-तीन गाँठ वाले लगभग १२" लम्बे होते हैं, इन्हें तैयार की गयी भूमि में २' के अन्तर पर पंक्तियों में रोप दिया जाता है। रोपाई का समय बसन्त ऋतु विशेष उपयुक्त हैं किन्तु नमी की अनुपस्थिति से इसे मानसून के प्रारम्भ होने पर रोपना चाहिए। फसल पहली कटाई के लिए लगभग तीन माह पश्चात् तैयार हो जाती है। इसके पश्चात् की काटइयाँ सिंचाई और खाद के आधार पर एक माह के अन्तर पर करते रहना चाहिए। पूना में १८९४ से १९०२ तक ८ वर्षों के प्रयोग में हरेचारे की प्रति एकड़ प्रति वर्ष १३ टन उपज प्राप्त की गई। कोयम्बटूर में ४० गाड़ी गोबर की खाद, २० गाड़ा कम्पोस्ट और १०० पौंड अमोनियम सल्फेट प्रत्येक दूसरी कटाई के पश्चात् देकर प्रति एकड़ प्रति वर्ष २५-३० टन हरे चारे की भीगी उपज प्राप्त की गई। एरे (बम्बई) दुग्धशाला में पशुशाला के पानी से सिंचाई करक १२ कटाइयों में एक एकड़ में एक वर्ष में ८० टन हरा चारा प्राप्त किया गया है। इसका चारा अधिक स्वादिष्ट होता है। इसमें ५% से ६% प्रोटीन, कैल्शियम ७६% और फासफ़ोरस ४९% पाया जाता है। फ़्लोरिडा में इसे चारे, पाश्चर (Pastuer), हे और चराई (Grazing) के लिए तैयार किया जाता है। किन्तु भारतवर्ष में इसे केवल हरे चारे के लिए हा उत्पन्न किया जाता है। उपज देने की योग्यता और नम तथा खारी भूमि में तैयार होने के कारण इसका प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है।

रोड घास

(Rhodes Grass—Chloris gayana Kunth)

यह दक्षिणी और उष्ण कटिबन्धीय अफ्रीका की मौलिक फसल है। यह स्वर्ग वासी श्री रोड (Rhodes) द्वारा केपटाउन के निकल लाई गई और वहाँ से चारे की लाभप्रद घास के रूप में विख्यात हुई। अमेरिका में इसे सन् १९०२ ई० में पहुँचाया गया और ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसी समय यह आस्ट्रेलिया और अन्य देशों में भी पहुँची। भारतवर्ष में इसका समारम्भ लगभग १९१५ ई० में बंगलौर के मिलिटरी डेयरी फार्म से होता है और वही से देश के अन्य स्थानों पर पहुँचाई गई। इसके लिए बलुवार दोमट भूमि विशेष उपयुक्त होती है यदि भूमि खारी (सलाइन) हो तो अधिक अच्छा होता है। इसे काली क्षारीय भूमि में भी सरलतापूर्वक उत्पन्न किया जाता है। कपास की काली भूमि तथा सिल्ट वाली चिकनी मिट्टी में इसकी खेती नहीं की जा सकती। भूमि में पानी का ज़मा हो जाना फसल के लिए हानिकर सिद्ध होता है। रोड घास को अधिक से अधिक तापक्रम और निम्नतम तापक्रम की जलवायु में उगाया जा सकता है। इसका पौधा बहुवर्षीय कल्म वाला और लम्बा होता है। इसका तना पोरदार होता है। पोरों की संख्या ३ से ६ तक होती है। पत्तियाँ मजबूत लम्बी लगभग १५ से ३० से० की और ३ से ५ मि० मी० चौड़ी है। फूल के गुच्छे स्पाइक होते हैं।

यह घास अन्य घासों की भाँति वानस्पतिक ढंग मे ही उत्पादित की जाती है। इसमें जड़ के भाग अधिकतर प्रयोग किये जाते हैं। ये भली भाँति तैयार भूमि में दोनों ओर से दो फीट की दूरी पर लगा दिये जाते हैं। इस प्रकार एक एकड़ में लगभग १० हजार कटिंग पर्याप्त होती हैं। कभी-कभी इसे बीजो द्वारा भी तैयार किया जाता है। बीज मानसून प्रारम्भ होने पर ५ से १० पौंड प्रति एकड़ की मात्रा में भली प्रकार तैयार बीयड़ में नमी की पर्याप्त उपस्थिति में बो दिया जाता है और ७ से १५ दिन पश्चात् जब अंकुर निकल आते हैं तो इनकी रोपाई कर दी जाती है। उन स्थानों पर जहाँ सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था हो, रोपाई किसी भी समय की जा सकती है। रोपाई के शीघ्र पश्चात् एक सिंचाई करनी चाहिए और तत्पश्चात् आश्यकतानुसार पानी देते रहना चाहिए। फसल में १० टन गोबर की खाद प्रति एकड़ के हिसाब से फसल के प्रारम्भ में ही प्रयोग करने की सिफारिश की गई। २½ मन अमो-

नियम सल्फेट और २½ मन सुपरफास का प्रभाव भी अधिक अच्छा पड़ता है। रोपाई के लगभग २ माह पश्चात् फसल पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है और बाद की कटाइयाँ एक महीने के अन्तर पर की जाती हैं। एक वर्ष में ७ से ८ कटाइयाँ करते है किन्तु कुछ स्थानों पर १२ कटाइयाँ भी की गई हैं। फसल की उपज बंगलौर में १० कटाइयों से ६७ टन (हरा चारा) प्राप्त की गई है। जब इसे बीज के लिए उत्पन्न किया जाता है तो जुलाई की कटाई के पश्चात् फसल की कोई कटाई नहीं की जाती और बीज अक्टूबर-नवम्बर तक तैयार हो जाते हैं। इनकी उपज एक एकड़ में लगभग १०० पौंड मिलती है।

इसे हरे चारे, हो साइलेज, पास्चर आदि के लिए उत्पन्न किया जाता है। इसका चारा अधिक स्वादिष्ट होता है जिसे गाय, बैल और घोड़े अधिक पसन्द करते हैं। पौधे के सूखे भाग में ५% प्रोटीन, ५% कैल्शियम और ४% फासफोरस उपस्थित होता है।

सूडान-घास (Sorghum sudanensis Stapf)

सूडान घास का पौधा ज्वार का सम्बन्धी है। यह ज्ञानसन (Johnson) घास का निकटतम सन्बन्धी है जो एक खर-पतवार (Weed) है। सूडान घास का पौधा दक्षिणी अफ्रीका में अल्जीरिया और सेनीगाल के शुष्क भागों में उगा हुआ पाया जाता है। यह मिश्र से सूडान लाया गया और वहाँ इसकी उपयोगिता का ज्ञान हुआ। भारतवर्ष में इसे सर्वप्रथम आसाम में लगभग सन् १९२० में उत्पन्न किया गया और बाद में यह फस। अन्य राज्यों में भी प्रचलित हो गई। इसके लिए नम क्षारीय भूमि उपयुक्त नहीं पड़ती है। इसे उस जलवायु में जिसमें ज्वार उत्पन्न किया जाता है, सफलतापूर्वक तैयार किया जाता है। यह सूखा सहन करने वाली फ़सल है जिसे सूखे तथा सिंचित दोनों ढंगों से तैयार किया जाता है। इसका पौधा वार्षिक लगभग २ से ३ मि० मी० लम्बा होता है। इसकी पत्तियाँ १५ से ३० से० मी० लम्बी होती है। इसे मानसून के पूर्व ग्रीष्म ऋतु में बोया जाता है। इसे बीजों द्वारा तैयार किया जाता है। बीज तैयार की गई भूमि में १६ से २४ पौंड प्रति एकड़की मात्रा में छिटकवाँ रूप से या ९ से १२″ के अन्तर पर बनी पक्तियों में बो दिये जाते हैं बोआई के २½ से ३ महीने पश्चात् फ़सल कटाई के लिए तैयार हो जाती है। बाद की कटाइयाँ १½ महीने के अन्तर पर की जाती हैं। हरे चारे की उपज चार कटाइयों में २५ से

२० टन प्राप्त की गई है। खाद और सिंचाई की उपयुक्त दशा में हरे चारे की उपज २६ टन प्रति एकड़ भी प्राप्त की गई है। जब इससे बीज तैयार किया जाता है तो उपज २५० से ४०० पौंड प्रति एकड़ प्राप्त होती है।

सूडान घास हरे चारे, साइलेज, हे और पाश्चर के लिए उत्पन्न की जाती है। चारे की उपयोगिता बढ़ाने के लिए इसे लोबिया सोयाबीन आदि फलीदार फसलों के साथ उत्पन्न करना चाहिए। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में यह ग्रीष्म ऋतु की चराई के लिए तैयार की जाती है। इसकी पत्तियाँ पशुओं द्वारा अधिक पसन्द की जाती हैं। इसमें ६% प्रोटीन और कैल्शियम तथा फासफोरस की संतुलित मात्रा उपस्थित होती है।

बल्यू पैनिक घास

(Blue panic-Panicum antidotale Retz)

यह घास घमन, बरवारी आदि अनेक स्थानीय नामों से पुकारी जाती है। यह सूखा सहन करने वाली उत्तर भारत की मौलिक जाति है जिसकी उपयोगिता सर्व प्रथम सन् १९३८ ई० में कोयम्बटूर में ज्ञात की गई और तत्पश्चात् देश के अनेक भागों में इसे चारे के लिए प्रयोग किया जाने लगा। बल्यू पैनिक का प्रचार अफगानिस्तान, लंका और आस्ट्रेलिया आदि देशों में भी है। इसका पौधा बहुवार्षिक और लम्बा होता है। इसकी गाँठें मोटी होती हैं। पत्तियाँ पतली, लम्बी और नुकीले सिरे वाली होती हैं। फूलों का गुच्छा पैनिकिल लगभग १५ से २३ से० मी० का होता है। इसे हल्की से भारी तथा उर्वर भूमि में उगाया जाता है। बलुवार नम भूमि में भी इसकी खेती होती है। इसे उन स्थानों पर अधिक सफलतापूर्वक उगाया जाता है जहाँ २५ इंच से अधिक वार्षिक वर्षा हो। यह सूखा सहन करने के साथ ही निम्नतम तापक्रम भी सहन कर लेती है और इसी लिए इसे उत्तर तथा दक्षिण भारत दोनों में ही उत्पन्न किया जाता है। इसकी बोआई वर्षा के आधार पर मानसून प्रारम्भ होने के पश्चात् और सिंचाई के आधार पर बसन्त ऋतु में तैयार किये गये बीयड़ में ४ से ६ पौंड प्रति एकड़ की मात्रा में की जाती है। निराई-गुड़ाई की सुविधा के लिए बोआई पंक्तियों में ही करनी चाहिए। फसल बोआई के लगभग ३ माह पश्चात् तैयार हो जाती है और बाद की कटाइयाँ सिंचाई तथा खाद के अनुसार १५ दिन से १ महीने के अन्तर पर की जाती हैं। हरे चारे की उपज वर्षा के आधार पर प्रतिवर्ष ४ से ६

कटाइयाँ कर के १५ टन प्रति एकड़ और सीवज़ की सिंचाई से ५० टन प्रति एकड़ प्राप्त की गई हैं। इसे हरे चारे, हे और चराई के लिए तैयार किया जाता है। हरे चारे के लिए इसकी कटाई पौधों की कोमल अवस्था में ही करना चाहिए क्योंकि बाद में चारा कड़ा और अरुचिकर हो जाता है। बल्यू पैनिक में ७.५% प्रोटीन और कैल्शियम तथा फासफोरस प्रत्येक .६०% पाए जाते है।

जैन्ट स्टार घास

(Giant Star grass-Cynodon plectostachyon Pilger)

यह घास पूर्वी अफ्रीका से सन् १६३८ में प्राप्त की गई । भारतवर्ष में सन् १६४० में कोयम्बटूर में इसकी उपयोगिता का ज्ञान हुआ और तभी से इसका यहाँ प्रचार बढ़ा। इसका पौधा बहुवर्षीय होता है। इसमें रनर (runner) काफी संख्या में निकलते हैं जो एक जाले का आकार बना लेते हैं। यह आकार कभी-कभी ५० फीट की लम्बाई का हो जाता है। इनका बढ़ाव कभी-कभी ३-४ इंच पाया जाता है। यह घास लगभग सभी प्रकार की भूमियों में उत्पन्न की जा सकती है। मैदानी और पर्वतीय भागों में जहाँ वार्षिक वर्षा २० इंच तक होती है, इसकी सफल खेती की जाती है। शुष्क स्थानों पर इसे सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था होने पर ही उगाया जा सकता है।

जैन्ट स्टार जड़ या तने के भाग या बीज द्वारा पैदा किया जाता है किन्तु बीजों की बोआई अधिक प्रचलित नहीं है। इसके टुकड़े भली-भाँति तैयार खेत में १½′ की दूरी पर लगा दिये जाते हैं। वर्षा के आधार पर इनकी रोपाई मानसून के प्रारम्भ में की जाती है किन्तु सिंचाई द्वारा इसे वर्ष के किसी समय रोपा जा सकता है। रोपाई के लगभग २½ माह पश्चात् पहली कटाई की जाती है और तत्पश्चात् अन्य कटाइयाँ २ महीने के पश्चात् करते रहना चाहिए। हरे चारे की उपज शुष्क स्थानों पर तीन-चार कटाइयो से लगभग १५ टन प्रति एकड़ प्राप्त की जाती है। अल्मोड़ा में हरे चारे की प्रति एकड़ उपज २५ टन से भी अधिक प्राप्त की गई है। जैन्ट स्टार को प्रायः चराई के लिए ही तैयार किया जाता है किन्तु इसका प्रयोग हरे चारे या हे के लिए भी कम नहीं है। इसमें १०% प्रोटीन .८% कैल्शियम और .५% फासफोरस उपस्थित होते हैं। रासायनिक विशलेषण द्वारा ज्ञात किया गया है कि इसमें हाइड्रोसियानिक की कुछ मात्रा भी उपस्थित रहती है किन्तु यह मात्रा नगण्य है और आयु के अनुसार घटती जाती है।

मारवेल घास

(Marvel grass-Dichantium annulatum stapf)

मारवेल घास का मूल स्थान भारतवर्ष ही है। सन् १६१५ ई० में यह टेकसाज के एंगलीटन अनुसंधान केन्द्र पर पहुँचाई गई और तभी इसकी उपयोगियता का ज्ञान हुआ। बहुवर्षीय गुच्छे वाली घास है जिसके तने राइजोम रूप में रेंगते हुए चलते हैं। इसकी पत्तियाँ लम्बी और रोयेदार होती हैं। गुच्छा रेशीम होता है जिसकी लम्बाई २·५ से ७ से० मी० तक पाई पाई जाती है। इसे भारी भूमि से लेकर बलुवार-दोमट भूमि और जल निकासयुक्त उर्वर भूमि में उत्पन्न किया जाता है। इसे रनर द्वारा पैदा किया जाता है। मारवेल उपयुक्त घासों की तुलना में घटिया किस्म की घास हैं। इसे हरे चारे तथा हे के लिए तैयार किया जाता है।

अंजन (Pennisetum ciliare and Chenchrus cilliaris L)

यह घास भी भारत की मौलिक घास है। इसका पौधा बहुवर्षीय गुच्छा और कल्म वाला होता है। इसकी पत्तियाँ पतली और लम्बी होती हैं। इसका गुच्छा रेसीम लगभग २·५ से१० से० मी० लम्बा होता है। इसका चारा अधिक स्वादिष्ट होता है। फूल आने के पूर्व इसमें अधिक खाद्-अंश पाये जाते हैं, अतः इसे पशुओ को इसी दशा में खिलाना चाहिए।

वीपिंग लव (Weeping love grass-Eragrostis curvula)

यह घनी, गुच्छेदार, सोधी और लम्बी घास है। पत्तियाँ लम्बी और नुकीले सिरे वाली होती है। शाखाएँ अकेले निकलती हैं और निकलने वाले स्थान पर रोयें पाये जाते हैं। इसे अन्य घासों की ही भाँति तैयार किया जाता है। चारा अधिक स्वादिष्ट नहीं होता। यह भूमि-क्षरण रोकने में तथा भूमि की नमी स्थिर रखने में अधिक सहायता देती है।

बरमुडा, दूब या हरियाली (Cynodon dactylon)

यह घास लगभग प्रत्येक फसल में घास-पात के रूप में उगा हुई पायी जाती है। इसे यहाँ चारे के काम में अधिकांशतः लाया जाता है। इसका मूल स्थान भारतवर्ष ही है। इसे यहीं से अमेरिका पहुँचाया गया जहाँ इसे बरमुडा के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह घास बीज या जड़ों के टुकड़ों से उत्पादित की जाती है। इसके लिए उर्वर बलुवार दोमट भूमि विशेष उपयुक्त पड़ती है। परन्तु इसे छाये या

पानी जमा होने वाले स्थान पर नहीं उगाया जाता। यह घास बहुवर्षीय है और किसी भी समय में बोई या रोपी जा सकती है। इससे हरा चारा प्राप्त किया जाता है या पशुओं द्वारा चरा लिया जाता है।

जई (Oat-Avena sativa)

जई की फसल चारे तथा दाने के लिये उत्पन्न की जाती है। इसका मूल स्थान पश्चिमी रूमसागरीय प्रदेश है जिसमें अफ्रीका का माउन्ट एटलस तथा पायरेनीज भाग सम्मिलित होते हैं। इन्हीं स्थानों से यह विश्व से अनेक भागों तक फैल गई। भारतवर्ष में इसे केवल चारे के लिए ही उत्पन्न किया जाता है। इसका क्षेत्र अभी सर-कारी फार्मों, विद्यालयों या अनुसाधन केन्द्रों तक ही सीमित है। विदेशों में इसे संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत रूस, जर्मनी, फ्रांस, पोलैन्ड, कनाडा आदि देशों में पैदा किया जाता है। भारत में इसकी खेती पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में होती है। जई क्रोमोसोम की संख्या के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है— प्रथम वर्ग में डिप्लायड (Diployid) है जिसमें क्रोमोसोम संख्या १४ है, दूसरा वर्ग टेट्राप्लायड है जिसमें क्रोमोसोम २८ होते हैं और तीसरा वर्ग हेक्साप्लायड है जिसमें क्रोमोसोम की संख्या ४२ होती है। अवेना स्टीरिलिस (Avena stirilis) और अवेना सटाइवा (Avena sativa) ४२ क्रोमोसोम वाली किस्में हैं। अवेना सटा-इवा प्रचलित जई है जो जंगली जाति अवेना फटुआ (Avena fatua) से उत्पन्न मानी जाती है। किन्तु भारतवर्ष में उगायी जाने वाली जई की जाति बोस और पूसा के अनुसार अवेना बाईजैन्टिना (A. byzantina) है, अवेना सटाइवा नहीं। जई की अनेक उन्नत जातियाँ तैयार की गई हैं, जिनमें एन० पी० १, एन० २७, अलजी-रियन १६ और बुन्कर अधिक प्रसिद्ध हैं।

जई का पौधा जौ और गेहूँ से मिलता-जुलता एक वार्षिक पौधा है, जो घास के कुल से सम्बन्ध रखता है। इसका तना जौ और गेहूँ की अपेक्षा लम्बा और अधिक कोमल होता है। इसमें पुत्तियाँ अधिक परिमाण में निकलती हैं। पत्तियाँ चौड़ी और जौ तथा गेहूँ की अपेक्षा अधिक संख्या में निकलती हैं। जौ और गेहूँ से पृथक करने में अरिकिल अधिक साथ देता है जो जई में अनुपस्थित रहता है। फूल का गुच्छा पैनिकिल होता है जिसमें अनेक शाखायें निकलती हैं। फूलों में स्वयंसेचन ही प्रायः होता है किन्तु कभी-कभी परसेचन भी पाया जाता है।

जई को रबी में उत्पन्न किया जाता है। इस पर निम्नतम तापक्रम और पाला का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उच्चतम तापक्रम और शुष्क मौसम का पड़ता है। इसे उन सभी भूमियों में पैदा किया जा सकता है जिसमें गेहूँ और जौ की खेती होती है। भूमि में जल-निकास का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। यदि फसल अच्छी लेनी हो तो भूमि को उर्वर बनाने के लिए जीवांश तक कैल्शियम की उपयुक्त मात्रा प्रयोग करनी चाहिए।

जई की खेती के लिए खेत की तैयारी उसी प्रकार की जाती है जैसे गेहूँ या जौ की। तैयारी कर लेने के पश्चात् इसे अक्टूबर के मध्य से लेकर नवम्बर के प्रथम सप्ताह तक बो दिया जाता है। देर की बोआई नवम्बर के अन्तिम सप्ताह तक की जाती है। धान की फसल काटकर भी इसे बोया जा सकता है। बोआई छिटकवाँ ढग से या कतारो में की जाती है। दाने के लिये बोने पर कतारे १२" से १५" और चारे के लिए १२" की दूरी पर बनाई जाती है। बीज की मात्रा दाने के लिए २५ से ३० सेर और चारे के लिए ३५ से ५० सेर यथेष्ट समझी जाती है। बोआई के पश्चात् आवश्यकतानुसार खाद, सिंचाई या गुड़ाई कर देने से उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। चारे के लिए १०० से १०५ मन कम्पोस्ट एक मन अमोनियम सल्फेट के साथ मिलाकर दो खूराकों में देने की सिफारिश की गई है। भूमि में फासफोरस की कमी होने पर ½ किलोवाट सुपरफासफेट दे देना चाहिए। दाने के लिए २ किलोवाट अमोनियम सल्फेट और एक किलोवाट सुपर फासफेट दिया जाना चाहिए। दाने वाली फसल ५ से ५½ महीने पश्चात् तैयार होती है। किन्तु चारे के लिए इसकी कटाई बोआई के लगभग दो माह पश्चात् से प्रारम्भ कर दी जाती है। हरे चारे की प्रति एकड़ उपज १५० से २५० मन मिलती है। साधारण अवस्था में यह उपज केवल ७० से ८० मन ही प्राप्त होती है। पाकिस्तान में उपयुक्त खाद और सिंचाइयाँ दे कर ३०० मन प्रति एकड़ हरा चारा पाया गया है।

परिशिष्ट

१९५६-५७ के समस्त भारत संघ की फसलों के अनुमान का संक्षिप्तिकरण

फसलें	क्षेत्रफल हजार एकड़ में		उत्पादन (हज़ार टन में)	
	५६-५७	५५-५६	५६-५७	५५-५६
दाने की फ़सलें				
धान	७८,१७४	७६,८६४	२८,१४२	२६,८४६
ज्वार	४१,३१४	४२,६०४	७,४२७	६,६०२
बाजरा	२७,५४२	२४,०२४	२,६२६	३,३७६
मक्का	६,२४४	६,११६	३,०२०	२,५५४
महुवा (रागी)	५,६७४	५,६६३	१,६१४	१,८२०
स्माल मिलेट (Small millate)	१२,२०६	१२,७१३	२,०१०	१,६३७
गेहूँ	३२,८६१	३०,३८६	६,०६८	८,५६६
जौ	८,५६४	८,३८२	२,७४४	२,७४६
योग	२१५,६४२	२१४,०८२	५७,२५१	५४,२५६
दालें				
चना	२३,६६०	२४,१५७	५,६३०	५,३३१
अरहर और खरीफ की अन्य दाले	५,६७६	५,६३७	२,०४७	१,८३०
रबी की अन्य दालें	१६,१६६	१५,५६७	१,६६४	१,६३२
योग	५७,२६५	५७,०६४	११,४२५	१०,४३१
दाने और दालों का योग	२७२,६३७	२७१,१४६	६४,६८६	६५,२८७
तिलहन की फसले				
मूंगफली	१३,१०१	१२,६६२	४,०८६	३,८६२
तिल	५,४३३	५,६५३	४५१	४५७
सरसों और रेप (Rape)	६,२११	६,३१७	१,०१७	८४८

फसलें	क्षेत्रफल	हजार एकड़ में	उत्पादन	(हजार टन में)
	५६-५७	५५-५६	५६-५७	५५-५६
अलसी	३,७५८	३,७८१	३४६	४१४
रेंड़ी या अरण्डी	१,४०३	१,४०५	१२६	१२४
योग	२६,६०६	२६,८४८	६०३२	५,७०५
रेशे वाली फसलें			⊙	⊙
कपास	१६,८४३	१६,६७८	४,७२३	४,००१
जूट	१,८८३		४,२२१	४,१६७
मेस्ता	७३८	५७२	१,४७४	१,१५६
कैश क्राप (Cash crops) गन्ना	५,०१६	४,५६४	६६,८६ ⊙	⊙ ५६,३१७
आलू	५७३	५६०	——	——
तम्बाकू	१,००७	६६७	३००	२८७

* गिरी की मात्रा

⊙ गाँठों में (३६२ पौंड = एक गाँठ)

⊙ उत्पादन गन्ने में यदि इन्हें कच्ची चीनी या गुड़ में लिया जाय तो १९५६-५७ के लिए ६,७४५ और १९५५-५६ के लिए ५,६४२ हजार होगा।

भारतवर्ष में गेहूँ का अन्तिम अनुमान (१६५५-५६ तथा १६५६-५७)

(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१६५६-५७	१६५५-५६	१६५६-५७	१६५५-५६
आन्ध्र प्रदेश	५८	५४	५	६
आसाम	७	७	१	१
बिहार	१,८२२	१,४६८	१५३	६५७
मध्य प्रदेश	७,४४८	६,६४७	१,६०७	१,५४१
मद्रास	४	४	१	१
उड़ीसा	१३	१३	३	३
पंजाब	५,१४०	४,६६६	२,११४	१,७५१
उत्तर प्रदेश	६,६६१	६,६६५	३,१२६	३,०४१
पश्चिमी बंगाल	२०६	१६३	२७	४५
जम्मू काश्मीर	३२८	३०४	८३	८१
मैसूर	७२७	७१६	६३	६४
राजस्थान	३,२७६	२,४०३	१,१६०	६०७
दिल्ली	७४	७०	१२	१३
हिमाचलप्रदेश	३२६	३१६	१००	८७
योग	३२,८६१	३०,३८६	६,०६८	८,५६६

भारतवर्ष में जौ का अन्तिम अनुमान (१६५६-५७—१६५५५६)

(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१६५६-५७	१६५५-५६	१६५६-५७	१६५५-५६
आन्ध्र प्रदेश	६	६	२	२
बिहार	८७२	८७७	८६	२०१
बम्बई	३७	३८	८	६
मध्य प्रदेश	४४६	४५३	१३५	११७
मद्रास	१	१	आ	आ
पंजाब	५३४	४६७	१६२	१७३

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
उड़ीसा	१	१	अ	अ
उत्तरप्रदेश	४,६१८	४,८६६	१,५४४	१,६०२
पश्चिमी बंगाल	१७७	११३	३०	३०
जम्मू काश्मीर	५६	५८	१४	१७
राजस्थान	१,४४५	१,३७२	७१०	५८०
दिल्ली	१२	१२	१	१
हिमाचलप्रदेश	७८	७८	१५	१५
योग	८,५६४	४,३८२	२.७४४	२,७४६

अ = ५०० टन से कम

जौ आसाम, केरला, मनीपुर, त्रिपुरा, अण्डमन और निकोबार में नहीं उगाया जाता।

भारतवर्ष में चने का अनुमान (१९५६-५७—१९५५-५६)

(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५६-५७	१९५५ ५६
आन्ध्रप्रदेश	३०९	३२२	३६	४२
आसाम	५	५	१	१
बिहार	१,२१०	१,२२५	१०२	२०६
मध्यप्रदेश	३,७१५	३,६६८	९६६	८०५
मद्रास	५	४	१	१
उड़ीसा	५७	५७	६	६
पंजाब	६,१९४	६,३१०	१,९५४	१,६६६
उत्तरप्रदेश	६,१८३	५,७१५	१,५१५	१,४४३
पश्चिमीबंगाल	४३२	४७४	१०७	१३०
जम्मू काश्मीर	१२	८	३	२
राजस्थान	३,७८१	३,२८७	९६१	७०७
दिल्ली	७३	८३	३	२
हिमाचल प्रदेश	१७	१८	२	३
योग	२,३९९०	२४,१५७	५,९३०	५.३३१

भारतवर्ष में सरसों और रेप (Rape) का अनुमान (१९५६-५७)

(राज्यों के आधार पर)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन हजार टन में	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्र प्रदेश	२	३	५०० से नीचे	५०० से नीचे
आसाम	२८६	२८०	५६	५१
बिहार	१५३	१७९	१६	२१
बम्बई	७१	७२	१५	१ ५
जम्मू-काश्मीर	५६	५६	१३	१ ३
मध्यप्रदेश	३५३	३५६	५२	५९
मद्रास	२	२	५०० से नीचे	५०० से नीचे
मैसूर	९	९	१	१
उड़ीसा	१२७	१२७	२१	२१
पञ्जाब	७०७	६६२	१११	१०५
राजस्थान	६३५	६१९	१०६	९७
उत्तर प्रदेश अकेले	३५७	४००	५८	४६
मिश्रण	३,४२०	३,२९३	५३९	३८०
योग	३५९७	३६९७	५९७	४२६
दिल्ली	४	२	५०० से नीचे	५०० से नीचे
पश्चिमी बंगाल	१९१	२३७	२६	३६
हिमालय प्रदेश	८	९	२	१
त्रिपुरा	१०	१०	२	२
योग	६,३११	६,३१७	१०,१७	८४८

भारतवर्ष में अलसी का अनुमान (१९५६ ५७)

(राज्यों के अनुसार)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्र प्रदेश	७५	७८	६	५
आसाम	२	२	५०० से नीचे	५०० से नीचे
बिहार	२१९	२५३	२०	२७
बम्बई	५९२	५४९	५४	४८
जम्मू-काश्मीर	३०	३०	६	६
मध्यप्रदेश	१,४४०	१,४२०	१०३	१३२
मद्रास	५०० से नीचे	५०० से नीचे	५०० से नीचे	५०० से नीचे
मैसूर	१२५	११८	८	७
उड़ीसा	३५	३५	३	३
पञ्जाब	२९	२८	२	३
राजस्थान	३७३	२९४	४४	४४
उत्तर प्रदेश-अकेले	१६७	१५६	२२	२३
मिश्रण	५५३	७२५	७४	१०५
योग	७१७	८८१	९६	१२८
पश्चिमी बंगाल	११९	९१	७	२१
हिमालय प्रदेश	२	२	५००से कम	५०० से कम

(भारतवर्ष में स्माल मिलेट का अनुमान (१९५६-५७)
(स्माल मिलेट में साँवा, कोदो, चेना, मडुआ, और काकुन सम्मिलित होती हैं)
(राज्यों के अनुसार)

राज्य		क्षेत्रफल हजार एकड़ में		उत्पादन हजार टन में	
		१९५७-५६	१९५५-५६	१९५७-५६	१९५५ ५६
आन्ध्र प्रदेश	खरीफ	२१५९	२१७४	३२९	३०६
	रबी	२१३	२१३	३८	३५
	योग	२३७२	२३८७	३६७	३४१
आसाम	खरीफ	७	७	१	१
बिहार	खरीफ	६०४	७८६	१०२	१२४
बम्बई	खरीफ	९७०	१०१६	२२८	२३९
	रबी	९५	८३	२५	२२
	योग	१०६५	१,०९९	५३	२६१
मध्य प्रदेश	खरीफ	३,५०७	३,७२२	३८३	२७९
	रबी	१४	१२	१	१
	योग	३५२१	३,७३४	३८४	२८०
मद्रास	खरीफ	११३३	११००	३६०	३३६
	रबी	३०५	३१०	८३	८५
	योग	१४३८	१,४१०	४४३	४१९
उड़ीसा	खरीफ	१११	१११	१२	१२
पञ्जाब	खरीफ	४०	४०	४	४
उत्तर प्रदेश	खरीफ कोदो	९६८	९३३	१६२	१२६
	काकुन	२७	२१	३	२
	साँवा	४१८	४४९	६३	४०
	अन्न	१२	७	१	१
	योग	१४२५	१,४१०	२२८	१६९
	रबी चेना	६६	६६	१९	१९
	योग	१,४९१	१,४७६	२४७	१८८
पच्चिमी बंगाल	खरीफ	३२५	२४	४	४
	रबी	१५	१५	४	४
	योग	४०	३९	३	३

राज्य		क्षेत्रफल हजार एकड़ में		उत्पादन हजार टन में	
		१९५७-५६	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
जम्मू काश्मीर	खरीफ	१७	२०	५	५
मैसूर	खरीफ	१,२४३	१३३३	१४२	१५५
राजस्थान	खरीफ	१८१	१८८	३२९	२६
	रबी	५	५	१	१
	योग	१८६	१९३	३०	२७
केरल	खरीफ	१०	१०	२	२
हिमालय प्रदेश	खरीफ	६४	६५	११	११
भारत का योग	खरीफ	११,४९६	१२,००९	१,८४०	१,७७१
	रबी	७१३	७०४	१७०	१९६
कुल योग		१२,२०९	१२,७१३	२०१०	१९६७

भारतवर्ष में गन्ने का अनुमान (१९५६ ५७)

(राज्यों के अनुसार)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)			
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७		१९५५-५६	
			गन्ना	गुड़	गन्ना	गुड़
आन्ध्रप्रदेश	१७५	१७५	५,०७६	५०७	५,१५६	५१६
आसाम	६३	६४	६६६	६७	६६२	६२
बिहार	४०५	३७८	४,०९९	४१०	२,९१९	२९२
मध्यप्रदेश	१०६	१००	१,२८९	१२९	१,१५०	११५
बम्बई	२४४	२१७	५,९६७	६२१	५,[illegible]२४	५५३
जम्मूकाश्मीर	३	३	९	१	९	१
केरल	१९	१८	३५३	३५	३३१	३३
मद्रास	१२९	१२१	३,४१०	३७३	३,११२	३४१
मैसूर	१२३	११७	३,०९४	३०९	२,८९७	२९०

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में		उत्पादन (हजार टन में)			
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७		१९५५-५६	
			गन्ना	गुड़	गन्ना	गुड
उड़ीसा	५६	५६	६१८	६२	६१८	६२
पंजाब	४८७	४५२	५,३८५	५३९	५.५६५	५५६
राजस्थान	८२	६५	५७२	५७	४५३	४५
उत्तरप्रदेश	३,०५०	२,७२०	३४,७८६	३,४७८	३९,४००	२९४०
पश्चिमीबंगाल	५७	६२	१,११०	१११	१,२९३	१२९
दिल्ली	१०	७	७०	७	५०	५
हिमाचलप्रदेश	३	३	१८	२	१६	२
त्रिपुरा	७	६	७३	१	६३	५
योग	५,०१९	४,५६४	६६,८९०	६,७४५	५९,३१७	५,६८२

भारतवर्ष में चने और अरहर के अतिरिक्त रबी की दालों का अन्तिम अनुमान

(१९५६-५७)

(राज्य और जातियों के अनुसार)

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्र प्रदेश				
उर्द	६	५	१	५०० से कम
मूँग	५७	४७	३	३
कुलथी	२५५	२०८	१५	..
अन्य	९९	९७	७	६
योग	३७७	३५७	५६	२२

राज्य और जातियाँ		क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
		१६५६-५७	१६५५-५६	१६५६-५७	१६५५-५६
आसाम					
	उर्द	६७	६७	५	१५
	मूंग	३२	३२	१	५
	मसूर	६	६	३	१
	मटर	१७	१७	३	३
	खेसारी	१७	१७४	२७	३
	योग	१७२	१७४	२७०	२७
बिहारी		२,०६२	२,२६८	७	४३७
बम्बई					
	उर्द	७४	७६	७	७
	मूंग	१६	१८	२	२
	मसूर	१८	१८	२	४
	कुल्थी	६	६	१	१
	मटर	६	६	१	१
	खेसारी	४१३	४२२	५०	५१
	अन्य	१४०	१११	१७	२३
	योग	७२०	६६६	८४	८१
केरल		५२	५३	८	८
मध्य प्रदेश					
	उर्द	५३५	५६६	५१	५४
	मूंग मोंथ	१५७	१५४	१४	१३
	मसूर	४३८	४३६	६०	७५
	कुल्थी	१४	१३	२	२
	खेसारी	१,४०६	१,४२२	१४२	१७१
	मटर	२३२	२३४	२८	३०
	अन्य	५०० से कम	५०० से कम	५००	३४५
	योग	२,७८२	२,८५८	२६८	
उड़ीसा		६३२	६३७	२०३	२१४
पञ्जाब					
	मसूर	१३०	१०१	२७	२१

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार टन में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
मटर	१९	१२	१	२
अन्न	१३	१०	१	१
अन्य	१६२	१२३	२९	२४
उत्तर प्रदेश				
मसूर	२९३	२५३	६२	५५
मटर	२,१४६	१,९३२	५६०	५१९
योय	२,५३९	२,२८५	६२२	५७४
मैसूर				१
उर्द	६	९	९१	१०
मूंग	७४	७५	१०	
कुल्थी	४५२	४७६	४५	४८
मसूर	७	६	१	१
अन्य	१७७	१७८	२२	२२
योग	७१६	७४४	७९	८२
पश्चिमी बंगाल			३९	८७
उर्द	२४४	४००		
मूंग	२३	३८	३	५
मसूर	२४५	२६३	२९	४५
मटर	२९	४७	५	८
खेसारी	३५५	३७८	६४	७०
अन्य	३	३	१	१
योग	९०५	१,१३८	१४२	२१७
राजस्थान				
मसूर	२०	१९	३	३
मटर	५	६	१	२
मूंग	५०० से कम	१	५०० से कम	५०० से कम
योग	२५	२६	४	५
दिल्ली	९	७	२	१०
हिमाचल प्रदेश				
मसूर	३	३	५०० से कम	५०० से कम

मटर	१	१	५०० से कम	५०० से कम
अन्य	२	१	१	
योग	६	५	१	१
त्रिपुरा		१		
उर्द	१	१	५०० से कम	५०० से कम
अन्य	२		१	१
सम्पूर्ण भारत में				
उर्द	९६३	१,१८४	११४	१६४
मूंग	३५२	३६५	३७	३८
मसूर	१,२६१	१,२२२	१८५	२०५
मटर	२,४५८	२,२५८	५९९	५६५
कुल्थी	७२८	७३४	६८	६७
खेसारी	२,१९१	२,२४१	२६०	२९५
अन्य	३,४९०	३६९९	५३१	७०४
योग	११,४४३	११,७०३	१७९४	२,०३३

भारतवर्ष में कपास का अन्तिम अनुमान (१९५६-५७)

राज्य	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)		उत्पादन (हजार गाँठ में)	
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्रप्रदेश	१,००५	१,०३१	१३५	१३१
आसाम	३५	३८	९	९
बिहार	७	११	१	२
बम्बई	१०,८३३	१०,८५८	२,१७६	१,९२१
केरल	२२	२२	१०	१०
मध्यप्रदेश	२,१८५	२,४२५	६५३	४०३
मद्रास	१,२०४	१,१६०	३५८	३३५
मैसूर	२,४०३	२,३८८	३५८	३६३
उड़ीसा	२३	२४	२	२
पंजाब	१,४१५	१,२५३	८००	६०५
राजस्थान	५४२	६०४	१६७	१८४
उत्तरप्रदेश	१४७	१४१	४६	२६
पश्चिमी बंगाल	५०० एकड़ से कम	५०० एकड़ से कम	५०० गाँठ से कम	५०० गाँठ से कम
दिल्ली	१	१	”	”
हिमाचल प्रदेश	१	१	”	”
त्रिपुरा	२०	२१	८	७

भरातवर्ष में तम्बाकू का तृतीय अनुमान (१९५६-५७)

राज्यों और जातियों के अनुसार

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)			
	१९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
आन्ध्रप्रदेश				
निकाशियना रस्टिका	२	२	१	१
निकाशियना टैबेकम बर्जिनिया	१९५	२०२	५६	६०
(ii) अन्य	१९३	१९१	७०	६७
योग	३९०	३९५	१३०	१२८
डण्ठल और तने	”	”	१२२	१००
आसाम				
नि० टेबैकम	२३	२३	७	७
बिहार नि० रस्टिका	२०	१५	५	३
नि० टेबैकम	१९	१४	४	३
योग	३९	२९	९	६
बम्बई नि० रस्टिका	१	१	५००सेकम	५००सेकम
नि० टेबैकम	१४५	२४५	६४	६०
योग	२४६	२४६	६४	६०
केरल नि० टेबैकम	१	१	१	१
मध्यप्रदेश नि० टेबैकम	१६	१६	४	४
मद्रास नि० रस्टिका	३५	५१	२१	२९
नि० टेबैकम (i) वर्जिनिया	६	६	१	२
(ii) अन्य	२८	१०	१५	५
योग	६९	६७	३८	३६
डण्ठल और तने	”	”	३	३
उड़ीसा नि० टेबैकम	२१	११	३	३
पंजाब नि० रस्टिका	१	२	१	५००सेकम
नि० टेबैकम (i) बर्जिनिया	१	२	५००सेकम	”
(ii) अन्य	५	३	१	१
योग	७	७	२	१

राज्य और जातियाँ	क्षेत्रफल (हजार एकड़ में) १९५६-५७	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५५-५६
उत्तरप्रदेश डण्ठल और तने	”	”	२	१
नि० रस्टिका	१८	१८	५	५
नि० टेबैकम	८	६	३	२
योग	२६	२४	८	७
पश्चिमबंगाल नि० रस्टिका	२३	२४	६	७
नि० टेबैकम (i) वर्जिनिया	५०० सेकम	५०० सेकम	५०० सेकम	५०० सेकम
(ii) अन्य	१६	१६	४	५
योग	३९	४०	१०	११
मैसूर नि० रस्टिका	२	५०० सेकम	१	५०० सेकम
नि० टेबैकम (i) बर्जिनिया	१	१	१	”
(ii) अन्य	१०७	१०७	१६	१७
योग	११०	१०८	१८	१७
राजस्थान नि० टेबैकम	१७	१७	५	४
दिल्ली ”	६	६	१	१
हिमाचलप्रदेश ”	२	२	५०० सेकम	५०० सेकम
त्रिपुरा नि० रस्टिका	१	१	५०० सेकम	५०० सेकम
नि० टेबैकम	१	१	”	”
योग	२	२	”	”
कुल योग नि० रास्टिक	१०३	११४	४०	४५
नि० बैटेकम	९०४	८८३	२६०	२४२
	१००७	९९७	३००	२८७
डण्ठल और तने	×	×	११७	११४